डा० अम्बेडकर की न्याय की अवधारणा

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

पी०एच०डी०

(राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

2002

निर्देशक :

डा० रिपूसूदन सिंह

वरिष्ठ प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान

दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर

महाविद्यालय, उरई जिला जालौन

शोधछात्रा :

कु० रीता सिंह

एम0 ए0 (राजनीति विज्ञान)

CERTIFICATE

It is certified that the thesis entitled "डा0 अम्बेडकर की न्याय की अवधारणा" is being submitted by **Miss. Rita Singh** for the award of Ph.D. in Political Science of Bundelkhand University Jhansi (U.P.) . This is a record of Candidates work carried under my supervision and guidence . She has worked under me for the period, required under ordinance (More than 200 days) .

It is also to certify that this is her original work and has never been submitted for the award of any degree in any University .

30.12.02

(Dr. Ripusudan Singh)
Senior Lecturer
D.V.C. Orai (Jalaun) U.P.

प्राक्कथन

डा0 अम्बेडकर भारत के अद्वितीय राजनीतिक चिन्तक, अर्थशास्त्री और महान समाज–सुधारक थे । भारत के संविधान निर्माता के निर्माता के रूप में ही उनका योगदान अद्वितीय है लेकिन वह केवल एक कानूनी व्याख्याकार ही नही थें बल्कि उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था । समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान, मानव–शास्त्र एंव तुलनात्मक धर्म–शास्त्र अध्ययन में उनका योगदान अविस्मरणीय है । एक संसदीय नेता, शिक्षा–शास्त्री, पत्रकार और इस सबसे बढ़कर भारत के करोड़ों दबे–कुचले लोगों के मानव अधिकारों के लिए संघर्षशील समाज सुधारक के रूप में उनकी भूमिका इतिहास के पन्नों पर सदैव अद्वितीय रहेगी । उन्होनें दलित समुदाय की गरिमा, सामाजिक सुधार और धार्मिक उन्नति को प्रमुखता प्रदान की, जो मानव स्थिति में सदैव प्रासंगिक है ।

डा0 अम्बेडकर हिन्दू समाज के सभी अन्यायपूर्ण और दमनकारी स्वरूपों के विरूद्ध विद्रोह के प्रतीक मात्र नहीं थे, अपितु उन्होंने भारतीय समाज में उभर रहीं नवचेतना तथा बहुजन जागृति के एक उद्धारक के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया । शोषितों, दलितों और पिछड़ों के उद्धार हेतु उन्होंने जीवन–भर जो संघर्ष किया, अनेक अवरोधक तत्वों का सामना किया, उससे उन्हें सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय एवं अत्याचार से पीड़ित मानवता के हिमायती और उद्धारक के सजीव मार्ग–दर्शक के रूप में व्यापक मान्यता प्राप्त हुई ।

डा0 अम्बेडकर की न्याय दर्शन पूर्णतः मानवतावादी है । स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व इसके मूल्य हैं जो वर्णाधारित हिन्दू समाज से जातिगत भेदभाव, छुआछूत, अन्धविश्वास एवं पूवाग्रही विकृत मूल्यों को समाप्त कर एक न्याय–युक्त सामाजिक, आर्थिक एंव राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का आदर्श प्रस्तुत करती है । यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि डा0 अम्बेडकर की न्याय अवधारणा मानव के सर्वांगीण के उत्थान की हिमायती है । डा0 अम्बेडकर का सम्पूर्ण चिन्तन मानव केन्द्रित है । मनुष्य और समाज का हित ही इसमें सर्वोपरि है ।

डा0 अम्बेडकर की न्याय की अवधारणा केवल सैद्धान्तिक नहीं है अपितु जीवन की एक व्यवहारिक योजना है । इस पर आधारित इन्होंने जो न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए जो प्रयास किये वह परिणाममय युगान्तकारी है । अतएव प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में तुलनात्मक विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक पद्धति द्वारा डा0 अम्बेडकर की समग्र न्याय की अवधारणा एवं उसके व्यवहारिक जीवन में

प्रयोगों की प्रासंगिकता एंव सार्थकता सामयिक सन्दर्भ में अध्ययन का प्रयास किया गया है । साथ ही समतापूर्ण समाज के निर्माण में उनके योगदान का निष्पक्षता से मूल्यांकन का भी प्रयास किया गया है ।

अतः प्रस्तुत शोध डा0 अम्बेडकर के न्याय दर्शन को समाविष्ट करने की दिशा में एक छोटा प्रयास है । जिसका सर्वोपरि लक्ष्य स्वस्थ मानवीय सभ्यता के निर्माण के सन्दर्भ में उनके न्याय दर्शन के महत्व एंव औचित्य का विश्लेषण करना है ।

आभार प्रदर्शन

मैं डा0 रिपूसूदन सिंह जी जो कि स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं से ही मेरे लिए असीम प्रेरणा के स्त्रोत रहे हैं का सहृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिनके कुशल निर्देशन में मैंने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध तैयार किया । शोध प्रबन्ध के निर्माण में उनके मूल्यवान निर्देश, उपयोगी सुझाव, तार्किक पद्धति एवं प्रेरणादायी प्रोत्साहन के कारण अभियोजित अध्ययन पूर्ण हो सका । इसी संदर्भ में आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मीना सिंह की हृदय से आभारी हूँ, जिनके मृदुल व्यवहार एवं सृजनात्मक सहयोग से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सहायता हुई है ।

मैं डा0 जयदयाल सक्सेना (सेवानिवृत्त) वरिष्ठ प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र विभाग दयानन्द वैदिक महाविद्यालय उरई की आभारी हूँ जिन्होंने अपना महत्वपूर्ण समय निकाल कर शोध प्रबन्ध सम्पादन में मार्गदर्शन किया है । मैं डाक्टर राजेन्द्र पुरवार, डा0 जयश्री पुरवार एवं डा0 आदित्य कुमार की विशेष आभारी हूँ जिनके रचनात्मक सुझावों, सहयोग एवं मार्गदर्शन से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने का प्रयास कर सकी हूँ । मैं श्री के0 पी0 सिंह, सम्पादक, दैनिक अग्निचरण (समाचार पत्र) का सहृदय आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने शोध से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी एवं अध्ययन सामग्री प्रदान की ।

मैं अपने पूज्यनीय पिताजी श्री धर्मनाथ सिंह एवं माताजी श्रीमती कौशल्या देवी की कोटि–कोटि वंदना करती हूँ जिनके स्नेह .... आर्शीवाद एवं सतत् प्रेरणा से यह प्रयास पूर्ण हो सका है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इन्हीं के स्नेहाशीष का प्रतिफल हैं । शोध प्रबन्ध को मूर्त रूप देने में, मैं अपनी बहिन डा0 सुनीता सिंह की विशेष आभारी हूँ जिनके तार्किक सुझावों, रचनात्मक सहयोग एवं महत्वपूर्ण जानकारी से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की सफल परिणति संभव हो सकी है । मैं इनके उज्जवल भविष्य की आकांक्षी हूँ । अपने आदरणीय जीजाजी डा0 के0 वी0 सिंह, दीदी गीता सिंह, जीजाजी राजेश सिंह, दीदी गायत्री सिंह, जीजाजी विजेन्द्र सिंह, दीदी अनीता सिंह की विशेष आभारी हूँ जिन्होंने रचनात्मक सहयोग एंव प्रोत्साहन प्रदान किया । मैं अपने भाई श्री रवीन्द्र सिंह, सत्येन्द्र सिंह, शैलेन्द्र सिंह एवं पारिवारिक सदस्य उमेश मिश्रा एवं दीपक गौतम जिनके सक्रिय सहयोग एवं प्रोत्साहन के आभाव में प्रस्तुत अध्ययन की सफल परिणति मेरे लिए असंभव थी ।

30-12-2002

रीता सिंह

अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं0

पृष्ठ सं0

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में दयानन्द वैदिक कॉलेज पुस्तकालय, उरई के पुस्तकालय अध्यक्ष श्री हृदयकांत श्रीवास्तव जी की विशेष ऋणी हूँ जिन्होंने शोध सम्बन्धी आवश्यक सामग्री प्रदान करने में आत्मीय भाव से महत्वपूर्ण सहयोग दिया । अन्त में, मै0 अनस कम्प्यूटर्स, उरई की आभारी हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम एवं निष्ठा से शोध प्रबन्ध कम्प्यूटरीकृत किया है ।

दिनांक .... (रीता सिंह)

प्रस्तावना

प्रस्तावना

व्यक्ति का जन्म उसके वश की बात नहीं है । उसके पैदा होते ही जाति, वंश और धर्म उससे जुड़ जाते हैं । इनसे उनकी मुक्ति नहीं हैं । परन्तु धर्म ही उसके जीवन को बनाता बिगाड़ता है । काम करने की योग्यता, उसका कर्म या तो उसे अपयश की खाई में गिराता है या फिर उसे ख्याति के उच्च शिखर पर पहुँचाने का सौभाग्य प्रदान करता है । संसार के महापुरूषों के चरित्रों का अध्ययन करते समय यह बात हमारे ध्यान में अवश्य आती है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से महान नहीं होता । यह महानता उसे अपने जीवन में त्याग और परिश्रम की भारी पूँजी लगाकर प्राप्त करनी होती है । इसलिए महाभारत में, कर्ण के मुख से जो उक्ति कहलाई गई है । वह अत्यन्त उपयुक्त है –

"सूतो वा सूत्रपुत्रों वा योवा कोवा भवाम्यऽहम ।
दैवायान्तं कुले जन्म मदायन्त तु पौरूषम् ।। [1]

अर्थात् मैं सूत (सारथी) होऊँ या सूत्र पुत्र या उससे भी नीच किसी भी कुल में जन्म देना विधाता का कार्य है, परन्तु पैदा होकर पौरूष करना मनुष्य का कार्य है ।

कर्ण को राधेय कहकर, सूत पुत्र विश्लेषण से सम्बोधित कर अपमानित किया जाता था । किन्तु उसे भले ही कितना भी हीन घोषित कर दिया गया हो, उसमें कर्ण का क्या दोष है ? कर्ण को इसका बोध था । इसलिए जब भी दानशीलता और पुरूषार्थ की पराकाष्ठा की उपमा देनी होती हो तो कर्ण को ही याद किया जाता है ।

इस संदर्भ में रूस और अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों के उदाहरण जीवंत हैं । अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन और रूस के सर्वेसर्वा स्टालिन दोनों ही साधारण परिवार में जन्में थे । दोनों ने ही जन–जीवन में जो क्रांति की, उसकी कोई मिसाल नहीं है । लिंकन ने उत्तरी और दक्षिणी भागों को एकता के सूत्र में बांधकर सर्वप्रथम काले–गोरे का भेद समाप्त किया । स्टालिन ने व्यक्ति स्वातन्त्रय का विरोधकर राज्य में समाज सन्तावादी अर्थव्यवस्था को समाप्त किया ।

डा0 अम्बेडकर एक अछूत समुदाय में, जो छिन्न–भिन्न समाज के लिए सत्ता एवं

---

1. बसन्तमून – डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 1

अभिशाप था पैदा हुये थे, फिर भी उन्होंने इस देश के जन–जीवन में जो क्रांति पैदा की, उसकी कोई मिसाल नहीं है। उसे अद्वितीय ही कहना होगा । वह अपने युग की परिस्थितियों की यशकाय प्रस्तुति हैं । उनका युग दलितों की नारकीय पीड़ा का युग था । उस समय दलित एवं अछूत वर्ग हाशिये की जिन्दगी जी रहा था । तत्कालीन परिस्थितियों में डा0 अम्बेडकर का समाज गुलामी सा जीवन जीने को विवश था । "अपमान, अनादर, और घोर भेदभाव ने उनके इस निश्चय को बल प्रदान किया कि उन्हें अपने लोगों को सामाजिक दासता की बेड़ी से मुक्त कराना है ।"[1] वे समाज की सार्वजनिक मुक्ति में स्वयं की मुक्ति मानते थे । जिसके लिए उन्होंने समानता और सामाजिक न्याय पर आधारित प्रजातांत्रिक प्रणाली को श्रेष्ठ माना । उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक एंव धार्मिक जीवन में युगानुकूल स्वस्थ एवं प्रतिगामी विचारधारा को अपनाने की दृष्टि प्रदान की । उनका मानना था कि लोकतांत्रिक व्यवस्था से ही सामाजिक समानता आ सकती है किन्तु हिन्दुस्तान में जहाँ एक बड़ी संख्या को अछूत समझा जाता है, लोकतांत्रिक मूल्य बेमानी हो जाते हैं ।[2] वह देश के कल्याण के लिए राजनीतिक परिवर्तन से अधिक महत्व सामाजिक परिवर्तन को देते थे । उन्होंने इस देश में, जन–जन में निर्माण किये गये भेदों को मिटाकर समान अधिकारों को स्थापित करने वाला संविधान प्रदान किया और ढाई हजार बरसों के बाद पहली बार प्रजातन्त्र के मूल्यों की नींव डाली ।

डा0 अम्बेडकर भारतीय संविधान के शिल्पी ही नहीं थे, वे आधुनिक भारत के निर्माताओं में से भी थे । बहु–आयामी व्यक्तित्व के धनी डा0 अम्बेडकर एक साथ ही विचारक, लेखक, वक्ता, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक, विधिवेत्ता, शिक्षक और संसदज्ञ थे । उनकी सबसे बड़ी देन है – भारतीय संविधान का निर्भीक विश्लेषण, सामाजिक कुरीतियों का उद्‌घाटन, दलितों का उद्धार, संविधान की रचना, सामाजिक लोकतन्त्र का आख्यान और सहज मानव के रूप में मानव की गरिमा का जयगान । डा0 अम्बेडकर की दृष्टि में – महापुरूष वह है जो समाज के दुर्गुणों को दूर करने के लिए दिन–रात पूरी लगन से जुटा रहता है । इस दृष्टि से अम्बेडकर सचमुच महापुरूष थे ।[3]

---

1. थामस मैथ्यू, सावंतराम, अशोक भारती – क्रांतिप्रतीक अम्बेडकर, पृष्ठ – 4
2. एच0एल0 पाण्डेय – गाँधी, नेहरू, टैगोर एंव अम्बेडकर, पृष्ठ – 133
3. विश्व प्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता – भीमराव अम्बेडकर – व्यक्ति और विचार

भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता तथा अछूतों के नेता डा0 भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 में महु (पहले मध्यभारत, अब महाराष्ट्र) में महार परिवार में हुआ था ।"[1]

उनका पैतृक स्थान महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के मडणगढ़ तहसील में एक छोटे से ग्राम अम्बावोड है । इनके दादा मालोजी सकपाल सेना के हवलदार और पिता रामजी सकपाल सूबेदार मेजर थे । इनकी माता भीमाबाई सरल स्वभाव की थी । महार जाति का सामाजिक दरजा महाराष्ट्र में नीचे है । इनको समाज में परम्परागत निम्न श्रेणी के कार्य सौंपे गये थे, जैसे मरी उठाना और गाँव वालों की बेगार करना । अम्बेडकर के दौर पर गौर करने पर इस बात पर सबसे ज्यादा आश्चर्य होता है कि उन विषम परिस्थितियों में यह व्यक्ति इतना शिक्षित कैसे हो पाया । विद्यार्थी जीवन में कटु परिस्थितियों से जूझना पड़ा । 'जाति–पाति' के कारण उन्हें लड़कों से अलग बैठना पड़ता था । अपनी टाट–पट्टी साथ ले जाना पड़ता था .... एक बार भीमराव को तेज प्यास लगी, उन्होंने चपरासी तथा अन्य लड़कों से पानी पिलाने की माँग की लेकिन किसी ने उन्हें पानी नहीं पिलाया । बालक भीमराव ने अधीर होकर स्वयं लोटा उठाया और पानी पिया । कुछ क्षणों में हाहाकार मच गया कि भीमराव ने लोटा–बाल्टी अपवित्र कर दिया ।"[2] पराजय, निराशा, निर्धनता, अज्ञान, संकीर्णता, कूपमंडूकता, धार्मिक जड़ता और पुरोहितवाद के चंगुल में फंसे, कर्मकाण्ड में उलझे समाज में निम्न जातियों को अछूत बनाकर सामाजिक स्तर पर इन्सानी दर्जा ही छीन लिया था ।

उल्लेखनीय है कि इन विषम परिस्थितियों में वे महार जाति ही नहीं सम्भवतः तमाम अछूतों बीच मैट्रीकुलेट थे और विदेश में पढ़ने वाले पहले दलित । सयाजीराव गायकवाड (बड़ौदा के राजा) की छात्रवृत्ति पाकर 1913 में उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय न्यूयार्क में प्रवेश लिया।[3] साथ ही उन्हें एक इकरारनामे पर भी दस्तखत करना पड़ा । "अमेरिका में अपना समय विद्यालय में ही लगाऊँगा और अध्ययन पूर्ण होने पर बड़ौदा रियासत में दस वर्ष नौकरी करूँगा।"[4]

1916 में उन्हें सैनिक सचिव का पद लेना पड़ा किन्तु अम्बेडकर को जीवन की

---

1. अशोक कुमार 'अम्बेडकर और मार्क्स' (लेख) उद्यृत हरिजन से दलित सम्पादक राजकिशोर पृष्ठ – 125
2. डा0 अँगनेलाल 'बाबा अम्बेडकर जीवन और दर्शन' पृष्ठ – 6, 7
3. पूर्वोक्त पृष्ठ – 14
4. पूर्वोक्त पृष्ठ – 14

वास्तविकताओं ने रूला दिया । शिक्षित समुदाय पाखण्डी था । एक अछूत के लिए कहीं कोई किराये पर कमरा यहाँ तक कि होटल तक में मिलना असम्भव था । अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते, बिल्ली छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि किसी अछूत का स्पर्श हो जाये तो पाप लग जाता था ।[1] अतएव दासता की मनोवृत्ति से उबरने के लिए, पाखण्ड को उघाड़ने के लिए, सामाजिक अन्याय और आततायी स्थिति के विरूद्ध लड़ने के लिए उन्होंने नौकरी को त्यागकर समाज सुधार को व्रत लिया । डा0 अम्बेडकर जातिभेद तथा अस्पृश्यता के जनक वर्ण भेद का खात्मा करना चाहते थे ।

डा0 अम्बेडकर पर इतिहास ने एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी डाल रखी थी । अतएव उन्हें जड़ीभूत भारतीय समाज की जड़ता के स्त्रोतों की तलाश करनी थी और उसमें नये पंख उगाने थे । इसके लिए उनके अध्ययन का केन्द्र बनी भारतीय ब्राह्मणशाही को उन्होंने ठीक चिन्हित किया कि "ब्राह्मणवाद विरोध का सारतत्व है जाति भेद का उन्मूलन ।"[2] अतएव डा0 अम्बेडकर ने हिन्दूसमाज की इस अन्यायपूर्ण अर्न्तव्यवस्था का गहराई से अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि भारतीय विचार पद्धति में बुनियादी परिवर्तन हो और धर्म की कट्टरपंथी तथा सनातनी परिभाषा की, कल्याण एवं उत्थान की दृष्टि से समीक्षा की जाये ।

डा0 अम्बेडकर का समग्र अनुचिन्तन और व्यवहार शोषण के विरूद्ध और नव–मूल्यवादी नैतिक संस्थापनाओं के लिए था । उनका इस संदर्भ में जो नजरिया था, वह हर समाज की बेहतरी और सुसंस्कृतता के लिए हर युग में काम आने वाला है, क्योंकि उन्होंने जीवन–मूल्यों की व्याख्या की है । फलतः वे मानवतावादी समाज की संरचना के पक्षपाती है, जिसमें शोषण चक्रव्यूह की दुर्गन्ध नहीं मिलती हो । डा0 अम्बेडकर समानता और सामाजिक न्याय का विस्तार मनुष्यों के बौद्धिक स्तर को उन्नत करने और एक नये गतिशील समाज की रचना के लिए प्राणार्पण के कटिबद्ध थे ।

डा0 अम्बेडकर का न्याय दर्शन समानता स्वतन्त्रता, बन्धुता पर आधारित आदर्श समाज की निर्मिति का दर्शन है जो पारम्परिक व्यवस्था के सामाजिक परिवर्तन में अपनी अहम्

---

1. ओम प्रकाश वाल्मीकि – एक दलित की आत्मकथा पृष्ठ – 17

2. अशोक कुमार "अम्बेडकर और मार्क्स" पृष्ठ 133

भूमिका का निर्वाह करना है । उनका न्याय दर्शन सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए व्यक्ति को शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष और प्रज्ञा, करूणा एवं शील के विचार और व्यवहार से आंतरिक एवं बाह्य संघर्ष के लिए तैयार करना है । उनका उद्देश्य सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर जीवन की अन्तर्विरोधी स्थिति का अन्वेषण करना और इन अन्तर्विरोध के कारणों का पता लगाना अपनी सार्थक अभिव्यक्ति के माध्यम से उन्होंने परिवर्तनकारी चेतना को विकसित किया है और सामाजिक न्याय पर आधारित समाज की सरंचना की कल्पना को आकार देने का हर सम्भव प्रयास किया ।

"डा0 अम्बेडकर प्रणीत न्याय दर्शन जहाँ एक ओर चातुर्वर्ण्य समाज की व्यवस्था की अन्याय–मूल्य सारिणी की असारता सिद्ध करता है वहीं उसके खिलाफ आक्रोश, निषेध और विद्रोह की मशाल जलाता है । डा0 अम्बेडकर ने दलित जाति में विद्रोह के साथ स्वाभिमान एवं अधिकारों का अहसास जगाया । शिक्षा और सफाई का सन्देश देकर अपनी स्वतन्त्र अष्मिता बनाये रखने की चेतावनी दी । इस सबका परिणाम था कि समानता पर आघृत मानवोन्मुखी दलित क्रांति की प्रक्रिया शुरू हुई । हिन्दू धर्म का त्याग और बौद्ध धर्म का स्वीकार .... एक ऐसा परिवर्तनोन्मुखी सांस्कृतिक कदम था जिसका तात्कालिक प्रयोजन वर्ण विरोध और अन्तिम लक्ष्य मानव मुक्ति था । इसलिए डा0 अम्बेडकर की न्याय व्यवस्था की अवधारणा में जहाँ समता, बन्धुता, न्याय और स्वतन्त्रता की व्यापक मूल्य चेतना निहित थी वही प्रज्ञा, शील और करूणा जैसे मूल्यों पर अधिष्ठित नव समाज निमिर्ति की रचनात्मक दृष्टि भी थी ।"[1]

आगे डा0 अम्बेडकर का जीवन–संघर्ष एवं जीवन–दर्शन दलित जन–साधारण समाज की मुक्ति, सामाजिक सम्मान एंव मानवतावादी विचारों के अनुरूप वर्ण एवं वर्गविहीन समाज की संरचना का है जो सम्पूर्ण मानव समाज के लिए है । संविधान शिल्पी डा0 अम्बेडकर के सपने का भारतीय समाज स्वतन्त्रत्रता, समानता, बन्धुता एवं न्याय पर आधारित समाज है जिसमें प्रत्येक भारतीय को समान अवसर की सुलभता का प्रावधान है । इसलिए प्रजातांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज में शोषित तबका मात्र वर्ण या जाति या सम्प्रदाय से ही जुड़ा हुआ है वह प्रथमतः एक मत (वोट) के समान अधिकार के कारण केवल भारतीय नागरिक है और उसका

---

1. डा0 भगवानदास वर्मा के लेख 'दलित, साहित्य, प्रकृति और प्रेरणा' (संघर्ष, परिवर्तन और साहित्य ....सम्पादक देवेन्द्र इस्सर, नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ 76–77

समाज भारतीय नागरिकता का समाज है ।

डा0 अम्बेडकर कहा करते थे कि, "चातुर्वर्ण्य न केवल श्रम का विभाजन है अपितु श्रमिकों का भी विभाजन है और इसलिए वर्गविहीन अर्थात् जाँत–पाँत विरहित समाज संरचना के लिए संघर्ष किया जाये इसलिए प्रारम्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि उच्च जातियों की अनुकम्पा, दया या सहानुभूति तथा सामंजस्यपूर्ण सक्रिय सहयोग की प्रतीक्षा न करते हुये निचली समस्त जातियों को दलित जन–साधारण समाज के रूप में संगठित होना पड़ेगा और भीतरी–बाहरी दोनों ही मोर्चों पर संघर्ष करते हुये वर्गवाद–वर्णवाद के उच्चाटन की प्रक्रिया को तेज करते हुये 'मनुष्यता' की स्थापना का अन्तिम आग्रह करना होगा ।"[1]

"डा0 अम्बेडकर के महत्वपूर्ण ग्रन्थों में राष्ट्र, समाज एवं व्यक्ति के बारे में कई गहन सिद्धान्त पाये जाते हैं । उन्होंने अपनी वाणी और लेखों से भारत में राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में क्रांति लाई है । अस्पृश्यता, जातीयता एवं विषमता के विरूद्ध संग्राम किया है । समता, बन्धुता एवं मानवता के रक्षणार्थ अपना पांडित्य, अपनी बुद्धिमता और कर्तव्यपरायणता का परिचय दिया है । अपनी असीम राष्ट्रभक्ति, समाजसेवा एवं उच्चकोटि की साहित्य साधना से मानवता के उपासक के रूप में अपना स्थान बनाया है । उन्होंने हमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय प्रदान किया है । हमें विचार, अभिव्यक्ति, अविश्वास और श्रद्धा की स्वाधीनता दी है । भारत के हर नागरिक को अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का अधिकार दिया है ।

डा0 अम्बेडकर ने राष्ट्ररूपी माला को बन्धुता एवं एकता के धागे में पिरोया है । हमे समान हक, समान न्याय एवं समान अवसर प्रदान कर जन–कल्याणकारी लोकतन्त्र प्रणाली प्रदान कर समूचे राष्ट्र को विश्व के श्रेष्ठतम लोकतान्त्रिक राष्ट्रों की तालिका में स्थान दिया है।"[2] डा0 अम्बेडकर एक ऐसे समाज के स्वप्न दृष्टा थे जिसमें समानता, स्वतन्त्रता और भातृत्व का सामंजस्य हो। इंग्लैण्ड और अमेरिका में ज्ञानार्जन करके व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण के साथ उन्होंने वह मार्ग खोज निकाला जिस पर चलने से वह अपने समाज को सवर्ण हिन्दुओं के चंगुल से छुटकारा दिला सकते थे । उन्हें ब्राह्मणवाद से लोहा लेना था और इसके लिए उन्हें सवर्ण

---

1. डा0 पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी – दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, प्रकाशन – 1997, पृष्ठ – 16
2. डा0 अनिल गजमिये – (भीम स्मृति, 17वें अखिल भारतीय अस्मिता दर्शन साहित्य सम्मेलन, इन्दौर, म0प्र0, पृष्ठ–19

हिन्दुओं के विरूद्ध सामाजिक लड़ाई लड़नी पड़ी । डा० अम्बेडकर विचार और व्यवहार से संतुलन बनाकर चलने वालों में से थे । उनकी गतिशीलता के सिद्धान्तों का आधार यही था कि संसार में कुछ भी जड़ नहीं है, कुछ भी शाश्वत नहीं और कुछ भी सनातन नहीं । हर चीज परिवर्तनशील है। परिवर्तन मानव और समाज का धर्म है । उनका कथन था मानव की पीड़ाओं में सामाजिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है । उनका आदर्श ऐसे समाज की रचना करना था जो समता, स्वतन्त्रता और भातृत्व पर निर्भर हो । एक आदर्श समाज में अनेक वर्ग विद्यमान रहे और एक दूसरे के हितों को समझें और सहयोग करें । समाज को समस्यायें उलझानी नहीं, सुलझानी चाहिये । इसके लिए वे सामाजिक चेतना पर जोर देते थे जिसमें वे सभी अधिकारों को, चाहे वे मौलिक हो या सामाजिक, संरक्षक मानते थे। उनका कहना था कि सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक स्थायित्व विभिन्न वर्गों के बीच लचीलेपन और बराबरी के अधिकार पर आधारित होता है। वे स्थायित्व के महत्व को मानते थे किन्तु परिवर्तन की बलि चढ़ाकर नहीं, जबकि परिवर्तन आवश्यक हो। समन्वय जरूर हो परन्तु इसके लिये सामाजिक न्याय का गला नहीं घोंट दिया जाना चाहिये। सामाजिक स्थायित्व से उनका आशय भारतीय समाज में पनपी जाति प्रथा के निषेध से है।

डा. अम्बेडकर चाहते थे कि सदियों से शोषित तथा दलित जन साधारण के साथ न सिर्फ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आधार पर समानता का बर्ताव किया जाये बल्कि उन्हें तब तक विशेषाधिकार भी दिये जाये जब तक राष्ट्रव्यापी समानता का लक्ष्य प्राप्त न हो जाये। चूँकि उन्होंने स्वयं सामाजिक, आर्थिक अयोग्यता तथा अपयश का कड़वा घूँट पिया था इसलिये उन्होंने दलितों के सम्पूर्ण वंचन तथा अयोग्यताओं का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया। उन्होंने दलितों के लिये आर्थिक समानता तथा वास्तविक राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने हेतु एक वैकल्पिक रणनीति का अवलम्बन किया। इसके अन्तर्गत उन्होंने कृषि के सामुदायिकीकरण तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रयास किया और एक दलित प्रधान राजनैतिक दल का गठन भी किया। उन्होंने दलित समाज में जन्म लेकर जाति तथा पंथ का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये तर्कसंगत ढ़ग से उसकी अनुपयोगिता साबित की तथा दलित एवं वंचित वर्ग के सम्मान और न्याय के लिये संघर्ष किया। उनका विचार था कि सीमित राजनैतिक अधिकार लोकतंत्र का आधार नहीं तैयार कर सकते बल्कि मेल–मिलाप तथा स्वस्थ नैतिक सिद्धान्त ही लोकतंत्र के

मुख्य तत्व हो सकते है। स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, विवेक, मानवीय अनुभव, कानूनी प्रशासन का प्रभाव, नैसर्गिक अधिकारों को सम्मान तथा सामाजिक सम्बन्धों के तहत प्रत्येक व्यक्ति इसके बल पर ही मिलकर वास्तव में एक लोकतांत्रिक समाज का निर्माण कर सकते है।

यह भी ध्यातव्य है कि भारत में ब्राह्मणवादी – सामन्ती व्यवस्था से 'प्रवृत्ति मूलक पारतन्त्रय' और 'विवेक मूलक स्वातंत्रय' की अस्मिता का प्रतिफलन हुआ है जिन्हें समकालीन सन्दर्भ में सामाजिक यथार्थ और नैतिक आदर्श कहा गया है। इसी तथाकथित विश्व दृष्टि ने दलित जनसाधारण को बहिष्कृत और तिरस्कृत किया गया 'वादे–वादे जायते तत्वबोधः' की मान्यता के उपरान्त भी परम्परागत व्यवस्था के 'स्व' के सन्दर्भ में ही स्वतंत्रता, समानता, बन्धुता, न्याय को स्वीकार करके भी 'पर' की दृष्टि से परतंत्रता, असमानता, भेदभाव, अन्याय की अतीतजीवी जड़ अवधारणा को देश की स्वतंत्रता और जनतंत्री सत्ता व्यवस्था में भी बनाये रखने की हठधर्मिता को यथावत रखा और आज भी आक्रमणकारी एवं आतंकवादी मुद्रा बनाये हुये है। इसी अभिजात्य – सामन्त की पोषक दृष्टि और सृजन के विरूद्ध विद्रोह का एक सोपान है डा. अम्बेडकर की न्याय धारणा का लोकशक्ति की चेतना से उद्धेलित, रचनात्मक आन्दोलन, जिसके अन्तर्गत अनुपयोगी अंश को हटाकर वैज्ञानिक चिन्तन की नवीन परिस्थितियों में अपने को संशोधित कर सदैव गतिशील रखने की प्रतिबद्धता भी है । इस प्रकार डा. अम्बेडकर ने नागरिकों के मानस को नये चिन्तन की मशाल से आलोकित करने का दायित्व भलीभाँति निभाया। वस्तुतः उन्होंने अपने दर्शन को ईश्वर, ब्रह्म, दिव्यता, वर्ण, जाति, वेद, वेदान्त, गीता आदि से अलग रखकर सीधे आदमी और उसकी सामाजिक स्थिति से जोड़ा जो नयी सभ्यता और संस्कृति की ओर स्पष्ट संकेत है । उनके विचार में, वेद तथा वेदान्त एक भ्रांतिपूर्ण जीवन दर्शन है जो आज के बदलते मूल्य और बदलती कार्य पद्धति से मेल नहीं खाती। यह भ्रांतिपूर्ण जीवन दर्शन ही अच्छे स्तर से निम्न जीवन जीने का, सामाजिक दल–दल में फंसने का, शैक्षणिक पिछड़ेपन और आर्थिक विपन्नता का सीधा कारण है। इसी तथ्य को डा. अम्बेडकर ने पहचाना और निर्भीक होकर भारतीय स्थिति में उसे अवैज्ञानिक और अमानुषिक व्यवस्था की संज्ञा दी।

समस्त मानव प्राणियों की एकता तथा समानता, सभी स्त्री–पुरुष की समान प्रतिष्ठा, कमजोर एवं निम्न जाति के लोगों के प्रति निष्ठा, पारस्परिक प्रेम की भावना, सामाजिक सद्भाव की प्रचुरता, धार्मिक सहिष्णुता एवं समत्व भाव, अन्य नागरिकों की गरिमा जातिगत भेदभावों का

अन्त, सभी नागरिकों को शिक्षा तथा सम्पत्ति का अधिकार, मैत्रीभाव, शुभ संकल्प कुछ ऐसे तत्व है जो डा. अम्बेडकर की न्याय धारणा का निर्माण करते है और जिसमें उनकी अटूट आस्था थी तथा संविधान के नीति निर्देशक–तत्वों और मौलिक अधिकारों के द्वारा वह उसे साकार रूप देना चाहते थे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डा. अम्बेडकर का समस्त चिन्तन न्याय के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उसका न्यायवादी दर्शन मात्र विचारों का संग्रह नहीं है। उसमें सक्रियता अन्तर्निहित है। विचार तथा क्रिया का यह विलक्षण संगम ही भारत के पद्दलित अग्नि की उष्णता के समान स्वरूपतः सर्वदा उपलब्ध होता है। यही कारण है कि आज उनके न्याय दर्शन की अभिव्यक्ति उन पद्दलित, कमजोर और पिछड़े वर्गो के विविध प्रबल आन्दोलनों द्वारा हो रही है जो न्याय और समतापूर्ण समाज की स्थापना के लिये सक्रिय है । साथ ही सदियों से शास्त्र और शस्त्र के बल पर इस समूहित दलित बहुजन जनसाधारण को शोषण, उत्पीड़न, अपमान एवं यथास्थिति जड़ता की स्थिति में रखने वाले ब्राह्मणी–सामन्ती समाज को बुद्धजीवियों में भी चेतना और स्फूर्ति का संचार कर सामाजिक परिवर्तन के लिये परिवेश के द्वार पर दस्तक देने हेतु सार्थक पहल के लिये प्रेरित करने का कार्य भी कर रहा है । उनकी सक्रियता ही डा. अम्बेडकर के समाज क्रिया के दर्शन की अनवरत यात्रा को सम्भव बना रही है। लेकिन इस यात्रा का मार्ग इतना आसान नहीं है जितना कि कुछ लोग समझते है। यह मार्ग निश्चय ही बड़ा दुर्गम है। उसमें आने वाले उन अवरोधों को हटाना है जो शताब्दियों से धर्म, संस्कृति तथा परम्परा के नाम से निहित स्वार्थी तत्वों ने स्थापित कर रखे है फिर भी यदि वे संकल्पित हो और अपनी सामाजिक मुक्ति को सम्भव बनाना चाहे तो डा. अम्बेडकर के मूल्याधारित दर्शन का अनुकरण ही उन्हें सफल बना सकता है। उनके द्वारा खींची गयी समाज की रूपरेखा हमें न्याय तक पहुँचाने में मार्गदर्शक का काम करेगी। अतः डा. अम्बेडकर की यह न्याय अवधारणा सम्पूर्ण भारत और उनके सभी नागरिकों के लिये एक नया सन्दर्भ, एक नया अर्थ प्रदान करती है जो यहाँ के प्रजातंत्र धर्मनिरपेक्ष स्वरूप और राष्ट्रीय एकात्मकता की दृष्टि से पूर्णतः प्रासंगिक है।

द्वितीय अध्याय

न्याय की सैद्धान्तिक अवधारणा

न्याय की सैद्धान्तिक अवधारणा

न्याय प्राचीनकाल से ही राजनीति दर्शन, कानून और मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण बुनियादी अवधारणा है जिस पर सामाजिक चिन्तन के प्रारम्भ से ही विचार होता रहा है। पाश्चात्य और पूर्वात्य दोनों राजनीतिक दर्शनों में न्याय की धारणा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वस्तुतः 'न्याय' स्थिर विचार नहीं है अतएव समय एवं परिस्थितियोनुकूल इसमें आधुनिक काल तक आते–आते कई मौलिक परिवर्तन हुये। अतएव जहाँ परम्परागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत मुख्यतः 'न्यायपूर्ण व्यक्ति' (Just man) के स्वरूप पर विचार किया जाताा था। इसमें उन सद्‌गुणों की तलाश की जाती थी जो व्यक्ति को न्यायपरायण बना देते है। यह दृष्टिकोण एक बनी बनाई व्यवस्था को बनाये रखने के लिये सर्वथा उपयुक्त था। अतः तब न्याय की मुख्य समस्या यह थी कि समाज व्यक्ति से क्या चाहता है ? परन्तु आधुनिक युग में – विशेषतः समाजवादी चिन्तन की प्रेरणा से यह सोचा जाता है कि 'न्यायपूर्ण समाज' (Just Society) कैसा होना चाहिये ? इसका ध्येय बनी बनाई व्यवस्था का बनाये रखना नहीं है, बल्कि आधुनिक चेतना के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का मुख्य सरोकार व्यक्ति के चरित्र एवं नैतिकता से था, वहाँ आधुनिक दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार सामाजिक न्याय से है। सामाजिक न्याय की संकल्पना, स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता के आदर्शो में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न है।

न्याय का अर्थ :–

'न्याय' का प्रश्न जटिल है जिसको परिभाषित करना असंभव है। जब भी न्याय को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। कई पेचदगियाँ सामने आयी। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने इसे 'कार्यगत विशेषीकरण के रूप में प्रतिपादित किया। उन्होंने 'न्याय' शब्द का प्रयोग वैधानिक रूप से नहीं वरन् नैतिक अर्थ में किया। जबकि अरस्तू विधि के शासन को आदर्श राज्य का गुण मानता है। इसलिये अरस्तू के लिये कानून ही न्याय का प्रतिरूप है। अरस्तू के बाद राजनीतिक दर्शन में प्राकृतिक विधि की अवधारणा का श्रीगणेश होता है जिसका वर्णन स्टोइक विचारकों और सिसरो के चिन्तन में पाया जाता है। विचार की दृष्टि से जो स्थान अरस्तू के दर्शन में सद्‌गुण का है वही स्थान रोमन विचारकों में प्राकृतिक विधि का प्राकृतिक विधि, मानवीय विधि और न्याय

का मानक बन जाती है। सिसरो प्रकृति को न्याय स्रोत मानते है। मध्य युग में राज्य पूर्णतया चर्च के अधीन हो गया। ईसाई समाज का कानून था ईश्वरीय कानून। चर्च को धरती पर ईश्वर का प्रतिरूप और विधि की व्याख्या माना गया। इस विधि द्वारा स्थापित व्यवस्था का नाम ही न्याय कहा गया। मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तनं राज्य और चर्च के सर्वोच्च सत्ता के पारस्परिक दावो में उलझकर रह गया। परन्तु अरस्तू से प्रारम्भ हुई और सिसरो 'स्टोइक' आगस्टीन तथा एक्वीनास से बल पाती हुई यह विचारधारा राजनीतिक चिन्तन का अभिन्न अंग बन गई कि न्याय और कानून दोनों ही मानवीकृत नहीं है। इनका सर्वोच्च मानक है विवेक या चेतना जो स्वयं ईश्वरीय विवेक या चेतना का अंश है। मानवीय कानून केवल इस विवेक की व्याख्यामात्र और किसी दशा में प्रतिकूल नहीं हो सकता। चौहदवीं शताब्दी में मार्सीलियो ऑफ पेडुआ ने स्थापित किया कि कानून ही न्याय का स्रोत माना है ।

आगे चलकर राजाओ ने निरकुंश शासन और विधि–निर्माण के अधिकार का समर्थन किया और मैकियावली, हाब्स, बोंदा जैसे विचारकों ने निरंकुश राजतंत्र का समर्थन किया और राज्य निर्मित कानून को स्वतंत्रता और न्याय का पर्यायवाची माना। लॉक ने सीमित स्वतंत्रता का समर्थन करते हुये जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति पर राज्य के प्रहार को अवैध माना। इन अधिकारों को प्राकृतिक मानते हुये इनको समाज का अभिन्न अंग बतलाया और इनका पालन करते हुये न्याय स्थापित किया जा सकता है। मान्टेस्क्यू ने स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया। स्वतंत्रता के रक्षार्थ शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। वह भी प्राकृतिक विधि को स्थापित कानून के लिये न्याय को मानदण्ड मानता है। रूसो के दर्शन मे सामान्य इच्छा का पालन करना ही न्याय है।

मिल न्याय को प्राकृतिक तत्व और निरपेक्ष सत्य पर आधारित न मानकर उपयोगितावाद पर आधारित मानते है। वही ग्रीन अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन ही व्यक्ति के सच्चे न्याय की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानते है।

इस प्रकार न्याय का अर्थ एवं परिभाषा आवश्यकताओं के अनुकूल विभिन्न काल व स्थान के लोगो द्वारा गढ़ लिया गया। न्याय के शब्द "Justice" की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Justitia' शब्द से हुई। जिसका अर्थ है – जोड़ने का कार्य। इस प्रकार न्याय उस व्यवस्था का नाम है। जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ा रहता है । न्याय की अवधारणा यह है

कि एक समाज में सभी व्यक्ति, अध्यापक, विद्यार्थी, श्रमिक, किसान, सामान्य नागरिक आदि अपने अधिकारों का उपभोग करते हुये अपने कर्त्तव्यों का भी पालन करे और इस प्रकार समाज परस्पर जुड़ा रहे। न्याय सदैव यह अपेक्षा करता है कि समाज में रहने वाले व्यक्ति अपनी सीमाओं के अन्तर्गत रहे और सबको उनका उचित हक एवं स्थान प्राप्त हो।

रेफेल के शब्दों में,''न्याय का विचार समाज की सामान्य व्यवस्था से सम्बद्ध है।''[1]

न्याय एक स्वतंत्र सिद्धान्त नहीं है वरन् यह कई सामाजिक मूल्यों एवं व्यवहारों से जुड़ा हुआ हैं। राल्स लिखते है कि, ''किसी भी सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप और लक्ष्य ही न्याय का सिद्धान्त है।''[2]

आधुनिक न्याय शास्त्र में न्याय का अर्थ सामाजिक जीवन की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति के आचरण का समाज के व्यापक कल्याण के साथ समन्वय स्थापित किया गया हो। स्वभाव से प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये आचरण करता है, पर उसका आचरण न्यायपूर्ण तभी समझा जा सकता है, जबकि उसका आचरण समाज को भी कल्याण के मार्ग पर आगे ले जाने वाला हो। संक्षेप में, न्याय का अर्थ समाज के व्यापक कल्याण की सिद्धि, जो व्यक्तियों के अलग–अलग कल्याण से भिन्न हो, बहुमत तक के कल्याण से भिन्न हो। न्याय की धारणा के प्रमुखतया दो आधार है – स्वतंत्रता और समानता राल्स लिखते है कि –

"Our justice of the social schime depends essentially on how fundamental rights and duties are assigned and on the economic apportunities and social condition in the various section of society."[3]

प्रत्येक समाज में न्याय के विभिन्न सिद्धान्त होते है और यही वह आधार होता है कि जिसके तहत यह निश्चित होता है कि उस राज्य में क्या सही और गलत है ? प्रत्येक व्यवस्था कुछ निश्चित नियमों और मूल्यों द्वारा संचालित होती है। यह नियम और मूल्य न्याय को परिभाषित करते है। इस प्रकार न्याय एक पूर्ण धारणा न होकर एक मिश्रित विचारधारणा है। समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही मूल्यों में भी परिवर्तन ला देते है। इस सन्दर्भ में न्याय मूल्यो, व्यवस्था और आदर्शो से पूर्णतया जुड़ा हुआ है।

सी. ई. मेरियम के अनुसार, ''न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं का योग है, जिसके

---

1. आर० एल० सिंह, एस० के० दुबे – प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, पृष्ठ –111
2. एम० पी० जैन – पोलिटिकल थ्योरी, पेज नं० – 431
3. पूर्वोक्त – पेज नं. – 430

माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को वे सुविधायें और अधिकार जुटाये जाते है, जिन्हें समाज उचित समझता है।"[1]

न्याय के अर्थ के सम्बन्ध में दो विचार व्यापक और संकीर्ण मुख्यतः प्रचलित है।[2]

व्यापक के अर्थ में :-

इस सन्दर्भ में न्याय को समाज की सम्पूर्ण व्यवहारिकता के सन्दर्भ में देखा गया है। इसमें 'न्याय' शब्द की व्याख्या नैतिक मूल्य के रूप में हुई है। न्याय का विभिन्न दृष्टिकोणों जैसे सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है और इसी के आधार पर अच्छे–बुरे नियमों, मूल्यों, मानवीय सम्बन्धों व संस्थाओं का परीक्षण किया जाता है। न्याय के व्यापक स्वरूप का विश्लेषण प्लेटो और अरस्तू ने किया है। उनके विचार में न्याय की परख, उसकी सत्यता एवं नैतिकता को आदर्शो एवं मूल्यों की कसौटी पर कसा जाता है। इस अर्थ में न्याय सिर्फ व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण समाज से सम्बद्ध एक व्यापक अवधारणा है अर्थात् न्याय सिर्फ विधिक व्यवस्था या विधिक न्याय का सूचक नहीं है बल्कि इसका सम्बद्ध सम्पूर्ण व्यवस्था से है।

व्यापक अर्थ में न्याय के दो प्रमुख विचार है –

1. प्रथम विचार में, न्याय एक सार्वभौमिक व स्पष्ट धारणा है। सत्य की तरह यह भी अपरिपवर्तनशील और निश्चित नियमों से संचालित होती है। सभी पवित्र ग्रन्थ (वेद, गीता बाइविल और कुरान) न्याय के इसी विचार पर आधारित है। कई दार्शनिको प्लेटो, आग्स्टाइन एवं एक्वीनस आदि ने न्याय के इसी स्वरूप का समर्थन किया है। उन्होंने इस विचार का खण्डन किया कि न्याय की अवधारणा में समय और परिस्थितिनुसार परिवर्तन होते है।
2. दूसरे विचार में, इसमें न्याय को स्थिर न मानकर समय व परिस्थितिनुसार परिवर्तनशील माना गया है और यह स्वीकार किया गया है कि समय और परिस्थितिनुसार न्याय के मूल्य भी परिवर्तित हो जाते है। अरस्तू, बेन्थम और मिल ने न्याय के इसी स्वरूप को समर्थन किया है। उनके अनुसार न्याय का निर्धारण सामाजिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों के

---

1. डा० प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से बर्क), पृष्ठ – 133
2. M. P. Jain, Political Theory P. N. - 431-32-

आधार पर होना चाहिये।

इस प्रकार व्यापक अर्थ में न्याय सम्पूर्ण समाज से जुड़ी अवधारणा है। न्याय समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों से सम्बन्धित होता है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति न्यायपूर्ण समाज में अपने अधिकारों के उपभोग के साथ–साथ अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह करता है।

परन्तु इस रूप में न्याय का अर्थ तार्किक नहीं लगता है क्योंकि समाज में व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण कर पाना आसान नहीं होता।

संकीर्ण अर्थ में :–

इस अर्थ में न्याय का सम्बन्ध समाज की विधिक व्यवस्था एवं विधिक प्रक्रिया से है। न्याय को मानवीय सम्बन्धों के आधार पर देखा जाता है कि व्यक्ति विशेष को न्याय मिल रहा है कि नहीं। इसके अन्तर्गत न्याय का सम्बन्ध–कानून निर्माण की प्रक्रिया, व्यवस्थापन सम्बन्धी कानून, एक स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायिक व्यवस्था एवं कानून के समक्ष समानता एवं समान सुरक्षा से है। यह मुख्यतः न्याय के विधिक स्वरूप से सम्बद्ध है।

न्याय धारणा के विविध रूप :–

राजनीति चिन्तन के अन्तर्गत न्याय की समस्या पर अनेक दृष्टि से विचार किया जाता है जिससे न्याय के विविध स्वरूपो की चर्चा सामने आती है। वस्तुतः ये सब न्याय की समस्या का भिन्न–भिन्न सन्दर्भो में समझने के प्रयत्न है। परम्परागत रूप में न्याय की दो ही धारणायें प्रचलित रही है – नैतिक और कानूनी लेकिन आज की स्थिति में न्याय ने बहुत अधिक व्यापकता प्राप्त कर ली है और आज कानूनी या राजनीतिक न्याय की अपेक्षा सामाजिक और आर्थिक न्याय अधिक महत्वपूर्ण हो गये है। न्याय के विविध रूपो के द्वारा यह संकेत मिलता है कि (1) न्याय के प्रति भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण क्या है ? (2) एक ही दृष्टिकोण के अन्तर्गत न्याय के भिन्न–भिन्न प्रयोग क्षेत्रों में इसका अभिप्राय क्या है ? वस्तुतः 'न्याय के विविध–रूप' न्याय के स्वरूप की विविध सन्दर्भो में जानने समझने के प्रयत्न है। न्याय धारणा के इन विविध रूपो का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

(1) नैतिक न्याय :–

परम्परागत रूप में न्याय धारणा को नैतिक रूप में ही अपनाया जाता रहा है। नैतिक

न्याय इस धारणा पर आधारित है कि विश्व में कुछ सर्वव्यापक, अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम प्राकृतिक नियम है जो कि व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को ठीक प्रकार से संचालित करते है। इन प्राकृतिक नियमो और प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित जीवन व्यतीत करना ही नैतिक न्याय है। जब हमारा आचरण इन नियमों के अनुसार होता है, तब वह नैतिक न्याय की अवस्था होती है।

(2) कानूनी न्याय :–

जब दो पक्षों के परस्पर विरोधी दावो का फैसला करने के लिये या किसी व्यक्ति या संस्था के अधिकार एवं दायित्व निर्धारित करने के लिये प्रचलित कानून के अनुसार न्याय किया जाता है, तब उसे कानूनी न्याय कहते है। कानूनी न्याय की धारणा दो अर्थो में प्रयोग की जाती है :

1. कानूनो का निर्माण अर्थात् सरकार द्वारा बनाये गये कानूनो को न्यायोचित होना चाहिये।
2. कानूनो को लागू करना अर्थात् बनाये गये कानूनो को न्यायोचित ढंग से लागू किया जाना चाहिये। कानूनो को न्यायोचित ढंग से लागू करने का मतलब यह है कि जिन व्यक्तियों ने कानूनो का उल्लघंन किया है, उन्हें दण्डित करने में किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिये।

(3) राजनीतिक न्याय :–

राज–व्यवस्था का प्रभाव समाज के सभी व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पड़ता ही है। अतः सभी व्यक्तियों को ऐसे अवसर प्राप्त होने चाहिये कि वे राज–व्यवस्था को लगभग समान रूप प्रभावित कर सके और राजनीतिक शक्ति का प्रयोग ऐसे ढंग से किया जाना चाहिये कि सभी व्यक्तियों को लाभ प्राप्त हो। यही राजनीतिक न्याय है और इसकी प्राप्ति प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही की जा सकती है।

(4) सामाजिक न्याय :–

व्यापक अर्थ में, 'सामाजिक न्याय' शब्दावली से 'सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक' तीनों तरह के न्याय का बोध हो जाता है। सीमित अर्थ में, 'सामाजिक न्याय' का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में सब मनुष्यों की गरिमा स्वीकार की जाये; नागरिक–नागरिक के बीच में सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाये और प्रत्येक व्यक्ति को आत्म

विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हो। वर्तमान समय में सामाजिक न्याय का विचार बहुत अधिक लोकप्रिय है और सामाजिक न्याय पर बल देने के कारण ही विश्व के करोड़ों लोगों द्वारा मार्क्सवाद या समाजवाद के अन्य किसी रूप को अपना लिया गया है। इस सम्बन्ध में श्री नेहरू ने एक बार कहा था कि, ''लाखों करोड़ों लोगों के लिये मार्क्सवाद के प्रति आकर्षक का स्रोत उसका वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है, वरन् सामाजिक न्याय के प्रति उसकी तत्परता है।''[1] वास्तव में, सामाजिक न्याय के बिना समानता और स्वतंत्रता के आदर्श बिल्कुल निस्सार हो जाते है।

(5) आर्थिक न्याय :–

'आर्थिक न्याय' का अर्थ यह है कि उत्पादन की प्रक्रिया में कोई व्यक्ति दूसरों के जीवन को नियंत्रित करने और उनसे मनमानी शर्तो पर काम कराने की शक्ति प्राप्त न कर ले, बल्कि सब लोगो को अपनी–अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार उचित लाभ या पुरस्कार प्राप्त करने का अवसर मिले, बाजार की स्थिति में कोई व्यक्ति मानमानी शर्तो पर दूसरो को वस्तुयें और सेवायें प्रदान करने की शक्ति न प्राप्त कर ले, बल्कि सबको अपनी–अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार उचित शर्तो पर अपेक्षित वस्तुयें और सेवायें प्राप्त हो सके।

यह बात महत्वपूर्ण है कि प्रस्तुत अर्थ में राजनीतिक न्याय 'स्वतंत्रता' के आदर्श को प्रमुखता देता है, आर्थिक न्याय 'समानता' के आदर्श को महत्व देता है, और सामाजिक न्याय 'बन्धुता' के आदर्श को साकार करना चाहता है। इन तीनों को मिलाकर ही सामाजिक जीवन में न्याय के व्यापक आदर्श की सिद्धि की जा सकती है। सामाजिक न्याय का मूलमंत्र यह है कि सामाजिक क्षेत्र में जो भी लाभ प्राप्त हो, उन पर किसी समूह विशेष या व्यक्ति विशेष को ही अधिकार प्राप्त न हो बल्कि समस्त जनो का उसमें समान अधिपत्य हो ताकि एक सुखी सम्मानित और निश्चित जीवन की संकल्पना को साकार किया जा सके तभी सामाजिक न्याय के आदर्श को सामाजिक यथार्थ के धरातल पर स्थापित किया जा सकेगा।

6. प्रक्रियात्मक न्याय :–

सामाजिक जीवन में न्याय किस रूप में स्थापित किया जाये – इस विषय पर समकालीन चिन्तन के अन्तर्गत प्रक्रियात्मक न्याय व्यवस्था करता है कि सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लाभों के आबंटन के लिये सार्वजनिक निर्णयों तक पहुँचाने की प्रक्रिया या विधि

---

1. फड़िया, जैन – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पृष्ठ संख्या – 267

न्यायपूर्ण होनी चाहिये; फिर किसे क्या मिलता है – यह विवाद का विषय नहीं है। प्राकृतिक न्याय के अन्तर्गत व्यक्तियों की स्वतंत्रता और समानता के आधार पर नियम निर्धारित कर देने चाहिये, जो सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते है।

7. तात्विक न्याय :–

तात्विक न्याय के समर्थक यह मानते है कि सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लाभों का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिये, इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुये इसकी प्रक्रिया में आवश्यक समायोजन किया जा सकता है। सामाजिक विकास के लाभ इने–गिने लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जाये बल्कि उन्हें समाज के अभावग्रस्त, दीन दलित वंचित और कमजोर स्तरों पर पहुँचाने की व्यवस्था की जाये।

अन्ततः हम कह सकते है कि वर्तमान सन्दर्भ में 'न्याय' ने व्यापकता प्राप्त कर ली है। आज कानूनी या राजनीतिक न्याय की अपेक्षा सामाजिक और आर्थिक न्याय अधिक महत्वपूर्ण हो गये। जहाँ सामाजिक न्याय सामाजिक जीवन में सब मनुष्यों की समान अस्मिता को स्थापित करने की बात करता है वही आर्थिक न्याय उत्पादन प्रक्रिया में सभी को अपनी क्षमता और आवश्यकतानुसार उचित शर्तो पर अपेक्षित वस्तुयें और सेवायें प्राप्त करने की व्यवस्था करता है तथा राजनीतिक न्याय की धारणा राजनीति में किसी वर्ग विशेष के अधिकार को अस्वीकार करके सत्ता और शक्ति का प्रयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से करने के पक्ष में है।

न्याय का अभिप्राय सम्पूर्ण गुण और नैतिक आचार के स्वीकृत ढ़ाचे से पूर्णतया एकरूपता से है। वर्तमान सन्दर्भ में, सामाजिक जीवन में न्याय को स्थापित करने के लिये प्रक्रियात्मक और तात्विक न्याय की व्याख्या की गयी है। सामाजिक जीवन में प्रक्रियात्मक न्याय मनुष्य के बीच भेद का स्वीकार नहीं करता और समाज में सभी मनुष्यों की समान गरिमा और महत्वतता को स्थापित करने की मांग करता है। वही तात्विक न्याय कानूनी राजनीतिक तथा सामाजिक आर्थिक क्षेत्रों में विषमताओं या विवशताओं को दूर करने की व्यवस्था करता है ताकि मनुष्य स्वतंत्रता या आत्म विकास के अवसरों से वंचित न रह सके।

न्याय – स्वतंत्रता, समानता और सम्पत्ति में सम्बन्ध :–

न्याय की अवधारणा स्वतंत्रता, समानता और सम्पत्ति आदि सामाजिक मूल्यों से

सम्बद्ध है। न्याय इन सभी सामाजिक मूल्यों में सर्वोपरि है। एक न्यायपूर्ण समाज की संकल्पना को तब तक साकार नहीं किया जा सकता जब तक कि उस समाज में स्वतंत्रता, समानता और सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता न मिली हो। स्वतंत्रता और समानता के अभाव में एक न्यायपूर्ण समाज का निर्माण असंभव है। इन सामाजिक मूल्यों के परस्पर सम्बन्धों को लेकर समय और परिस्थिति के अनुसार विरोधाभासपूर्ण विचारधाराओं का जन्म होता रहा है। उदाहरण स्वरूप उदारवादी, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को न्यायपूर्ण मानते है जबकि मार्क्सवादी इस व्यवस्था को अन्यायपूर्ण व अमानवीय मानते है क्योंकि यह समाज में शोषण की जननी है।

अतएव न्याय स्वतंत्रता, समानता व सम्पत्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के व्यापक विश्लेषण की आवश्यकता लगातार बनी हुयी है –

न्याय और स्वतंत्रता :–

स्वतंत्रता की सामाजिक संकल्पना उसे न्याय से सम्बद्ध करती है। पूर्ण स्वतंत्रता के विचार 'प्रतिबंध' के पूर्ण अभाव से जुड़ा है। जे. आर. ल्यूकस के अनुसार, "स्वतंत्रता का सारभूत अर्थ यह है कि विवेकशील कर्ता को जो कुछ सर्वोत्तम प्रतीत हो, वह कुछ करने में वह समर्थ हो और उसके कार्यकलाप बाहर के किसी प्रतिबंध से बँधे न हो।"[1]

"स्वतंत्रता न्याय की प्रथम शर्त है और बन्धनों को हमेशा ही अन्यायपूर्ण माना जाता है।"[2]

परन्तु इस प्रकार की नकारात्मक स्वतंत्रता सर्वसाधारण के लिये कोई अर्थ नहीं रखती जबकि समाज भारी आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त हो क्योंकि नकारात्मक स्वतंत्रता सारे शोषण पर रेशमी पर्दा डाल देती है। नकारात्मक स्वतंत्रता बलवान, निर्बल, धनवान–निर्धन सबको खुला छोड़ देती है, इसकी आड़ में सबल–निर्बल और धनवान गरीब का शोषण करने लगते है। समाज अन्याय एवं विषमता से ग्रस्त हो जाता है। यही से सकारात्मक स्वतंत्रता की माँग शुरू होती है। सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि कमजोर वर्गों की सामाजिक और आर्थिक असमर्थताओं को दूर करने के ठोस प्रयत्न किये जाये ताकि सबको अपने सुख की साधना का उपयुक्त अवसर मिल सके।

---

1. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीति सिद्धान्त – पृष्ठ – 170

2. M. P. Jain, Political Theory P. N. - 436

सामाजिक न्याय का मूलमंत्र भी यही है कि संगठित सामाजिक जीवन से जो भी लाभ प्राप्त होते है, वे इने–गिने लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जाये, बल्कि उन्हें समाज के अभावग्रस्त, दीन–दलित वंचित और कमजोर वर्गों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जाये। इसके लिये सामाजिक, आर्थिक जीवन के व्यापक नियमन की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। ये सारे विनयम और प्रतिबंध एक वर्ग की स्वतंत्रता की भले ही कटौती करते है परन्तु इन्हें स्वतंत्रता के विरूद्ध इसलिये मान सकते हैं क्योंकि ये स्वतंत्रता के आधार को व्यापक बनाने के प्रयास होंगे।

वर्तमान में, लोकतंत्रीय कल्याणकारी राज्य कानून के द्वारा जहाँ स्वतंत्रता की रक्षा करते है वही कानून के द्वारा समानता एवं न्याय की रक्षा के लिये स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध भी लगाते है। उदाहरण के लिये कानून हमें तोड़ने से रोकता है ताकि दूसरो के अधिकार की रक्षा की जा सके। कानून देने के लिये विवश भी करता है ताकि सामाजिक न्याय की सिद्धि की जा सके।''[1]

स्वतंत्रता भी सामाजिक जीवन की सीमाओं से बँधी होती है। किसी व्यक्ति को उसी सीमा तक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है जहाँ तक वह दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक न हो। जहाँ एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिये खतरा पैदा कर सकती हो, वहाँ उस पर प्रतिबन्ध लगाना जरूरी हो जाता है। स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब उसकी व्याख्या सब मनुष्यों की समान स्वतंत्रता के रूप में की जाये। इस प्रकार हम कह सकते है कि राज्य सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिये व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर रोक लगा सकता है।

हाब हाऊस लिखते है कि, ''स्वतंत्रता की आधारशिला सामाजिक बन्धन की आध्यात्मिक प्रकृति ओर सर्वहित का युक्तियुक्त स्वरूप है।''[2]

अतः स्वतंत्रता सर्वश्रेष्ठ सामाजिक मूल्य है और न्याय उसकी पहली जरूरत है।

न्याय और समानता :–

जब हम समानता और न्याय के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा करते है तब यह देखना जरूरी हो जाता है कि हम समानता की कौन सी व्याख्या को न्याय की कौन सी व्याख्या के साथ मिला रहे है ? न्याय और समानता के बीच सम्बन्धों की व्याख्या बहुत जटिल है। सम्पूर्ण सामाजिक मूल्यों की व्यवस्था के आधार पर कई असमानताओं को न्यायपूर्ण माना जाता है। यदि

---

1. ओ. पी. गावा, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा पृष्ठ – 184–185

2. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीति सिद्धान्त – पृष्ठ – 132–133

समानता न्याय के नियमों के विरूद्ध होती है तब ऐसी स्थिति में असमानताओं को न्यायपूर्ण माना जाता है। जिस प्रकार सभी समानतायें न्यायिक नहीं होती ठीक उसी प्रकार सभी असमानतायें अन्यायपूर्ण नहीं होती है। न्याय की संकल्पना सम्पूर्ण सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित होती है पर समानता की धारणा समाज दर समाज भिन्न–भिन्न होती है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ ही समानता की धारणा में परिवर्तन होता है।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटों और अरस्तू के विचारों का प्रारम्भिक बिन्दु न्याय ही था फिर भी उन्होंने दासता–प्रथा का समर्थन किया जबकि वर्तमान सन्दर्भ में यह न्याय की धारणा के बिल्कुल विपरीत है क्योंकि समानता को अब जन्म से ही सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकृति मिल जाती है। अरस्तू ने कहा था कि, ''न्याय का अर्थ यह है कि समान लोगों के साथ समान बर्ताव किया जाये और असमान लोगों के साथ असमान बर्ताव किया जाये।''[(1)]

अरस्तू ने यह भी चेतावनी दी थी कि जो लोग इस तरह से समान है, कभी–कभी यह समझने लगते है कि उन्हें हर तरह से समान होना चाहिये। उदाहरण के लिये, जो लोग नागरिकों के रूप में दूसरों के समान या समकक्ष है, वे यह सोचने लगते है कि उन्हें उन्हीं के समान शक्ति, धन–सम्पदा और मान–मर्यादा भी प्राप्त होनी चाहिये। पर चूँकि उन्हें ये सब विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते, इसलिये उनके मन में अन्याय की अनुभूति पैदा होती है। इससे समाज में वैमनस्य की भावना पनपने लगती है जो आगे चलकर विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। समाज में शान्ति कायम रखने के लिये ऐसी भावना पैदा नहीं होने देनी चाहिये। अतः राज्य में समानता के विचार को बढ़ावा नहीं देना चाहिये।

क्योंकि जब विषमतायें सामाजिक अन्याय और शोषण को जन्म देती है तब समाज में घोर अव्यवस्था को बढ़ावा मिलता है तब ऐसी स्थिति को एक न्यायपूर्ण समाज का सपना बिखर के रह जाता है। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के 'वितरणात्मक न्याय' से अर्थ यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को पद और पुरस्कार उस मात्रा के अनुपात में देना चाहता है जिस मात्रा में उसने अपनी योग्यता और धन से राज्य को लाभ पहुँचाया है। अरस्तू ''न्याय को वितरणात्मक न्याय और आनुपातिक समानता के अर्थ में लेता है।''[(2)]

अरस्तू के मतानुसार यह एक ऐसी न्यायपूर्ण व्यवस्था है जो समाज में संघर्ष और

---

1. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ – 167

2. M. P. Jain - Political Theory Page No. - 438

कलह को घटाने वाली है। जान राल्स ने भी "वितरणात्मक न्याय के नियमों का समर्थन विभिन्न आधार पर किया है।"[1]

आज के युग में जो लोग शक्ति, धन–सम्पदा और मान–मर्यादा की प्रचलित विषमताओं को कायम रखना चाहते है वे भी न्याय के नाम पर अरस्तू के तर्क को दोहराते है। वे बार–बार चेतावनी देते है कि लोगों को न्याय के नाम पर वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की मांग नहीं करनी चाहिये। जैसा कि हेयक ने यह तर्क दिया कि 'सामाजिक न्याय' का विचार ही निरर्थक है। न्याय वस्तुतः मनुष्य के आचरण की विशेषता है; कोई समाज न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता। यदि समानता के हित में स्वतंत्रता में कटौती की जाती है तो जीवन सामग्री के अन्यायपूर्ण वितरण के प्रश्न पर तनाव, कलह और विवाद अवश्य पैदा होंगे। न्याय की तलाश केवल प्रक्रिया का विषय है जिसका ध्येय स्वतंत्रता को बढ़ावा देना है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने–अपने ज्ञान और अपने–अपने हित की समझ के अनुसार अपने–अपने स्वार्थ साधन का अधिकतम अवसर मिलना चाहिये।

जो लोग समाज में शक्ति, धन–सम्पदा और मान–मर्यादा की प्रचलित विषमताओं को कायम नहीं रखना चाहते उनके दृष्टिकोण को समतावाद की संज्ञा दी जाती है। समतावाद के समर्थक मानते है कि समता या समानता सदैव न्यायसंगत होती है, केवल विषमता को न्याय संगत ठहराने की जरूरत पड़ती है। समतावाद, समाज के सब सदस्यों को एक ही श्रृंखला की कड़ियाँ मानता है जिसमें मजबूत कड़ियाँ कमजोर कड़ियों की हालत से अछूती और अप्रभावित रह नहीं सकती। इसके अनुसार न्याय आर्थिक जीवन में खुली प्रतिस्पर्धा, ऐसी परिस्थितियों को जन्म देती है जिनमें निर्धन वर्ग धनवान वर्ग-द्वारा निर्धारित शर्तों पर काम करने को विवश हो जाता है। सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में भी निर्धन वर्ग इतनी शक्ति नहीं कर पाता जिसके बल पर वह अपने शोषण को रोक सके, और अन्य वर्गों के साथ मिल–जुलकर राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर का प्रयोग कर सके।

अतः वर्तमान स्थिति में न्याय की स्थापना के लिये व्यक्ति को आत्म विकास के समान अवसर, कानून के समक्ष समानता और समान राजनीतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये । इस प्रकार न्याय का ध्येय कानूनी, राजनीतिक तथा सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में अनुचित विषमताओं को दूर करना है।

---

1. Ibid, Page No. - 438

न्याय और सम्पत्ति :–

न्याय और सम्पत्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण के सन्दर्भ में मूलतः उदारवादी और मार्क्सवादी चिन्तन महत्वपूर्ण है –

उदारवादी चिन्तन :–

जान लॉक सरीखे परम्परागत उदारवादी "जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति" के अधिकार को प्राकृतिक मानते हैं । उनकी धारणा है कि सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति प्रकृति से प्राप्त करता है । लॉक मानता है कि व्यक्ति की सम्पत्ति के अर्जन में समाज का कोई हाथ नही है । अतः वह राज्य इसका नियमन नहीं कर सकता । राज्य केवल सम्पत्ति का संरक्षण कर सकता है । लॉक सम्पत्ति को 'श्रम के फल' का परिणाम मानता है ।

परन्तु जो सिद्धान्त सम्पत्ति को मनुष्य के 'श्रम का फल' मानता है, उसे बहुत दूर तक नहीं खींचा जा सकता । एक स्तर पर आकर सम्पत्ति मनुष्य के श्रम का परिणाम नहीं रह जाती बल्कि कई सामाजिक तत्व इससे सम्बद्ध हो जाते हैं । अतः पुनर्विचार की आवश्यकता शुरू हो जाती है । दो तरह की परिस्थितियों में इस सिद्धान्त पर प्रश्न चिन्ह लगाना अनिवार्य हो जाता है ।

(क) जब सम्पत्ति आय का स्त्रोत बन जाती है क्योंकि इस प्रक्रिया में सम्पत्ति का स्वामी दूसरो के श्रम के बल पर अपनी सम्पत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ाने लगता है ।

(ख) जब सामाजिक निवेश से निजी सम्पत्ति के स्वामियों को अपरिमित लाभ होने लगता है जबकि इसका लाभ समाज को प्राप्त होना चाहिये । दिनों–दिन अमीर–गरीब के बीच खाई बढ़ती जाती है । असली समस्या शोषण से लड़ने की है । यहीं आकर सम्पत्ति और सामाजिक न्याय के बीच उचित सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक हो जाता है ।

सम्पत्ति का 'सामाजिक दायित्व' का सिद्धान्त सामाजिक न्याय से जुड़ा हुआ है । क्योंकि आधुनिक समय में सभी प्रबुद्ध विचारक यह स्वीकार करते हैं कि सम्पत्ति का अपरिमित अधिकार सुख एवं सुरक्षा की भावना का स्त्रोत नही रह गया बल्कि यह एक वर्ग विशेष के लिए

दूसरों के श्रेय के शोषण का प्रतीक बन गया है । हाब्स हाउस के शब्दों में, "सम्पत्ति के ऐसे कितने ही रूप हैं, जो अन्य व्यक्तियों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के साधन बन गये ....। भूमि का मालिक यह फैसला करने की स्थिति में हो सकता है कि बहुत सारे लोग आजीविका किस तरीके से अर्जित करें ?

इस नियंत्रण का विस्तार कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि सम्पत्ति का स्वरूप क्या है, कुछ इस बात पर कि स्वामित्व का वितरण किस ढंग से हो रहा है ? यदि सम्पत्ति महत्वपूर्ण और परिमित हो तो उसका स्वामित्व आंशिक या पूर्ण एकाधिकार का द्योतक हो सकता है । उसके बल पर बहुत सारे लोगो के जीवन पर बहुत सारा या शायद आधारभूत नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है । फिर यदि एकाधिकार न भी हो, परन्तु सम्पदा के वितरण में घोर विषमता पाई जाती है । जो पूंजीपति मजदूरों के साथ अनुबोध करते समय फायदे में रहते हैं जिसमें उन्हें श्रम पर बहुत व्यापक नियंत्रण स्थापित करने में सहायता मिलती है [1] । अतः सामाजिक न्याय का सिद्धान्त सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देते समय दो शर्तें जोड़ देता है ।[2] प्रथम सम्पत्ति का उपयोग दूसरों के जीवन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए नहीं किया जायेगा । दूसरी यह कि इसका उपयोग समुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जायेगा । आधुनिक युग में लास्की और हाब्स हाउस जैसे नव उदारवादियों ने सम्पत्ति के अधिकार से ज्यादा सामाजिक न्याय की सिद्धी के लिए सामाजिक दायित्व को महत्व दिया है । सम्पत्ति का अधिकार उसी को होना चाहिये जो समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करता है –

"It is entitled to exit where it results from personal effort . It is rational when it is the outcome of function the property of doctor, a sailor, and enventor, a Judge all represent a definite return of definite service such property is legitimately the embodiment of rights because it is accompained by performance of duties" [3] .

लास्की ने कहा, "जिन लोगों की सम्पत्ति दूसरों के परिश्रम का फल है वह समाज के लिए जोंक है।[4]

---

1. ओ. पी. गावा – राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा पृष्ठ – 219
2. पूर्वोक्त – पृष्ठ – 220
3. Laski 'A grammer of Politics', P. N. 187-188 .
4. Ibid - Page No. - 184

"Those whose property is the result of other's many effort are parasite upon society"

अतएव लास्की के अनुसार सम्पत्ति के अधिकार को योग्यता और परिश्रम पर आश्रित होना चाहिये । मनुष्य को उतनी ही सम्पत्ति का अधिकार होना चाहिये, जो उसे अपने कार्य के परिश्रम के रूप में प्राप्त हो । इससे सम्पत्ति का स्वामित्व दूसरों के जीवन पर नियंत्रण का साधन नहीं बनेगा । अन्ततः इसी के परिणामस्वरूप आर्थिक शोषण एवं अन्याय को रोका जा सकेगा ।

हाब्स हाउस ने अपनी पुस्तक Liberalism (उदारवाद) के अन्तर्गत कराधान का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है उसका सूत्र "सम्पत्ति के सामाजिक उद्भव" की संकल्पना से जुड़ा है। उसके अनुसार "कराधान का वास्तविक कार्य समाज को वापस दिलाना जिसका उद्भव स्वयं समाज में हुआ है .... कर के रूप में सामाजिक मूल्य का जो निश्चित हिस्सा राज्य को दिलाया जाता है, जिसे करदाता को अपनी चीज कहने का असीम अधिकार हो बल्कि उसके लिए माध्यम से करदाता उस राशि का भुगतान करता है जिसके लिए वह हमेशा से समाज का देनदार था ।"[1]

अतः सामाजिक न्याय का सिद्धान्त सम्पत्ति को मान्यता देते समय दो मुख्य शर्तें जोड़ देता है – प्रथम, सम्पत्ति का उपयोग दूसरों के जीवन पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु नहीं होगी। दूसरी यह कि इसका प्रयोग समुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जायेगा ।

मार्क्सवादी चिन्तन में सम्पत्ति को एक ऐसी संस्था माना गया है जो विभिन्न वर्गों के आर्थिक सम्बन्धों को निर्धारित करती है । एजेल्स के अनुसार आदि कालीन समाज में सम्पत्ति का कोई अस्तित्व नहीं था, इसलिए समाज भी धनवान और निर्धन वर्गों में नहीं बंटा था । जब उत्पादन के साधन थोड़े विकसित हो गये तब समुदाय के इने–गिने लोगों ने उनपर अपना उत्पादन स्थापित कर लिया । इससे समाज दो परस्पर विरोधी वर्गों में बॅट गया और वर्ग–संघर्ष प्रारम्भ हुआ । प्राचीन समाज में यह संघर्ष जंमीदार और दास के बीच था, मध्ययुगीन समाज में यह संघर्ष जमींदार और किसान के बीच और आधुनिक युग में यह संघर्ष पूँजीपति वर्ग के बीच है ।

समकालीन पूँजीपति युग में सम्पत्ति की विषमता अत्याधिक बढ़ गई है । एक ओर अपार सम्पदा की झलक मिलती है, दूसरी ओर विपदा, दरिद्रता, विवशता, अंधकार दिखाई पड़ता

---

1. ओ. पी. गावा – राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, पृष्ठ – 224

है ।

मार्क्सवाद व्यक्तिगत और निजी सम्पत्ति में भेद करता है। मार्क्सवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त नहीं करना चाहता है क्योंकि यह व्यक्ति की स्वतत्रंत, सुख और सुरक्षा से जुड़ी होती है। इसे व्यक्ति अपने परिश्रम से प्राप्त करता है। परन्तु निजी सम्पत्ति (Private property) जिसमें भूमिवन, वन सम्पदा, कल–कारखाने इत्यादि आते है ऐसी सम्पत्ति का निजी स्वामित्व समाप्त करके सामाजिक स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार "Marxism doesnot away with all property but only with its exploting variety with carries with it relation of oppression and subjection in all spheres of social production."[1] निजी सम्पत्ति पर आधारित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने बेरोजगारी, असमानता, आर्थिक वितृष्णा अन्याय को जन्म दिया है। उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली और निजी सम्पत्ति के कारण मानव परायेपन का शिकार हो गया।[2]

निजी सम्पत्ति के विचार ने 'व्यक्ति और समाज के बीच दीवार खींच दी है और समाज में वर्ग–भेद उत्पन्न हो गया है। यह वर्ग–भेद वर्ग–संघर्ष का कारण है।

अतः सामाजिक अन्याय मिटाने के लिये मनुष्य की स्वतंत्रता को बहाल करने के भाव निजी सम्पत्ति को समाप्त करने के लिये वैज्ञानिक तरीका बताता है। मार्क्सवाद सम्पन्न वर्गो को समझा–बुझाकर या उनके मन में दया उत्पन्न करके निजी सम्पत्ति को सामाजिक स्वाभिमान में परिवर्तित नहीं करना चाहता है वरन् निजी सम्पत्ति को सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा समाप्त करना चाहता है। इस क्रान्ति के बाद अन्तरिम अवस्था में उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वामित्व होगा और इस प्रकार निजी सम्पत्ति को सामाजिक सम्पदा के रूप में परिवर्तित करके मार्क्सवाद एक नवीन, वर्गहीन, शोषण मुक्त न्यायपूर्ण समाज का आधार प्रस्तुत करता है।

न्याय–ऐतिहासिक विकास क्रम के रूप में :–

राजनीति चिन्तन के अन्तर्गत 'न्याय' के विचार को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। न्याय की संकल्पना ने राजनीतिक चिन्तन के विकास और साथ ही इसके इतिहास में एक सक्रिय भूमिका अदा की है। राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत न्याय के सिद्धान्तों का क्या स्थान है – यह

1. Chesnokov, Manand Society (Moscow 1969) P. N. - 35
2. M. P. Jain, Political Theory P. N. - 422

प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है। न्याय के ऐतिहासिक विकास क्रम के अन्तर्गत आदर्शवादी, उदारवादी व मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है।

न्याय का आदर्शवादी दृष्टिकोण :–

आदर्शवाद के अनुसार राज्य एक आध्यात्मिक संवास है। इसका लक्ष्य मनुष्य को नैतिक बनाना है। इस हेतु राज्य मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य को नियंत्रित कर सकता है, इसकी स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है, यहाँ तक की नैतिकता क्या है, इसका निश्चय भी राज्य अपने नियमों द्वारा ही कर सकता है। अतः राज्य नैतिकता का भी जन्मदाता है। राज्य के आदेशानुसार जीवन संचालन में ही व्यक्ति स्वतंत्र है, अपने स्वेच्छानुसार कार्य करने में नहीं। आदर्शवाद राज्य को ही साध्य मानते है और व्यक्ति को साधन। व्यक्ति का राज्य से भिन्न कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता और राज्य मनुष्य से पूर्व व प्रधान है।

यद्यपि आधुनिक काल में आदर्शवाद का प्रतिपादन अठाहरवी शताब्दी के कुछ जर्मन दार्शनिको (कान्ट हीगल) द्वारा हुआ था। परन्तु वास्तव में इसका इतिहास तो ग्रीक दर्शन से ही आरम्भ हो जाता है अतः सुकरात, प्लेटो व अरस्तू को इसका जन्मदाता कहा जा सकता है।

प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विचार :–

प्लेटो की ''रिपब्लिक में प्लेटो ने न्याय को अपने सम्पूर्ण दर्शन का आधार बनाया है।[1] रिपब्लिक का आरम्भ ही न्याय के प्रश्न से हुआ। प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि न्याय क्या है ? प्लेटो के अनुसार ''न्याय एक ऐसी औषधि है जो समाज से अशान्ति, अव्यवस्था, कर्त्तव्य–विमुखता तथा बुद्धिहीनता आदि व्याधियो को जो एक आदर्श समाज के स्वास्थ्य के लिये घातक है, दूर कर सकती है।''[2] प्लेटो उस राज्य को आदरणीय मानता है जिसमें न्याय प्रतिस्थापित हो। उसके अनुसार, ''आत्मा का नेक होना न्याय है उसका दूषित होना अन्याय।''[3]

प्राचीन यूनान के दार्शनिक प्लेटो के चिन्तन की मुख्य समस्या न्याय की संकल्पना थी, उसने न्याय की जो तस्वीर खींची है वह परम्परागत दृष्टिकोण का उपयुक्त उदाहरण है। प्लेटो ने न्याय की स्थापना के उद्देश्य से नागरिक के कर्त्तव्यों पर बल दिया। प्लेटो का विचार

---

1. आर0 एल. सिंह, एस. के. दुबे – प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक पृष्ठ – 7
2. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास पृष्ठ – 51
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 23

था कि "प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज का अधिकतम हित–साधन कर सकता है।"[1] उसका न्याय सिद्धान्त यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य के ढूढ़ने और अनुपालना में अपने सर्वस्व को लगा देना चाहिये साथ ही दूसरों के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। प्लेटो "न्याय को बाह्य नहीं वरन् आत्मा की आन्तरिक व्याख्या बताता है। न्याय आत्मा से सम्बन्धित है।"[2] ई. एम. फोस्टर के शब्दों में, "जिसे हमे नैतिकता कहते है प्लेटो के लिये न्याय है।"[3] सुकरात के शब्दों में, "न्याय प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में रहता है और यदि वह अपने कर्त्तव्य उचित ढंग से करता है तो उसका आचरण स्वयं उसकी न्यायप्रियता का परिचायक है।"[4]

न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिये उसने नागरिकों के तीन वर्ग बनाये – दार्शनिक शासक, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग। उसने यह तर्क दिया कि "जब ये तीनों वर्ग अपने–अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करेंगे, तब राज्य की व्यवस्था अपने आप न्यायपूर्ण होगी।"[5] प्लेटो ने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में तीन नैसर्गिक प्रवृत्तियों का निवास माना है – (1) ज्ञान (2) साहस (3) भूख मनुष्य की आत्मा के ये तीनों तत्व अपने–अपने कार्य क्षेत्रों की सीमाओं में रहते हुये अपने–अपने कार्य सम्पादित करते रहते है जो मानव व्यक्तित्व में एकता की स्थापना करते है, यदि इन तीनों तत्वों को किसी एक व्यक्ति की आत्मा में समन्वित किया जा सके तो वह व्यक्ति न्यायी बन जायेगा। जिन व्यक्तियों में ज्ञान की प्रधानता होती है, वे शासन कार्य का संचालन कुशलतापूर्वक कर सकते है। इसी प्रकार जिन व्यक्तियों में भूख या क्षुधा की प्रधानता है वे उत्पादन कार्य अच्छे ढंग और सरल से कर सकते है। यदि दार्शनिक शासक अपना कार्य निष्पक्ष ढंग से सम्पादित कर सके तो वैज्ञानिक लोग भी युद्ध क्षेत्र में उत्साहित होकर आत्म–त्याग के लिये रह सकेगे। इसी प्रकार उत्पादक वर्ग द्वारा कठोर श्रम करने पर यदि उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो तो समाज में सन्तुलन और समन्वय जन्म लेगा। यही

---

1. पूर्वोक्त–57
2. आर. एल. सिंह, एस. के. दुबे प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक पृष्ठ – 10
3. प्रभुदत्त शर्मा – राजनीतिक विचारों का इतिहास – पृष्ठ – 57
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 57
5. ओ. पी. गावा समकालीन राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ – 212

आदर्श राज्य की स्थापना है। प्लेटो की मान्यता है कि जब उत्पादकों, सैनिकों एवं शासकों के तीनों वर्ग सुचारू रूप से अपना–अपना कार्य करे तो एक दूसरे के कार्यो में हस्तक्षेप नहीं होगा और सम्पूर्ण समाज में न्याय की स्थापना हो सकेगी।

सामाजिक न्याय की चर्चा करते हुये प्लेटो ने लिखा है कि राज्य के अन्तर्गत शासक, रक्षक और कृषक इन तीनों ही वर्गो को अपने–अपने कार्य बिना एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किये बिना करते रहने चाहिये क्योंकि एक व्यक्ति एक समय पर एक ही कार्य अच्छाई से और अधिक मात्रा में कर सकता है। ऐसा करने से नागरिकों की आवश्यकतायें पूरी हो सकेगी और राज्य भी आत्म निर्भर बन सकेगा। वर्ग–विभेद होते हुये भी उनमें विग्रह नहीं होगा और समरसता की स्थापना हो सकेगी। प्लेटो के इस न्याय सिद्धान्त के सामाजिक स्वरूप को सेबाइन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है –

''न्याय वह बन्धन है जो मानव–समाज को एकता के सूत्र में बांधता है। यह उन व्यक्तियों के पारस्परिक ताल–मेल का नाम है, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी–अपनी शिक्षा–दीक्षा एवं प्रशिक्षण के अनुसार अपने–अपने कर्त्तव्यों को चुन लिया है और उनकी अनुपालना भी करते है। यह एक व्यक्तिगत सद्‌गुण और सामाजिक सद्‌गुण भी है, क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यों का समान रूप से हित साधन होता है।''[1] स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार ''जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन करता है वह न्यायप्रिय है, और जिस समाज में विभिन्न वर्गो के सदस्य अपने–अपने कार्य अपनी–अपनी योग्यता एवं शुचि के अनुसार चुनते है और करते है, वह समाज या राज्य न्याय–परायण या न्यायनिष्ठ है।''[2]

अरस्तू का न्याय सिद्धान्त :–

अरस्तू ने 'Politics' में न्याय सम्बन्धी विचारों का वर्णन किया है। यूनान के प्रायः सभी विचारक न्याय की महत्ता को स्वीकार करते थे और अरस्तू भी उन विचारों से अछूता नहीं बच सका है। अरस्तू के अनुसार, ''न्याय का सरोकार मानवीय सम्बन्धों के नियमन से है।''[3] अरस्तू ने न्याय की समस्या पर इस दृष्टि से विचार किया कि व्यक्तियों के आपसी लेन–देन में या राज्य के पदो के वितरण में किन–किन नियमों का पालन होना चाहिये।

---

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास पृष्ठ – 58
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 58
3. ओ. पी. गावा – समकालीन राजनीति सिद्धान्त पृष्ठ – 213

अरस्तू के अनुसार "सम्पूर्ण ज्ञान का उद्देश्य लोक कल्याण है।"[1] न्याय समस्त गुणों का समूह है। वह न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये इसके दो भेद करता है – (1) सामान्य न्याय (2) विशेष न्याय

सामान्य न्याय से उसका अभिप्राय पड़ोसी के प्रति किये जाने वाले भलाई के कार्यो से। सामान्य न्याय में नैतिक गुण एवं अच्छाई के सब काम आ जाते है अच्छाई के सभी कार्यो सभी सद्गुणों तथा समय साधुता को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है।

विशेष न्याय को वह आनुपातिक समानता के अर्थ में लेता है अर्थात् जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिये उसकी प्राप्ति इस कोटि में आती है। विशेष न्याय को अच्छी तरह से समझान की दृष्टि से अरस्तू इसे पुनः दो उपभेदों में बाँटता है –

वितरण न्याय :–

वितरण न्याय का सरोकार सम्मान या धन सम्पदा के वितरण से है। यह विधायक के विचार – क्षेत्र में आता है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि "समान लोगों के साथ समान बर्ताव किया जाये।"[2] इसके लिये सबसे पहले यह पता लगाना जरूरी है कि नागरिकों को किस आधार पर समान या असमान माना जायेगा ? अरस्तू का विचार था कि इस मामले में प्रचलित प्रथाओं और प्रथागत कानून का सहारा लेना अधिक उपयुक्त होगा; लिखित कानून इतने उपयुक्त सिद्ध नहीं होगे क्योंकि इन्हें सत्ताधारी जब चाहे, बना सकते है या बदल सकते है। अरस्तू ने चेतावनी दी है मनुष्यों के चरित्र को बदलना उतना सरल नहीं है जितनी सरलता से कानून बदल दिये जाते है।

अरस्तू ने तर्क दिया है कि वितरण न्याय के अन्तर्गत पद–प्रतिष्ठा और धन–सम्पदा का वितरण अंकगणितीय अनुपात से नहीं होना चाहिये बल्कि रेखागणितीय अनुपात से होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इनमें से सबको बराबर हिस्सा नहीं मिलना चाहिये बल्कि प्रत्येक को अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार हिस्सा मिलना चाहिये। अरस्तू का कहना है कि, "न्याय के अनुसार धन, स्वतंत्रता एवं समानता आदि को आधार न मानकर सद्गुण को आधार मानना

---

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास पृष्ठ – 155
2. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीति सिद्धान्त पृष्ठ – 213

चाहिये।"[1] जो जितने सद्‌गुण सम्पन्न होंगे, उन्हें उतने ऊँचे पद और पुरस्कार के योग्य समझा जायेगा, क्योंकि सद्‌गुणवान् मनुष्य ही सांसारिक पद–प्रतिष्ठा और धन सम्पदा को गौण मानते हुये मानव जीवन के ध्येय को सबसे ऊँचा स्थान देगा।

2. संशोधनात्मक या सुधारात्मक न्याय :–

सुधारात्मक न्याय एक नागरिक के दूसरे नागरिक के सम्बन्ध को नियंत्रित करता है। यह मुख्य रूप से अभावात्मक है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाले दोषों को ठीक करके उनमें यह संशोधन करता है। अरस्तू के अनुसार, "किसी व्यक्ति की योग्यता, अयोग्यता या सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं बरता जायेगा बल्कि सबको समान मानते हुये केवल व्यक्ति के कृत्य पर विचार किया जायेगा।

अतः अरस्तू के 'वितरण न्याय' के अन्तर्गत 'योग्यता' की संकल्पना इसकी आधुनिक संकल्पना से सर्वथा भिन्न है। आधुनिक अर्थ में योग्यता व्यक्ति के अपने गुणों और अपने 'कृत्य' से निर्धारित की जाती। परन्तु अरस्तू प्रचलित परम्परा को योग्यता के मानदंड का स्रोत बना देता है जिस पर व्यक्ति का अपना कोई वश नहीं है। दूसरी ओर, संशोधानात्मक न्याय का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के अपने 'कृत्य' से है, अतः कुछ हद तक यह योग्यता के आधुनिक अर्थ के निकट आ जाता है। अरस्तू न्याय का निरूपण करते हुये 'यथास्थिति' का समर्थक सिद्ध होता है।

काण्ट के विचार :–

काण्ट को आधुनिक काल में आदर्शवाद का जन्मदाता माना जाता है। काण्ट ने राज्य को नैतिक संवास माना है। इसका उद्‌देश्य ही व्यक्ति के लिये नैतिक व न्यायपूर्ण संगत जीवन को संभव बनाना है। काण्ट के अनुसार बिना राज्य के समाज में नैतिकता सम्भव नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में सद्–संकल्प के साथ–साथ माया, मोह, ममता एवं स्वार्थ इत्यादि अनेक दृढ़ प्रवृत्तियाँ भी होती है जो उसको नैतिकतापूर्ण जीवन व्यतीत नहीं करने देती। इनसे घिरकर व्यक्ति दूसरों के न्याय संगत जीवन में भी बाधक होता है। समाज की सुरक्षा व शान्ति को भंग करता है। विधियों का उल्लघंन करता और वासनाओं का दास होकर अपने विवेक की अवहेलना करता है और एक अनैतिक जीवन व्यतीत करता है।

---

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास पृष्ठ – 157

विभिन्न व्यक्तियों की स्वतंत्रता में बाधा न पहुँचे, समाज में न्याय, सुरक्षा एवं शान्ति बनी रहे इसके लिये राज्य की आवश्यकता होती है। काण्ट के मतानुसार, "राज्य एक ऐसी संस्था है जो अपनी विधियों द्वारा जो सर्वव्यापक विवेक (Unibersal reason) का प्रतीक है, नैतिकतापूर्ण है मनुष्य की अनैतिक इच्छाओं का दमन कर उनको नैतिकतापूर्ण न्याय संगत जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करती है। राज्य इसी अर्थ में नैतिक स्वतंत्रता के रास्ते में आने वाली बाधाओं की बाधा है।"[1]

वह एक ऐसी सामाजिक अवस्था पैदा करने का यंत्र है जिसमें नैतिकता का विकास संभव होता है और मानवता का सही राज्य धीरे–धीरे स्थापित होता है।"[2]

राज्य का कार्य सार्वभौमिक कानूनों व नियमों का संचालन जो अनिवार्य रूप से व्यक्ति और पूरी मानवता के लिये एक प्रकार के आदेश होते है और इनका पालन उसके लिये हितकारी है। काण्ट के अनुसार व्यक्ति की हर प्रकार की इच्छा न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकती उसे केवल ऐसी इच्छाओं की पूर्ति करनी चाहिये जो विवेकपूर्ण हो अथवा सर्वव्यापी हो न कि स्वार्थी। दूसरे शब्दों में केवल अपने स्वतंत्र नैतिक संकल्प के आदेशानुसार कार्य करने में ही व्यक्ति स्वतंत्र है।

बार्कर के अनुसार, "Kant interpreted freedom as the right to will a self imposed imperatice of duty."[3]

केवल राज्य ही व्यक्ति को अपने नैतिक कर्त्तव्य को कार्यान्वित करने और अधिकारों के उपभोग करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। इसलिये राज्य के नियम स्वतंत्रता विरोधी न होकर पोषक है। इस प्रकार राज्य विधियों नैतिकता व न्याय को व्यावहारिक रूप से क्रियान्वित करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये वह सर्वशक्तिशाली है। उसकी सब व्यक्तियों सम्पत्ति व अन्य संप्रासो पर प्रधानता है। इसलिये व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये। राज्य का विरोध न्यायसंगत नहीं है। वह सब व्यक्तियों के नैतिक संकल्पों का प्रतिनिधि एवं संरक्षक है। अतः राज्य का विरोध अनैतिक, उसकी आज्ञाओं का पालन करना ही न्यायसंगत है, क्योंकि इसी में व्यक्ति की स्वतंत्रता व नैतिक विकास निहित है।

---

1. के. एन. वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग–2, पृष्ठ – 99
2. पूर्वोक्त – 100
3. पूर्वोक्त पृष्ठ – 98

हीगल के विचार :–

हीगल ने राज्य को सर्वोच्च एवं शक्तिशाली माना। राज्य में व्यक्ति पूर्णतया विश्वात्मा (Universal spirit) को प्राप्त करने में सफल होता है अर्थात् राज्य जीवात्मा व विश्वात्मा के एक हो जाने का प्रतीक है। राज्य मानव विकास की चरम तथा अन्तिम सीमा है। हीगल ने अपने द्वन्दवाद द्वारा यह सिद्ध किया है कि राज्य सामाजिक दृष्टि से मानव प्रकृति का चरमोत्कर्ष है, इसलिये वह विश्वात्मा अथवा ईश्वर तुल्य है। हीगल ब्रह्मात्मा की जिस विकास श्रृंखला से राज्य का जन्म होता है उसका क्रम हीगल ने इस प्रकार सुनिश्चित किया है (1) काल्पनिक विवेक (Abstract Reason) (2) आन्तरिक नैतिकता (Subjective Morality) (3) सामाजिक आचार

इन तीनों द्वारा ही ब्रह्मात्मा विकसित होती है। काल्पनिक विवेक का जब बाह्य जगत की वस्तुओं से संयोग होता है तो सम्पत्ति, अनुबन्ध तथा अपराध इत्यादि की सृष्टि होती है इनको नियमित करने के लिये कानूनों की आवश्यकता होती है। यह नियमन आन्तरिक और बाह्य दो रीतियों द्वारा हो सकता है। आन्तरिक नियमन को नैतिकता (Morality) कहते है और बाह्य नियमन "सामाजिक आचार" का रूप धारण करता है। सामाजिक आचरण जिन संस्थाओं द्वारा व्यक्त होता है उनमें परिवार (Family) समाज (Society) और राज्य (State) प्रमुख है। इन तीनों में राज्य सर्वोपरि है। उसके अनुसार, "राज्य का विकास द्वन्दात्मक रीति से हुआ है और उसकी प्रत्येक अवस्था परिवार, गोत्र, समाज, राज्य में विश्वात्मा सक्रिय रही है। अतः राज्य केवल विश्वात्मा के प्रस्फुटन होने का दृश्य मात्र है। राज्य और व्यक्ति एक चेतना की अभिव्यक्ति के भिन्न–भिन्न रूप है पर राज्य में वह सार्वभौमिकता होती है और व्यक्ति में केवल आन्तरिक और सीमित। अतः राज्य की सदस्यता के द्वारा व्यक्ति अपनी सार्वभौमिकता को प्राप्त कर लेता है।"[1]

राज्य में विलीन हो जाने पर ही व्यक्ति स्वतंत्र हो सकता है और उसके आदेशों का पालन करने से ही उसका विकास सम्भव है। अतः राज्य के विरूद्ध व्यक्ति का कोई अधिकार न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। राज्य एक साधन न होकर एक साध्य है।[2] हीगल लिखते है कि, "व्यक्ति का सारा मूल्य और महत्व और उसकी सम्पूर्ण आध्यात्मिक यथार्थतता जो कुछ

---

1. के. एन. वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग–2, पृष्ठ – 118

2. पन्त, गुप्ता, जैन, राजनीति शास्त्र के आधार पृष्ठ – 614

उसे उपलब्ध है, वह सब राज्य के माध्यम से ही संभव है।"[1]

राज्य का सदस्य बनकर उसके कानूनों का पालन करने के लिये बाध्य होता है इस बाध्यता के कारण उसकी अनैतिक स्वेच्छाचारिता प्रवृत्ति शनै–शनै घुलती जाती है और पूर्ण रूप से नैतिक हो जाता है तथा व्यक्ति की आन्तरिक चेतना कानूनों का पालन करती है तो व्यक्ति की स्वतंत्रता और सार्वभौमिक इच्छा के बीच अन्तर समाप्त हो जाता है। "कर्त्तव्य में ही व्यक्ति अपनी मुक्ति प्राप्त करता है। उसी में वह अपनी तात्विक स्वतंत्रता प्राप्त करता है।"[2]

अतः हीगल राज्य निर्मित कानूनों के पालन को स्वतंत्रता और न्याय का पर्यायवाची मानता है। परन्तु व्यवहार में इस विचारधारा ने राजाओं की निरंकुशता और मनमानेपन को जन्म दिया। स्वतंत्रता एवं मानवीय विवेक का कोई अस्तित्व नहीं रहा। यह अवस्था पूर्णतया न्याय के विरूद्ध थी। इसकी पराकाष्ठा नाजीवाद, फांसीवाद और स्पेन, जापान के सैनिक शासन में देखी जा सकती है। अतएव बाद के आने वाले वर्षों में न्याय की लड़ाई मानवाधिकारों, विशेषकर स्वतंत्रता और समानता की लड़ाई हो गई और इसके लिये यह आवश्यक हो गया कि शासन सीमित हो जनप्रतिनिधि मूलक हो और जनमत एवं जनसहमति पर आधारित हो।

ग्रीन के विचार :–

ग्रीन राज्य को आदर्शवादी परम्परा के अनुसार नैसर्गिक और अनिवार्य संस्था मानता है । उसके अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है जो व्यक्ति की आत्म उन्नति के लिये आवश्यक है। ग्रीन के अनुसार, "राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है।"[3] क्योंकि मानव चेतना युक्त प्राणी है। उसकी चेतना निरन्तर श्रेष्ठ जीवन की खोज में रत रहती है। श्रेष्ठ जीवन पूर्णतः प्राप्त करने का दूसरा नाम है। यद्यपि समाज में रहने वाले व्यक्तियों की नैतिक चेतना, एक दूसरे के अधिकारों का आदर करती है। किन्तु उनका वासनात्मक संकल्प अर्थात् वासना जनित इच्छायें दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने हेतु प्रेरित करती है जब ऐसा होता है तो जिस व्यक्ति के अधिकारों पर प्रहार किया गया है उसके नैतिक विकास में बाधा पड़ जाती है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि सब मनुष्यों तथा शक्तियों का दमन किया जाये जो नैतिकता के मार्ग में बाधक हो। प्रश्न उठता है कि अधिकारों का संरक्षक बल प्रयोग करने वाली शक्ति कौन हो

1. पन्त, गुप्ता, जैन – राजनीति शास्त्र के आधार, पृष्ठ – 614
2. Philosophy of History, Page No. 40-42 उघृत – के0 एन0 वर्मा, पृष्ठ – 120
3. आर0 एल0 सिंह, एस0 के0 दुबे, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, पृष्ठ – 366

सकती है ? ग्रीन के अनुसार यह शक्ति स्वयं सामाजिक चेतना है, जो राज्य की संस्था द्वारा अपनी इच्छाओं एवं आदेशों को कार्यान्वित कराती है इस प्रकार राज्य मनुष्य की व्यक्तिगत और समाज की सामूहिक नैतिक चेतना का प्रतिरूप है। जिसका लक्ष्य है कि – सामाजिक व्यवस्था को नियमित करे कि मनुष्य उन सब अधिकारों का उपभोग कर सके जो नैतिक विकास के लिये आवश्यक है। इस प्रकार राज्य की रचना बल प्रयोग न होकर व्यक्तियों के संकल्प में होती है।

ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र सत्जीवन के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को बाधा पहुँचाना है। यदि निरक्षरता सद्जीवन के लिये बाधा है, तो राज्य का कर्त्तव्य है कि निरक्षरता को दूर करे। यदि मद्यपान से बाधा है तो मद्यनिषेध करे। ये सामाजिक नियंत्रण के उदाहरण है यद्यपि ये व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रकट रूप से सीमित करते, परन्तु वास्तव में यह स्वतंत्रता को साकार बनाते है। उसके अनुसार, स्वतंत्रता नकारात्मक नहीं वरन् सकारात्मक है इसका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक विकास से है। स्वतंत्रता उन कार्यो को करने या उन आनन्दों को भोगने की शक्ति है। जो कि नैतिक दृष्टिकोण से वांछनीय है।''[1]

स्वतंत्रता की इस नई संकल्पना को सार्थक करने के लिये ग्रीन ने अधिकारों का सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि अधिकार स्वतंत्रता में छिपे रहते है। क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ है सबको आत्म विकास की समान परिस्थितियों में जीने का अवसर मिले, अधिकारों की तरह राज्य भी मनुष्य की नैतिक चेतना से जन्मा है। राज्य 'सर्वहित' (Common good) को बढ़ावा देता है। राज्य को ऐसे कार्य नहीं करने चाहिये जिनमें सद् इच्छा के आत्म निर्णय में कोई रूकावट आये।

सामाजिक न्याय की धारणा में यह बात निहित है कि अच्छे जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिये। महिलाओं को दयनीय स्थिति, आवासों की शोचनीय हालत, सामन्तवादी शोषण, श्रमिकों की दरिद्रता जैसी चीजों पर चिन्ता व्यक्त करते हुये ग्रीन ने राज्य से यह अपेक्षा की है कि ''राज्य को इन चीजों पर हस्तक्षेप करना चाहिये और व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर जो खिलवाड़ किया जाता है उसे बन्द करना चाहिये।''[2]

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रबल समर्थन किया है और इसके प्रयोग की पूर्ण स्वतंत्रता भी व्यक्ति को प्रदान कर दी है। उनका सम्पत्ति का औचित्य इस बात पर आधारित है कि ''प्रत्येक को अपनी सद्इच्छा की उपलब्धि व विकास के लिये अपने साधन ढूढ़ने और उसे

1. पन्त, गुप्ता, जैन, राजनीति शास्त्र के आधार पृष्ठ – 622

2. के. एन. वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें पृष्ठ – 146, भाग– 2

बनाये रखने में समाज का संरक्षण प्राप्त होना चाहिये क्योंकि सदिच्छा के सामाजिक हित की संभावना निहित होती है।(1)

इस प्रकार ग्रीन ने सम्पत्ति का औचित्य सामाजिक कल्याण रखा है, वहीं उन्होंने इसके प्रयोग की पूर्ण स्वतंत्रता व्यक्ति को प्रदान कर दी है। सम्पत्ति का अधिकार पर हस्तक्षेप वह तभी वांछनीय मानते है जबकि इसके व्यक्तिगत प्रयोग अन्य व्यक्तियों के अधिकार या सामाजिक जीवन में बाधा आये। इस प्रकार ग्रीन राज्य को अधिकार स्वतंत्रता व नैतिकता तीनों के लिये आवश्यक मानता है। परन्तु हीगल की तरह वह राज्य को निरंकुश नहीं मानता। वास्तव में आदर्शवादी होते हुये भी उसके दर्शन में व्यक्ति का सर्वोच्च स्थान है। यहाँ तक कि उसने व्यक्ति को उस स्थिति में राज्य की आज्ञा के प्रतिरोध का अधिकार दिया जब समाज की सामूहिक चेतना निश्चित अनुभव करे कि राज्य के आदेश समाज के नैतिक विकास में बाधक सिद्ध हो रहे है।

न्याय का उदारवादी दृष्टिकोण :–

उदारवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो सामंतवाद के पतन के बाद राजनीति को बाजार अर्थव्यवस्था के अनुरूप मोड़ देने के लिये अस्तित्व में आया। मैक्गवर्न के अनुसार, ''एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उदारवाद दो पृथक तत्वों का मिश्रण है, इनमें से एक लोकतंत्र है और दूसरा व्यक्तिवाद।'' इस प्रकार उदारवाद का सार यह है कि मनुष्य प्रकृति से ही स्वतंत्र उत्पन्न होता है, स्वतंत्रता उसका जन्म सिद्ध अधिकार है। इसलिये मनुष्य को अपने विवेक के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। उदारवाद के अनुसार समस्त मानवीय व्यवस्था का केन्द्र व्यक्ति है। राज्य, समाज और अन्य संस्थायें व्यक्ति के कल्याण के साधन मात्र है। समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति को ही केन्द्र–बिन्दु मानकर होना चाहिये।

उदारवाद के ऐतिहासिक विकास क्रम में क्रमशः चिरसम्मत उदारवाद और आधुनिक उदारवाद आते है।

शुरू–शुरू में उदारवाद का जो रूप इंगलैण्ड में विकसित हुआ उसे चिर–सम्मत उदारवाद की श्रेणी में रखा जाता है। यह वैयक्तिक अधिकारों की सांविधानिक गांरटियों की मांग तक सीमित था। बाद में आर्थिक और राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्यक्रम से सम्बन्धित

---

1. के. एन. वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें भाग–2 पृष्ठ – 146

प्रश्न भी उसकी परिधि में आ गये। चिरसम्मत उदारवाद के विकास में अंग्रेज उपयोगितावादियों और उनके राजनीतिक सहयोगियों ने भी महत्वपूर्ण योग दिया। बेन्थम और मिल ने जिस अंग्रेजी उपयोगितावाद की नींव रखी, उसने राजनीतिक उदारवाद को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उसने आर्थिक उदारवाद को राजनीतिक कार्यक्रम के साथ समन्वित करने का प्रयत्न किया। अतः उपयोगितावादी मत को पहले विस्तृत उदारवादी दर्शन की उपाधि देना सही होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में चिरसम्मत उदारवाद और उससे जुड़ी हुई चिन्तन परम्पराओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया। परवर्ती उदारवाद ने विशेषतः ग्रेट–ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका में, परन्तु साधारणतः सर्वत्र स्वतंत्रता के नकारात्मक पक्ष को उतना महत्व नहीं दिया जितना उसके सकारात्मक पक्ष को दिया। दूसरे शब्दों में, उसने 'न्यूनतम' शासन की संकल्पना को अपना मूलमंत्र नहीं माना। जब उदारवाद के साध्यों में यह परिवर्तन आया तब उसके लिये नई विधियों का अविष्कार हुआ। उसका मूलभूत आदर्श तो वही रहा – सर्वत्र स्वतंत्र व्यक्ति परन्तु इस आदर्श का अर्थ और उसकी सिद्धि के साधन बदल गये। इस संशोधन का मुख्य कारण था स्वयं उदारवाद की सफलता । उसने जितनी राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता चाही थी, प्राप्त कर ली थी। अतः उसने 'अहस्तक्षेप' की मांग की, जो व्यक्ति को सच्ची स्वतंत्रता दिला सके। आधुनिक उदारवाद के अन्तर्गत लॉक, लास्की, हाबहाउस, स्पेन्सर के विचार प्रमुख है।

अतएव चिरसम्मत उदारवाद और आधुनिक उदारवाद तक आते–आते न्याय और उससे जुड़ी चिन्तन परम्पराओं में निरन्तर परिवर्तन होता गया।

चिरसम्मत उदारवाद :–

उपयोगितावाद का मुख्य प्रवर्तक बेन्थम (1748–1832) है। जान स्टुअर्ट मिल ने (1806–73) ने इसकी कुछ बुनियादी मान्यताओं में संशोधन करते हुये इसकी परम्परा को बढ़ाया। उपयोगितावाद नैतिकता, राजनीति और विधि–निर्माण का वह सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत किसी कृत्य, नियम, नीति या निर्णय को इस आधार पर उचित या अनुचित मानते है कि वह प्रभावित व्यक्तियों के सुख या आनन्द को कितना बढ़ाता है या कम करता है ?

अपनी विख्यात कृति 'Introduction to principles of Morals & Legislation' के प्रथम वाक्य में ही बेन्थम ने लिखा – 'प्रकृति ने मनुष्य को दो सम्प्रभुओं के नियंत्रण में रख दिया है – दुख और सुख यह केवल उनकी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम यह जाने कि हमारे लिये क्या

करना उचित है और यह निश्चय करे कि हम क्या करेंगे ? बेन्थम की धारणा है कि, ''मनुष्य प्रत्येक कार्य सुख और दुख के रूप में परिणाम का अनुमान लगाकर ही आरम्भ करता है; अर्थात् वह वही करता है जिसमें अधिकाधिक सुख की उपलब्धि हो और जिसके करने से कम से कम दुख उठाना पड़े।''[1]

दुख की कल्पना मात्र से ही मनुष्य घबरा जाता है और सुख की आशा से वह उत्साहित होता है क्योंकि सुख ही उसका अन्तिम उद्देश्य है। बेन्थम ने प्राचीन यूनानी दार्शनिक एपीक्यूरस के इस विचार को नये सन्दर्भ में दोहराया कि, ''बेन्थम के अनुसार किसी वस्तु या कार्य के सुख, आनन्द, प्रसन्नता, लाभ देने या दुख, क्लेश, हानि निवारण करने के गुण को ही उपयोगिता कहते है। अतः जब सम्पूर्ण समाज के लिये किसी नीति का निर्माण करना हो तो उसका सर्वोपरि सिद्धान्त अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख (या आनन्द) होना चाहिये।

बेन्थम का विचार था कि, ''व्यक्ति की संतुष्टि ही उपयोगिता का मानदण्ड है और न्याय, नैतिकता, धर्म, राजनीति, आचार, वैधानिक व्यवस्था अथवा कानून इत्यादि के भी यही मापदण्ड है। बेन्थम के अनुसार, ''यदि कंचे खेलने और कविता पढ़ने से प्राप्त होने वाले सुख की मात्रा समान हो तो उनके सुख का स्रोत क्या है – इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।''[2]

बेन्थम के अनुसार, ''राज्य व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो लोगों के लिये उपयोगिता को बनाये रखने तथा उसकी अभिवृद्धि करने के लिये संगठित किया जाता है अर्थात् हित या सुख की वृद्धि के लिये कायम किया जाता है।''[3]

बेन्थम राज्य निर्माण के पीछे किसी सामाजिक सम्विदा जैसे सिद्धान्त को निरर्थक मानते है। राजा को आज्ञा का पालन, उनके मत में, लोग इसलिये नहीं करते कि ऐसा करने को उन्होंने कभी कोई समझौता किया था । बल्कि इसलिये करते है क्योंकि ऐसा करने में उनके हित का सम्पादन होता है। राज्य का कार्य लोगों के सुखमय जीवन को प्रतिफलित करना है, यही उसकी उपयोगिता है और इसके लिये ही राज्य कानून और दण्ड का सहारा लेता है। राज्य की विधियाँ मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिये ही उपयुक्त होती है चाहे भले ही वे स्वच्छन्दता की विरोधिनी हो। नियंत्रण सुख को बढ़ाने का साधन भी है, वह केवल स्वतंत्रता को प्रतिबन्धित

1. के. एन. शर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें भाग–2 पृष्ठ – 9

2. ओ. पी. गावा – समकालीन राजनीति सिद्धान्त – पृष्ठ – 224

3. के. एन. शर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधासयें, भाग–2, पृष्ठ – 18–19

नहीं करता। राज्य व्यक्ति के ही कल्याण के लिये है और व्यक्ति ही राज्य की इकाई है। राज्य का कार्य केवल कानूनों का निर्माण है और कानूनों का कार्य लोगों में उपयोगितावादी प्रवृत्तियों का निर्माण करना और अनुपयोगी प्रवृत्तियों का निराकरण करना व उन्हें व्यक्ति के मार्ग से हटाना है।

बेन्थम ने ''राज्य के आदेशों की अवज्ञा करने का भी समर्थन किया है पर अवज्ञा का आधार उपयोगिता होना चाहिये।''(1) जब तक राज्य सर्वाधिक लोगों के कल्याण की कामना से कार्य करता है तब तक व्यक्तिगत रूप में उसके द्वारा हुई क्षति के आधार पर उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। वैसे बेन्थम ने कहीं भी स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं किया कि सार्वजनिक हित के सम्पादन में व्यक्तिगत अहित भी हो सकता है। बेन्थम का राज्य सम्प्रभु है, वह असीमित शक्ति से सम्पन्न है, वह अपने आदेशों के पालन हेतु लोगों को बाध्य कर सकता है। पर यदि 'अवज्ञा' की उपयोगिता अधिक हो तो ऐसे सम्प्रभु की अवज्ञा प्रत्येक नागरिक का नैतिक अधिकार व नैतिक कर्त्तव्य है।

इंग्लैड़ की तत्कालीन परिस्थितियों में कानून निर्माण तथा न्याय व्यवस्था की स्थिति बहुत अधिक पक्षपातपूर्ण और सामन्तवर्गीय थी । कामन्स सभा तब सही लोकतांत्रिक भावना को प्रतिबिम्बित नहीं करती थी क्योंकि सभी वर्गो का उनमें यथोचित प्रतिनिधित्व हीं नहीं था।

बेन्थम ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य कानून सुधार के क्षेत्र में किया क्योंकि उसका विश्वास था कि व्यक्ति प्रसन्नता अच्छे कानूनों के होने और उनके सुचारू रूप से कार्यान्वित होने पर ही निर्भर है। इसलिये उसके अनुसार कानून और नैतिकता का बड़ा निकट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को उसने एक नये शब्द 'Deontology' के द्वारा प्रकट किया। वास्तव में बेन्थम के समय की परम आवश्यकता कानूनों में सुधार व व्यवस्था लाना था, इसलिये कानूनों का वर्गीकरण संग्रहण अथवा संहिताकरण करने का सार उसने अपने ही ऊपर ले लिया और प्रसन्नतापूर्वक वह इंग्लैड़ के सम्पूर्ण कानूनों को संहिता बन्धन कर देता यदि सरकार से उसे प्रोत्साहन मिलता। बेन्थम का विश्वास था कि कानून सरल से सरल भाषा में होना चाहिये ताकि लोगों को उसके समझने में कोई कठिनाई न हो। बेन्थम ने कहा कि ''प्रत्येक कानून की कसौटी उसकी उपयोगिता है।''(2) अर्थात् कानून का उद्देश्य जन कल्याण की वृद्धि करना है।

---

1. पूर्वोक्त – 19
2. पन्त, गुप्ता, जैन – राजनीतिक शास्त्र के आधार, पृष्ठ – 563

कानून और स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोधी हो ऐसा बेन्थम नहीं मानता। उनके विचार में अच्छे कानून से अधिक से अधिक नागरिक स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। प्राकृतिक स्वतंत्रता या स्वछन्दतता कम हो जाती है। बेन्थम राज्य में सभी का अधिकार बराबर मानते है। पर बराबरी का अर्थ यह नहीं कि उनकी सम्पत्ति, पद और स्थिति सब बराबर हो । बल्कि यह कि असमानता विवेकपूर्ण तथ्यों पर आधारित होगी दूसरे शब्दों में समानता उपयोगिता पर आधारित होगी। प्राकृतिक अधिकार के आधार पर कोई समानता बेन्थम को मान्य नहीं।

बेन्थम ने आर्थिक न्याय के लिये एडम स्मिथ के विचारों का समर्थन किया। उनकी सम्पत्ति में, व्यापार राज्य के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिये और व्यक्ति को अपने ढंग से कार्य करने के लिये स्वतंत्र कर देना चाहिये । बेन्थम ने सम्पत्ति के क्षेत्र में, लाभ के उन सारे तर्को पर अपने समर्थन की मोहर लगा दी जिन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति के संरक्षण में प्रस्तुत किया गया था। बेन्थम ने जहाँ स्वतंत्रता, समानता जैसे प्राकृतिक अधिकारों की भर्त्सना की वही सम्पत्ति के अधिकार को मान्य कर दिया क्योंकि सम्पत्ति को वह सुख का साधन मानता है। उनके अनुसार, "राज्य का कर्त्तव्य है कि अपने कानूनों द्वारा यह प्रयास करें कि जहाँ तक हो सके सम्पत्ति का बंटवारा न्यायोचित और समान हो।"(1)

मिल के विचार :–

बेन्थम की तरह मिल ने इस बात को आरम्भ में ही स्वीकार किया है कि जीवन में मनुष्य का लक्ष्य सुखों की उपलब्धि और दुखों से बचना है। यही जीवन का सिद्धान्त है और सारी नैतिकता इसी सिद्धान्त पर आधारित है। लोग वही करते है जिनमें सुख मिलता है या जो सुख का उत्पत्ति करते है, और यही उपयोगिता है। मिल के अनुसार, "वही कार्य उचित व न्याय संगत है जिसका उद्देश्य सुख प्राप्त करना हो और जिसे करने में व्यक्ति की भावना व उद्देश्य अच्छे हो।"(2) इस प्रकार किसी कार्य या वस्तु का अच्छा या बुरा होना उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है।

मिल ने बेन्थम की इस अनोखी मान्यता का खण्डन किया कि सुखों में सिर्फ परिणामात्मक अन्तर होता है। मिल ने लिखा कि "जबकि सभी चीजों के मूल्यांकन में उनके गुण

---

1. के. एन. वर्मा – पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग – 2, पृष्ठ – 27–28

2. पंत, गुप्ता, जैन – राजनीति शास्त्र के आधार पृष्ठ – 565

और परिणाम दोनों की गणना की जाती है तो यह मानना मूर्खतापूर्ण होगा कि सुख केवल परिणाम पर ही निर्भर करते है।''[1]

मिल ने उच्चतर और निम्नतर सुखों में अन्तर करते हुये यह तर्क दिया कि मनुष्य केवल भौतिक सुखों के पीछे नहीं दौड़ता बल्कि अपनी नैतिक, बौद्धिक और कलात्मक अभिरूचियों की संतुष्टि की तलाश भी करता है। जो सुख मनुष्य की उच्चतर क्षमताओं से प्राप्त किया जाता है, वह अन्य सुखों की तुलना में उत्तम है। उच्चकोटि का सुख कम संतुष्टिदायक होने पर भी ग्राह्य है, निम्न कोटि का सुख अधिक संतुष्टिदायक होने पर भी त्याज्य है। मिल के शब्दों में, ''एक संतुष्ट सुअर होने से अंसतुष्ट मानव होना अच्छा है, एक संतुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना अच्छा है और यदि सुअर और मूर्ख इससे भिन्न मत रखते है तो उसका कारण यह है कि वे सुख का केवल अपना पक्ष ही समझ पाते है लेकिन इस तुलना का दूसरा पक्ष (अर्थात् मानव और सुकरात) दोनों पक्षों को जानता है।''[2]

मिल ने तर्क दिया कि मानव कल्याण के लक्ष्य की सिद्धि के लिये व्यक्ति ने अपने विशिष्ट मानवीय गुणों और मानवीय क्षमताओं का स्वतंत्र विकास जरूरी है।

मिल कहता है कि स्वयं समाज का एक नैतिक लक्ष्य है – प्रत्येक मनुष्य को सदाचारी बनाने का प्रयत्न करना। सदाचार में सबसे महत्वपूर्ण तत्व हमारी सामाजिक भावनायें है अतएव न्याय व सहानुभूति का समाज में विशेष स्थान है। इस प्रकार मिल यह सिद्ध करता है कि सार्वजनिक प्रसन्नता व्यक्ति की प्रसन्नता में कोई विरोध नहीं है। मिल को मनुष्य की स्वतंत्रता से इतना गहरा लगाव था कि उसने अपनी विचार प्रणाली के अन्तर्गत स्वतंत्रता को उपयोगितावाद का सर्वोपरि सिद्धान्त बना दिया।

मिल का यह मौलिक विश्वास था कि सामाजिक व राजनीतिक प्रगति के लिये व्यक्तिगत स्वातंत्रय व उत्साह अत्यन्त आवश्यक है, ताकि प्रत्येक मनुष्य अपना शारीरिक व मानसिक विकास पूर्णतया कर सके और समाज की भी उन्नति हो सके। मिल ने अपनी समकालीन अवस्था में यह देखा कि प्रजातन्त्रवाद में, बौद्धिक अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों द्वारा दमन होने के कारण अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर नहीं मिलता। परिणाम यह होगा कि समाज से एकरूपता समाप्त हो जायेगी और एक निर्जीव एकरूपता के कारण न व्यक्ति

1. के. एन. वर्मा – पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग – 2 ,पृष्ठ – 49

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 50

का ही विकास हो सकेगा और न समाज का ही। इसलिये मिल का मत था कि राज्य का परम उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों व उसकी स्वतंत्रता की रक्षा करना है ताकि वह अपने गुणों व अपनी योग्यताओं का यथाशक्ति विकास कर सके और सामाजिक प्रगति में भी अनुदाय दे सके। अतः मिल के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनों से मुक्ति, परन्तु स्वतंत्रता का आशय स्वच्छन्दता से नहीं है। व्यक्ति को अपना विकास करने की उस सीमा तक स्वतंत्रता है जहाँ तक वह दूसरों के अधिकारों पर प्रहार नहीं करता और अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों व कर्त्तव्यों का प्रतिपालन भली–भाँति करता है। इसके लिये व्यक्ति को वह विचार, भाषण और कार्य की स्वतंत्रता प्रदान करता है । मिल के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के विचार सामान्य व सार्वजनिक विचारों के पूर्णता विरूद्ध हो तो भी अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। उसे अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर देना चाहिये । उनका दमन नहीं होना चाहिये – He writes, "If all mankind minus one were of one opinion, and only one person were of the contrary opinion mankind would be no more justified in silenceing that one person, than he, if he had the power, would be justified in silenceing mankind."[1]

विचार व उसको प्रकट करने की स्वतंत्रता के साथ व्यक्ति के कार्य करने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिये । क्योंकि कार्य करने की व्यवहारिक स्वतंत्रता के अभाव में विचार व भाषण की स्वतंत्रता सारहीन हो जाती है। उसने व्यक्ति के कार्यो को दो भागों में बाँटा – (1) व्यक्ति को स्वयं प्रभावित करने वाले कार्य (Self regarding function) यह कार्य जो स्वयं व्यक्ति से ही सम्बन्धित होते है मनुष्य के ऐसे कार्यो पर कोई रोक–टोक लगाना न्यायसंगत नहीं है उदाहरण स्वरूप यदि कोई व्यक्ति अपने घर की चाहार–दीवारी में बैठकर जुआ खेलना या शराब पीना चाहता है तो उसे स्वतंत्रता होनी चाहिये क्योंकि इन कार्यो का अन्य समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[2] अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करने वाले कार्य (Other regarding activities) ये वे कार्य है जिनका समाज के अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् जो दूसरों की स्वतंत्रता व अधिकारों के लिये हानिकारक हो सकते है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की कार्य स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते है और वे न्यायसंगत है.। उदाहरण के लिये, कोई व्यक्ति शराब पीकर सड़क पर हुल्लड मचाये, दूसरे नागरिकों को तंग करे।[3]

1. Mill : On Liberty Quated on Pant, Gupta, Jain - Rajniti Shatra ke Aadhar - P. N. - 574

2. आर. एल. सिंह, एस. के. दुबे – प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, पृष्ठ – 312

3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 312

अतः व्यक्ति की कार्य स्वतंत्रता के सन्दर्भ में राज्य का हस्तक्षेप नकारात्मक है वह केवल तभी हस्तक्षेप कर सकता है जब एक व्यक्ति के कार्यो से दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है।

आर्थिक क्षेत्र में, मिल ने उन्मुक्त प्रतियोगिता और निजी उद्यम का समर्थन किया है। निजी सम्पत्ति का संचय करना व्यक्ति का अधिकार है और राज्य को यदभाव्यम् का ही पालन करना चाहिये परन्तु मिल अपने समय की आर्थिक विषमताओं एवं अन्याय से बहुत विचलित हुआ। केवल कुछ ही गिने–चुने सामन्तों के हाथ में भौतिक सम्पत्ति का जमा होना, पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण इत्यादि सामाजिक आर्थिक अन्यायों ने मिल को अपने उपयोगितावाद में संशोधन करने एवं उसमें मानवतावादी तथ्यों का शामिल करने पर बाध्य कर दिया। राज्य को भूमिपतियों का भी सम्पूर्ण समाज के हित में नियंत्रण करने का अधिकार होना चाहिये । भूमि के सम्बन्ध में राज्य सार्वजनिक कल्याण के लिये कोई भी नियम बना सकता है। इसके लिये उदारवाद को नई दिशा दी । मिल के मुख्य सुझाव है : अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, उत्तराधिकार का परिमीसन, एकाधिकार पर राज्य का नियंत्रण, भू–सम्पत्ति की सीमायें निर्धारित करना, और ऐसे श्रम कानून बनाना जिनके अनुसार काम के घंटे निश्चित कर दिये जाये और कारखानों में बच्चों से मजदूरी न कराई जा सके, इत्यादि। इस तरह मिल ने जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता तथा सांविधानिक शासन प्रणाली की पैरवी की, वहाँ आर्थिक क्षेत्र में उसने उदारवादी मूल्यों के साथ समाजवादी मूल्यों का मणि–कांचन संयोग स्थापित करके उदारवाद को एक नई दिशा दी।

आधुनिक उदारवाद

लॉक के विचार :–

इंग्लैड़ के प्रसिद्ध विचारक जान लॉक को उदारवाद का जनक माना जाता है। लॉक के अनुसार, ''मनुष्य विवेकशील प्राणी है और वह स्वभाव से नैतिक नियमों का पालन करता है।''[1] मनुष्य अपनी विवेक–बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता को स्वीकार करके उसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है लॉक की प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्ति नैतिक दृष्टि से परस्पर समान है और उन्हें समान अधिकार प्राप्त है। दूसरे शब्दो में, मनुष्य मूलतः

1. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीति सिद्धान्त – 122

शालीन, व्यवस्थाप्रिय, मेलजोल में विश्वास रखने वाले और अपने ऊपर शासन करने में समर्थ होता है। अतः प्राकृतिक दशा, अर्थात् राज्य की उत्पत्ति से पहले की दशा साधारणतः शक्ति, सद्भावना, परस्पर सहायता और रक्षा की दशा होती है। प्राकृतिक दशा का नियंत्रण मानव विवेक पर आधारित प्राकृतिक विधि द्वारा होता है। प्राकृतिक नियमों से नियंत्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक अवस्था ''भ्रातत्व तथा न्याय भावना से आच्छादित थी।''[1]

परन्तु समस्या तब पैदा होती है जब कुछ स्वार्थी मनुष्य नैतिकता के नियमों की अवहेलना करके दूसरों के अधिकारों का हनन करने लगते है। जब तक कोई सत्ता विधिवत स्थापित न की जाये, ऐसे अपराधियों से निपटना मुश्किल है। यदि मनुष्य अपने मामलों पर स्वयं निर्णय देने वाले न्यायाधीश बन जाये तो न्याय नहीं हो पायेगा। परिणामतः जीवन असुरक्षित एवं अनिश्चितता और गड़बड़ी रोकने के लिये, नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने वाली निष्पक्ष न्यायकारी शासन सत्ता की आवश्यकता हुई। इस तरह ''लॉक को प्राकृतिक नियम को नियंत्रित करने, उत्तरदायित्व को पक्षपातपूर्ण व्यक्तियों से हटाकर अपेक्षाकृत निष्पक्ष समाज को सौंपने का अच्छा कारण मिल गया।''[2] इन दोष के निवारण के लिये मनुष्य नागरिक समाज या 'सिविल सोसाइटी' की स्थापना करते है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार के रूप में 'जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होते है। इन अधिकारों की रक्षा के लिये मनुष्य नागरिक समाज की रचना करते है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आपस में सामाजिक अनुबन्ध ा या सामाजिक समझौता करते है।

सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समझौता राज्य के सभी व्यक्तियों का सभी व्यक्तियों के साथ किया गया। इस प्रकार समझौते का स्वरूप सामाजिक था। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति ने सम्पूर्ण समाज को अपने वे अधिकार समर्पित कर दिये गये जिनके प्रयोग से प्राकृतिक अवस्था में अव्यवस्था फैलती थी। समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति की आतंरिक और बाह्य संकटों से रक्षा करना था। व्यक्तियों ने कुछ अधिकारों, जो अदेय थे अपने पास ही रखे, यथा जीवनाधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार जो राज्य शक्ति को मर्यादित करते है । और दूसरे प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने और उसे लागू करने वाला राज्य स्वयं भी उससे बाधित है। अतः राज्य 'व्यक्तियों के मन, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति के

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास, पृष्ठ – 420

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 424

प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करता है और साथ ही प्राकृतिक कानून का स्वयं भी पालन करता है।''[1]

समझौते द्वारा निर्मित समाज लोगों के अन्य अधिकारों एवं प्राकृतिक कानून का अतिक्रमण करने पर कर्त्तव्यच्युत होता है और तब जनता उसके विरूद्ध विद्रोह का अधिकारिणी है। लॉक का समाज ''दासता का पट्टा नहीं स्वतंत्रता का पत्र है।''[2] राज्य के बन जाने पर वह विवेक समाज के पास नहीं चला जाता बल्कि मनुष्य के पास ही रहता है अतः मनुष्य को उस पर नियंत्रण व निगरानी रखने का पूरा अधिकार है।

लास्की के विचार :—

लास्की का न्याय से तात्पर्य है 'प्रत्येक को वह प्रदान करना जो उसके जीवन के विकास के लिये आवश्यक हो''[3] और इसके लिये वह एक ऐसे वातावरण को कायम रखना चाहता है जिसमें व्यक्ति को अपने पूर्णत्व का अवसर प्राप्त हो। लास्की ने न्याय की स्थापना के लिये स्वतंत्रता और समानता की आवश्यकता पर जोर देते हुये कहा कि ''समानता न्याय की प्रारम्भिक अनिवार्य शर्त है।''[4] एक ऐसा ही समाज जिसमें सभी लोगों को आत्मविकास का समान अवसर मिले, स्वतंत्रता और न्याय का पोषक होता है और जिसके लिये वह विशेषाधिकारों की अस्तित्वहीनता व सभी के लिये अवसरों की समानता और पर्याप्तता की व्यवस्था करता है। लास्की ने ''व्यक्तित्व के विकास में कुछ अधिकारों को आवश्यक माना है जैसे भाषण की स्वतंत्रता, जीवन वृत्ति कमाने का अधिकार, पर्याप्त विश्राम पाने का अधिकार, संगठन का अधिकार, काम पाने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, न्यायिक समानता का अधिकार, मताधिकार, राजनीतिक अधिकार है।''[5]

उसके अनुसार, लोगों को बिना भेद—भाव के अपनी प्रतिभा और क्षमता को विकसित करने के समान अवसर उपलब्ध हो सके। एक न्यूनतम जीवन स्तर सभी को प्राप्त हो सके। एक न्यूनतम जीवन स्तर सभी को प्राप्त हो जिससे कि हर व्यक्ति अपनी क्षमताओं के अनुसार आत्म

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ — 424
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ — 424
3. के0 एन0 वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग—2, पृष्ठ — 525
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ — 525
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ — 526—527

विकास करके एक उपयोगी जीवन व्यतीत कर सके। ऐसा न्यूनतम जीवन स्तर हर व्यक्ति को प्रदान करने के लिये यदि कुछ व्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमित की जाने की आवश्यकता हो तो निःसंकोच किया जाना चाहिये।

लास्की यह प्रतिपादित करता है कि "अधिकारों की सही परिकल्पनाओं के लिये समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था जिसमें वर्ग–विशेषाधिकार का उल्लंघन कर दिया गया हो, अत्यन्त आवश्यक है।"

लास्की के अनुसार राज्य समाज का यन्त्र है और सामाजिक न्याय के लिये कार्य करता है । सामाजिक न्याय से उसका तात्पर्य ऐसे जीवन की व्याख्या है जो समानता और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों पर आधारित हो।[1] राज्य का कार्य लास्की के अनुसार, "विभिन्न समुदायों के हितों के बीच समायोजन और सामंजस्य जो स्वयं नैतिक न होकर भी नैतिक कर्त्तव्यों के लिये आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करता है।"[2] और यदि वह नहीं करता है तो उसकी अवज्ञा के लिये व्यक्ति स्वतंत्र है। लास्की कहता है कि, राज्य सत्ता का उद्‌देश्य समाज के सामान्य हितों की सिद्धि करना। तभी वह राज्य न्यायी होगा।" अतः लास्की के लिये न्याय एक लोकतांत्रिक समाजवादी राज्य में ही संभव है।

हरबर्ट स्पेन्सर :–

आधुनिक उदारवाद के अन्तर्गत हरबर्ट स्पेन्सर के विचार नकारात्मक उदारवाद में आते है। इंग्लैड़ के प्रसिद्ध विचारक 'हरबर्ट स्पेन्सर ने न्यूनतम शासन के सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। स्पेन्सर ने राज्य की उत्पत्ति तो अनुबन्ध से मानी है, जैसे कि किसी सीमित दायित्व कम्पनी (Limited liability company) की होती है। राज्य के कार्यो का वर्णन करते हुये स्पेन्सर ने केवल उसके निषेधात्मक कार्यो का उल्लेख किया है कि राज्य को क्या करना चाहिये? वे लिखते है –

राज्य को उद्योगों का नियंत्रण नहीं करना चाहिये उसे राजकीय चर्च स्थापित नहीं करने चाहिये। गरीबों को सहायता नहीं करनी चाहिये। उसे जनता के स्वास्थ्य एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था नहीं करनी चाहिये ? प्रकृति अपने विकास को एक निर्दय अनुशासन के

---

1. के. एन. वर्मा., पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग – 2, पृष्ठ – 533

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 533

साथ आगे बढ़ाती है और इस अनुशासन में कुछ का भरना व नष्ट होना आवश्यक है। यदि अक्षम नष्ट नहीं होगे तो एक सक्षम आगे कैसे बढ़ेगे ? यदि सरकार अपने सकारात्मक कार्यो द्वारा विकास के इस नियम में हस्तक्षेप करती है। उदाहरण के लिये शिक्षा का प्रबन्ध करके वह अक्षमों को सक्षमों की बराबरी में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरे प्रगतिशील बच्चों को रूढ़िवादी बनाकर उन्हें विकास के पीछे धकेल देती है।[1] शिक्षा के कारण अपराधों में भी कमी नहीं होती क्योंकि अशिक्षा का अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन संघर्ष में योग्यतम की विषय (Survival of the fittes in the struggle for life) – डार्विन के इस सूत्र को आधार बनाकर स्पेन्सर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राज्य या समाज की ओर से दीन–दुखियों की सहायता के प्रयत्न सामाजिक विकास में बाधक होगे। स्पेन्सर के अनुसार, ''प्रगति का अर्थ जीवन संघर्ष में जो लोग पिछड़ जाये उन्हे मर–खप जाने दिया जाये।''[2] स्पेन्सर ने समाज की संकल्पना जीवित प्राणी के समान की है। अपने "Principles of Sociology" में समाजरूपी जीव का वर्णन करते हुये स्पेन्सर ने बताया कि समाज एक जीव की तरह आगे बढ़ता और विकसित होता है। उसका निर्माण नहीं किया जाता। सरकार के द्वारा समाज को नियंत्रित करके उसकी वृद्धि को नहीं रोका जाना चाहिये।

स्पेन्सर आरम्भ से अन्त तक प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक रहे। अतः 'सोशल स्टेटिक्स' का मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान स्वतंत्रता मिलनी चाहिये, ताकि वह अपना विकास कर सके । व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल एक ही सीमा है वह यह है कि उसकी स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण न करती हो। उसके अनुसार व्यक्ति के दो रूप है – 1. बाह्य एवं 2. आंतरिक – बाह्य रूप में उसे स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है ताकि वह अपने को अपने वातावरण के अनुकूल बना सके। आन्तरिक रूप से व्यक्ति चेतना (Consciousness) है। उसमें न्याय, परोपकार आदि भावनायें होती है जिसके प्रभाववश वह दूसरे की स्वतंत्रता पर प्रहार करना अनुचित समझता है और दूसरे की स्वतंत्रता का आदर करने में ही अपनी सुरक्षा समझता है।

स्पेन्सर के अनुसार स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक अधिकार राज्य या समाज की देन नहीं है। इसी से अन्य प्राकृतिक अधिकारों की उत्पत्ति होती है। अधिकारों को उसने दो भागों में बांटा

1. के. एन. वर्मा – पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग – 2, पृष्ठ – 214
2. ओ. पी. गावा – राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा – पृष्ठ – 296

है – 1. निजी अधिकार 2. साार्वजनिक अधिकार। निजी अधिकारों का सम्बन्ध सम्पत्ति व कुटुम्ब से और सार्वजनिक अधिकार का सम्बन्ध इस बात से है कि व्यक्ति का राज्य से क्या सम्बन्ध है?

भूमि सम्पत्ति को ग्रीन की तरह ही उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति में शामिल नहीं किया है। क्योंकि ऐसा करने से भूमि पर लोगों की समान स्वतंत्रता पर विषमता पैदा हो जायेगी। परन्तु स्पेन्सर यह स्वीकार करता है कि भूमि की उपज पर व्यक्ति का निजी अधिकार हो सकता है क्योंकि उसने भूमि के साथ अपना निजी परिश्रम भी मिश्रित कर दिया है।

आर्थिक हस्तक्षेप की नीति के प्रमुख प्रवृतक के रूप में उन्होंने औद्योगिक क्षेत्र को हर प्रकार के नियंत्रण से मुक्त कर दिया है। राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध से उसका अर्थ राज्य के कार्यक्षेत्र से है। स्पेन्सर राज्य को अनैतिक परन्तु आवश्यक संस्था मानता है। उसके अनुसार राज्य को चाहिये केवल व्यवस्था, न्याय व स्वतंत्रता की सुरक्षा हेतु ही व्यक्ति को नियंत्रित करे वरना उसे पूर्णतया स्वतंत्र छोड़ दे।

समकालीन उदारवाद

जॉन राल्स का न्याय सिद्धान्त :–

मार्क्स के प्रभाव से उदारवाद विचारधारा की परिधि के कुछ विचारकों ने स्वतंत्रता के साथ आर्थिक समानता को जोड़कर न्याय को साकार बनाने का प्रयास किया। ऐसे प्रयासों में वर्तमान काल में जॉन राल्स की पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' सर्वाधिक लोकप्रिय और विचारणीय हुई। राल्स को 'उदार लोकतांत्रिक पूंजीवादी लोक कल्याणकारी का अधिवक्ता बतलाते है। वह उनको संशोधनकर्ता उदारवादियों की श्रेणी में रखते है।

राल्स ने उदारवाद की परिधि में समानता तथा नैतिक आयाम जोड़कर न्याय की एक नई परिकल्पना प्रस्तुत की है । जिसे उदार समतावादी परिकल्पना कहा जा सकता है। राल्स ने तर्क दिया कि "उत्तम समाज में अनेक सद्‌गुण अपेक्षित होते है, उसमें न्याय का स्थान सर्वप्रथम है। न्याय उत्तम समाज की आवश्यक शर्त है।[1]

राल्स एक ऐसी स्थिति की कल्पना करता है जिसमें सब मनुष्य समान है। किसी को समाज में अपने स्थान, अपनी वर्ग स्थिति, अपनी क्षमता, बुद्धिमता, शक्ति का ज्ञान नहीं है। यह मनुष्य की मूल स्थिति है जो हाब्स, लॉक की प्राकृतिक अवस्था के तुल्य है। वे सब एक जैसी

1. ओ. पी. गावा – समकालीन राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ – 225–226

परिस्थितियों में है क्योंकि अज्ञानता के आवरण के कारण उनको अपनी सामाजिक या वर्गीय स्थिति का ज्ञान नहीं है और न ही अपनी व्यक्तिगत शक्ति, बुद्धि या क्षमता का। ऐसे व्यक्ति जब समाज की संरचना करते है तो केवल अपने हित पूर्ति के भाव से प्रेरित होकर वे प्राथमिक वस्तुओं – अधिकार, स्वतंत्रता, आय, शक्ति, सत्ता, आदर सम्मान में अपनी हिस्सेदारी के लिये चिन्तित है। राल्स के अनुसार, "न्याय की समस्यां प्राथमिक वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या है।"(1) राल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त को शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय की संज्ञा दी है। इसका अर्थ यह है कि न्याय के जो सिद्धान्त सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिये जायेगे, उनके प्रयोग के फलस्वरूप जो भी वितरण व्यवस्था अस्तित्व में आयेगी, वह अनिवार्यतः न्यायपूर्ण होगी। राल्स ने उन सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है जो व्यक्ति की नैतिक मूल्यवत्ता की उपेक्षा करते हुये किसी पूर्व निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते है।

न्याय के दो सिद्धान्त :–

राल्स का लक्ष्य उपयोगितावादी सिद्धान्त, जिसके अनुसार न्याय अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का नाम है, के स्थान पर यह स्थापित करता है कि न्याय की अवधारणा औचित्य पर आधारित है न कि उपयोगिता पर और इसका सार है सब व्यक्तियों के लिये समान स्वतंत्रता।

राल्स के अनुसार मूल स्थिति में व्यक्ति दो सिद्धान्त स्वीकार करते है – **प्रथम,** यह कि मूलभूत अधिकारों और कर्त्तव्यों के निर्धारण में समानता होनी चाहिये। **द्वितीय,** सामाजिक और आर्थिक असमानताओं, जैसे धन सत्ता की असमानताओं को केवल एक आधार पर न्यायपूर्ण माना जा सकता है। वह यह है कि इन असमानताओं से प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित हो विशेषकर समाज के न्यूनतम सुविधा प्राप्त लाभान्वित हो, जो उसकी असमानता की क्षतिपूर्ति कर सके। यदि कुछ व्यक्ति अधिक लाभ अर्जित करते है तो वह अन्याय ही होगा यदि उनकी अधिक लाभ अर्जित करने में शेष व्यक्तियों की स्थिति में भी सुधार आता है । इन दोनों सिद्धान्तों का राल्स इस प्रकार से प्रतिपादन करता है –

1. प्रत्येक व्यक्ति को मूलभूत स्वतंत्रता का अधिकतम विस्तृत अधिकार समान रूप से होना चाहिये। यह अधिकार इतना विस्तृत हो जितना अन्य व्यक्तियों के इसी अधिकार को देखते हुये सम्भव हों ।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 226

2. सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाये कि –

(i) ये असमानतायें सबके लिये लाभप्रद होगी ऐसी आशा की जा सके।

(ii) ये असमानतायें जिन स्थितियों और पदों से उत्पन्न हो वे स्थितियां एवं पद सबके लिये खुले हो।

राल्स ने इस बात पर बल दिया कि सभी स्वतंत्रतायें राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से मिलनी चाहिये। स्वतंत्रताओं को केवल इस सीमा तक मर्यादित किया जा सकता है जिस सीमा तक स्वतंत्रता की रक्षा करने और उसे व्यापक बनाने के लिये आवश्यक हो। राल्स के अनुसार "समान स्वतन्त्रताओं को केवल उस दशा में और उस सीमा तक मर्यादित किया जा सकता है जब ऐसा करना सभ्यता की दशाओं में वृद्धि हो ।"[1]

संक्षेप में, राल्स के न्याय सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि उसने न्याय को सामाजिक न्याय बनाने का प्रयत्न किया है । उसने यह व्यवस्था की है कि विशेष प्रतिभाशाली लोग विशेष पुरस्कार के हकदार तभी माने जायेंगे जब वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग हीनतम लोगों के कल्याण के लिये करते हो। राल्स का कहना है कि सामाजिक जीवन को व्यक्तिगत लेन–देन का जोड़ नहीं माना जा सकता। यह परस्पर सहयोग का क्षेत्र है जिसमें अधिक प्रतिभाशाली लोग कम प्रतिभाशाली लोगों के साथ मिलकर ही अपनी प्रतिभा तथा अवसरों का लाभ उठा सकते है। जब तक समाज में आर्थिक नीतियों में, सम्पत्ति, साधनों, सम्मान और आय के वितरण में समता नहीं होगी तब तक न्याय के आदर्श को यथार्थ के धरातल पर क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है। अतः समाज की जड़ की कड़ी सुदृढ़ करने के लिये इसकी सबसे कमजोर कड़ी को मजबूत करना जरूरी होगा। यही न्याय का प्रमाण होगा।

एफ. ए. हेयक के विचार :–

हेयक प्रक्रियात्मक न्याय के प्रबल समर्थक है। हेयक ने तर्क दिया है कि ''सामाजिक न्याय का विचार ही निरर्थक है।''

न्याय वस्तुतः मनुष्य के आचरण की विशेषता है; कोई समाज न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता। हेयक का विचार है कि ''समानता के हित में स्वतंत्रता में कटौती की जाती है तो जीवन सामग्री के अन्यायपूर्ण वितरण के प्रश्न पर तनाव, कलह और विवाद अवश्य पैदा होंगे।''[2] न्याय का मुख्य विषय स्वतंत्रता की बढ़ोत्तरी । जिसके अन्तर्गत यह व्यवस्था होनी

1. पंत, गुप्ता, जैन – राजनीतिशास्त्र के आधार,, पृष्ठ –378
2. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीति सिद्धान्त पृष्ठ – 227–228

चाहिये कि प्रत्येक को अपने–अपने ज्ञान और अपने हित की समझ के अनुसार अपने अपने स्वार्थ साधन का अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त हो।

नॉजिक के विचार :–

नॉजिक ने अपनी कृति में कहा है कि, "न्याय के दो तरह के सिद्धान्त होते है – 1. न्याय का ऐतिहासिक सिद्धान्त है 2. साध्य मूलक सिद्धान्त।[1]

नॉजिक का कहना है कि ऐतिहासिक सिद्धान्तों के अनुसार, लोगों की अतीत परिस्थितियों और अतीत कार्यो के आधार पर उनके वर्तमान अधिकार भिन्न–भिन्न हो सकते है। दूसरी ओर, साध्य मूलक सिद्धान्त के अनुसार, लोगों के अधिकार किन्हीं विशेष लक्ष्यों की पूर्ति के उद्देश्य से निर्धारित करने चाहिये। नॉजिक ने अपने न्याय सिद्धान्त में न्याय के ऐतिहासिक पहलू को प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में स्वीकार किया है जिसके अनुसार, वैयक्तिक सम्पत्ति की वर्तमान व्यवस्था अतीत के उचित हस्तांतरण का ही परिणाम है अर्थात् जिसमें छल या बल का प्रयोग नहीं हुआ है तो वह न्यायपूर्ण मानी जानी चाहिये। नॉजिक ने इस सिद्धान्त को परिष्कार का सिद्धान्त की संज्ञा दी है लेकिन वह यह भी कहता है परिष्कार का सिद्धान्त बहुत दूर तक कारगर साबित नहीं होगा क्योंकि मनुष्य की भूमिका सामाजिक उत्पादन में अपनी प्रतिभा और प्रयास के कारण अलग–अलग होती है, इसलिये उन्हें पुरस्कार भिन्न–भिन्न प्राप्त होना स्वाभाविक है।

नॉजिक ने तर्क दिया कि "समाज में उत्पादन स्तर पर जो असमानतायें पाई जाती है, उन्हें वितरण के स्तर पर बदलने का प्रयत्न विनाशकारी होगा।"[1] संसार में कोई भी वस्तु शून्य से पैदा नहीं होती, बल्कि सम्पदा भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के परिश्रम का परिणाम होती है। इसलिये सम्पत्ति का वर्तमान वितरण उनके स्वैच्छिक विनिमय का परिणाम है। राज्य का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के इस अधिकार की रक्षा करना। इस प्रक्रिया में किसी प्रकार के हस्तक्षेप का अर्थ होगा, व्यक्तियों के अधिकारों का उल्लंघन। यदि व्यक्तियों के अधिकारों को किसी नये लक्ष्य के अनुरूप ढालने की कोशिश की जायेगी तो वह स्वतंत्रता के लिये विनाशकारी होगी। नॉजिक के अनुसार, सम्पत्ति के उचित अभिग्रहण और 'स्वैच्छिक विनिमय' पर प्रतिबन्ध लगाने का एक ही आधार उपयुक्त होगा वह यह कि लोगों की इन गतिविधियों के कारण दूसरों की स्थिति पहले से खराब न हो जाये। नॉजिक ने शुद्ध प्रतिस्पर्धात्मक समाज को न्यायपूर्ण समाज के रूप में प्रस्तुत किया

1. हेयक 'लॉ लेस्लिेशन एण्ड लिबर्टी : द मिराज ऑफ सोशल जस्टिस' (खण्ड दो) (1976) उघृत – ओ0 पी0 गावा राजनीति सिद्धान्त

है जिसमें विवश और वंचित वर्गो के उत्थान की कोई गुंजाइश नहीं है।

न्याय का मार्क्सवादी दृष्टिकोण :—

मार्क्सवादी चिन्तन के अन्तर्गत न्याय के सिद्धान्तों का क्या स्थान है — यह विवाद का विषय बना हुआ है। एक ओर यह विचार व्यक्त किया जाता है कि ''मार्क्सवाद का ध्येय पूँजीवाद की जगह समाजवाद स्थापित करना है जिसका एक मात्र उपाय क्रान्ति है।''[1] न्याय के प्रति झुकाव का मतलब होगा — वर्तमान व्यवस्था को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ कायम रखना। अतः कुछ विचारक यह तर्क देते है कि न्याय का प्रश्न मार्क्सवाद के सन्दर्भ में अप्रासंगिक है — इस तर्क के अनुसार मार्क्स ने लिखा कि, ''मजदूरों का शोषण पूँजीवाद का स्वाभाविक लक्षण है, उसे अन्याय की समस्या मानकर पूँजीवाद के भीतर उसका हल ढूँढ़ना बेकार होगा।''[2]

मार्क्स के विचार :—

मार्क्स केवल पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत आय और मजदूरी के स्तरों में सुधार लाना नहीं चाहता था बल्कि वह सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था और सम्पत्ति सम्बन्धों को ढालना चाहता था। उसके अनुसार समस्त सामाजिक व्यवस्था, उत्पादन स्थिति और उत्पादन के साधनों पर निर्भर करती है । उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन हो जाने पर विद्यमान राज्य की प्रकृति में ही परिवर्तन हो जाता है क्योंकि वह राज्य शोषक वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता।[3] वह कहता है कि पूँजीवादी व्यवस्था सार्वजनिक हित की तो बात करता नहीं है इसलिये एक तरफ तो उत्पादन का पहाड़ होता है और दूसरी तरफ उनके अभाव में जनता भूखी और नंगी फिरती है।

फिर, क्रिटीक ऑफ गोथा प्रोग्राम (1875) के अन्तर्गत ''मार्क्स ने समाजवादियों को आड़े हाथों लिया है जो वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत 'उचित वितरण' की मांग उठाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते है। मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त करने की सार्वजनिक हित की दृष्टि जो योजना बनाई थी उसमें शोषितों के हित को सर्वोपरि रखा और नैतिकता को उसका आधार मानते हुये यह तर्क दिया कि ''ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ जब उत्पादन प्रणाली बदल

---

1. ओ. पी. गावा — समकालीन राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ — 230
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ — 230
3. फड़िया, जैन — आधुनिक राजनीति सिद्धान्त पृष्ठ — 416

जाती है, तब 'उचित–अनुचित' या न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण के मानदंड भी बदल जाते है।"[1]

ऐसी स्थिति में न्याय के किसी स्थायी सिद्धान्त को स्थापित करना असंभव हो जाता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी तत्वों के पूर्ण विनाश के पश्चात् मानवीय इतिहास की अन्तिम अवस्था – साम्यवादी अवस्था होगी जिसमें न तो कोई वर्ग होगा न राज्य और न ही धर्म होगा न ही अभाव और संघर्ष को जन्म देने वाली परिस्थितियां होगी अतः वह राज्य सुखी और समृद्ध राज्य होगा। तब राज्य और न्यायिक उपकरण की कोई जरूरत नहीं होगी। "ऐसे राज्यविहीन और वर्गविहीन आदर्श समाज में धर्म, जाति, रंग तथा धन के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा और प्रत्येक को अधिकतम न्याय प्राप्त हो सकेगा।"[2]

इस समाज के अन्तर्गत वितरण का सिद्धान्त होगा, "प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और उसे आवश्यकता के अनुसार प्राप्ति हो।"[3]

"मार्क्स के अनुसार साम्यवाद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सुखी और स्वतंत्र हो, संघर्ष के स्थान पर प्रेम लोगों के बीच का सम्बन्ध निर्णीत करे।"[4] क्योंकि मार्क्स कहता है कि "राज्य केवल एक ऐसा मत है जिसकी सहायता से एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है।"[5]

इन तर्कों को ध्यान में रखते हुये क्या यह मान लेना चाहिये कि न्याय के प्रश्न से मार्क्सवाद का कोई सरोकार नहीं है ? गहराई में जाकर देखे तो ऐसा मानना सही नहीं होगा। मार्क्स ने जगह–जगह मजदूरों के शोषण को अनुचित, चोरी और डकैती तक की संज्ञा दी है। उसने 'प्रत्येक को अपने तर्क के अनुसार' के सूत्र पर आधारित वितरण की जगह 'प्रत्येक को अपनी आवशकतानुसार' का समर्थन किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्क्स ने वितरण न्याय के एक सिद्धान्त की तुलना में दूसरे सिद्धान्त को वरीयता दी है। उसने 'नैतिक सापेक्षवाद' में विश्वास रखते हुये भी ऐसी समाज–व्यवस्था स्थापित करने का रास्ता दिखाया है जिसमें उत्पादन प्रणाली से जुड़ी विचारधारा या मिथ्या चेतना लुप्त हो जायेगी, अतः वह नैतिक दृष्टि से उच्चकोटि

---

1. ओ. पी. गावा – समकालीन राजनीति सिद्धान्त पृष्ठ – 230
2. फडिया, जैन – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पृष्ठ – 434
3. पूर्वोक्त पृष्ठ – 416
4. के. एन. वर्मा – पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें : भाग – 2 पृष्ठ – 316
5. ओ. पी. गावा, समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त

की व्यवस्था होगी।

फिर मार्क्स ने सभी व्यक्तियों की पूर्ण समानता, स्वतंत्रता के प्रति जो अगाद्य आस्था व्यक्त की है, उसे न्याय के प्रति उदासीनता नहीं मान सकते है। मार्क्सवाद प्रभुत्व और पराधीनता की जिन परिस्थितियों पर प्रहार करता है वे सामाजिक न्याय का ज्वलंत उदाहरण है अतः यह मानना गलत होगा कि न्याय की समस्या से मार्क्सवाद को कोई सरोकार नहीं है मार्क्स ने श्रमिक वर्ग में वर्गीय चेतना और एकता को जन्म दिया, उनकी स्थिति में सुधार किया, पूँजीपतियों के सम्मुख उनकी स्थिति को सबलता प्रदान की और उन्हें पूँजीवाद के अन्तिम संघर्ष के लिये तैयार किया।। उन्होंने विश्व के मजदूरों को ललकारा कि विश्व के मजदूर एक हो जाओ। मार्क्स केवल ऐसा समाधान स्वीकार नहीं करता कि जो थोड़े बहुत परिवर्तन के बाद पूँजीवाद को कायम रखने का बहाना मिल जाये।

लेनिन के विचार :—

लेनिन न केवल क्रान्ति के प्रणेता थे वरन् एक विचारक भी थे। लेनिन ने सर्वप्रथम मार्क्सवाद के चिरसम्मत सिद्धान्तों को व्यवहार रूप देने का प्रयास किया। मार्क्सवादी चिन्तन की प्रेरणा से लेनिन के नेतृत्व में वोल्सेविक क्रान्ति के बाद जो व्यवस्था स्थापित हुई उसमें नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा और आधारभूत मांगों की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया। सन् 1917 की क्रान्ति के बहुत पहले से ही रूस से निरकुंश राज्य की परम्परा चली आ रही थी। जार राजाओं की निरकुंश शक्ति उस सामाजिक आधार पर निर्भर थी जिसका स्वरूप सामान्तिक था। सम्पूर्ण देश की भूमि का स्वामित्व केवल एक लाख सामन्तों के हाथ में था, जिस पर करोड़ों लोग केवल दास के रूप में काम करते थे। सामन्तों की सहायता से जारशाही रूस की सम्पूर्ण जनता पर लगातार अत्याचार कर रही थी। देश के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन पर सामन्तों का अधिकार था। इन्हीं अत्याचारों से क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनी। ऐसी अन्यायपूर्ण परिस्थितियों और अव्यवस्था के बीच अप्रैल 1917 में लेनिन ने क्रान्ति का नारा लगाया।

मार्क्स का विचार था कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत केवल मालिक और मजदूर रह जायेंगे और मजदूर वर्ग ही पूँजीपति मालिकों के विरूद्ध क्रान्ति करेगा। लेनिन के देश मे रूस में औद्योगिक क्रान्ति परमोत्कर्ष पर नहीं पहुँची थी वहाँ जमींदार—किसान, मालिक—मजदूर का संघर्ष साथ—साथ चल रहा था। अतः लेनिन ने क्रान्तिकारी की भूमिका सैनिक किसान और

मजदूर को सौंपी। उसने लोगों की 'शान्ति स्वतंत्रता, रोटी और भूमि' का आश्वासन दिया।

अक्टूबर 1917 में साम्यवादी दल के नेतृत्व में जिनका संस्थापक लेनिन था क्रांति हुई और श्रमिक वर्ग के अधिनायक तन्त्र की स्थापना हुई । लेनिन के शब्दों में "श्रमजीवी, तानाशाही वर्ग पुराने समाज की शक्तियों तथा परम्पराओं के विरूद्ध अविरल संघर्ष है । यह एक ऐसा संघर्ष है जो रक्तपूर्ण भी है और रक्तहीन भी हिंसात्मक भी तो शांतिमय भी आर्थिक भी है तो सैनिक भी और शिक्षात्मक है तो प्रशासकीय भी ।" श्रमजीवी तानाशाही के परिणामस्वरूप दो वर्गों (पूंजीपति और श्रमिक) के बीच उत्तरोत्तर व्यवधान कम होता जायेगा । वर्ग व्यवस्था के अन्त तक दमन समाप्त हो जायेगा और वर्ग विहीन समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी ।

लेनिन के नेतृत्व में बोल्सेविक क्रांति के बाद जो व्यवस्था स्थापित हुई उसमें नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा और आधारभूत मांगो की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया । सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र ने एक ओर उन शक्तियों को समाप्त करने का कार्य किया जो अधिनायक तन्त्र की विरोधी थी तथा दूसरी ओर देश में स्थायित्व की स्थिति लाने के लिए समाजवादी संविधान का निर्माण किया । संविधान का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि "शक्ति के पूर्ण प्रयोग द्वारा सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र की जड़ों से अधिक से अधिक मजबूत बनाया जाये और समाज के उस वर्ग को उखाड़ फेंका जाये जो दूसरों के शोषण पर वैभवपूर्ण जीवन बिता रहा था । इसलिए संविधान में जिस आर्थिक व्यवस्था का प्रावधान किया गया उसके अन्तर्गत भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त कर दिया ।"[1]

वास्तव में संविधान के द्वारा मार्क्सवाद के उस दावे को व्यवहारिक रूप प्रदान किया गया जिसमें निहित है कि "जब तक उत्पादन के प्रमुख साधन निजी सम्पत्ति का विषय रहेंगे । समाज में स्वतंत्रता, समानता और न्याय के आदर्शो को साकार नहीं किया जा सकता है ।"[2]

इस प्रकार लेनिन ने एक साथ दो मोर्चों पर विजय प्राप्त की । एक ओर पूँजीवाद तथा सामन्तवाद को समाप्त किया वहीं दूसरी ओर सारे देश की सम्पत्ति का केन्द्रीकृत सामाजीकरण आरम्भ किया ।

लेनिन ने मार्क्स की वर्ण भेद की संकल्पना में संशोधन करते हुये यह मत प्रस्तुत

---

1. डा0 इकबाल नारायण – विश्व के प्रमुख संविधान पृष्ठ – 536
2. ओ. पी. गावा – राजनीति शास्त्र की रूपरेखा पृष्ठ – 227

किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद विकसित पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व करता है, और अल्पविकसित देशों को अपने–अपने शोषण का शिकार बनाता है। उन्नत देशों के पूँजीपति अपने–अपने देश की मंडियों में खूब मुनाफा कमा लेने के बाद अल्पविकसित देशों पर अपनी गिद्ध दृष्टि डालते हैं जहाँ उन्हें कच्चामाल कौडियों के मोल मिल जाता है । अतः इस शोषण चक्र को समाप्त करने के लिए लेनिन ने सुझाव दिया कि बीसवीं शताब्दी के विश्व में अल्पविकसित देशों को सर्वहारा की भूमिका संभालकर साम्राज्यवादी देशों के विरूद्ध क्रांति करनी चाहियें ।

समकालीन मार्क्सवाद में न्याय सिद्धान्त :–

समकालीन मार्क्सवाद में मानववादी पक्ष पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। कार्ल मार्क्स का जो परम्परागत स्वरूप हमारे सामने आता है, वह एक अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और समाजशास्त्री है । परन्तु मार्क्स की आरम्भिक कृति इकॉनॉमिक फिलोसोफिक मैनुस्क्रिप्टस ऑफ 1844 में मार्क्स के मानववादी चिन्तन का सर्वोत्तम विवरण मिलता है । इसमें मार्क्स ने स्वतन्त्रता और मानववाद मानवीय परायेपन (Human Alianation) के प्रति जो अगाद्य श्रद्धा व्यक्त की, उसे न्याय के प्रति उदासीनता नहीं मान सकते । मार्क्स ने जिस तरह पूँजीवादी व्यवस्था की प्रभुत्व और पराधीनता की जिन अन्यायपूर्ण परिस्थितियों पर प्रहार किया है, उनका एक मात्र ध्येय बेबस और विछिन्न व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता दिलाना है । तरूण मार्क्स की दृष्टि से पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता । उसकी रचनात्मक क्षमताओं को नष्ट करके उसे अपने काम, समाज से, प्रकृति से यहाँ तक अपने आपसे बेगाना बना देती है । उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है ।

मार्क्स के विचारों का विश्लेषण करते हुये बर्टेल ओलमैन ने लिखा है कि "समाज के इन सभी उपकरणों से विच्छुन्न होकर व्यक्ति एक शरीर मात्र रह जाता है और उसके सब गुण नष्ट हो जाते हैं, जिनके आधार पर वह मानव के रूप में पहचाना जाता था ।"[1] यह स्वतन्त्रता नहीं परवशता की स्थिति हैं ।[2] अतः स्वतंत्रता की स्थिति बहाल करने के लिए साम्यवाद की

1. ओलमैन – ऐलिगनेशन, मार्क्सज, कन्सेप्शन ऑफ मैन इन कैपिलिस्ट सोसायटी, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय – बीकन, प्रेस –1971

2. ओ. पी. गावा – समकालीन राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ – 188

स्थापना जरूरी है ।

अलगाव से मुक्ति के लिए मार्क्स और एगेल्स ने उत्पादन की तर्कसंगत प्रणाली का समर्थन किया । पूँजीवाद ने न केवल सामाजिक उत्पादन को निजी लाभ का साधन बना लिया है वरन् श्रमिक को अमानवीय अन्याय एवं शोषण युक्त जीवन के लिए विवश कर दिया है । अतएव पूँजीवाद को धराशायी कर दिया जाये तो सामाजिक उत्पादन को मानवमात्र की संतुष्टि का उपयुक्त साधन बनाया जा सकता है और तब सब आत्मप्रेरणा से उत्पादन की प्रक्रिया में भाग लेंगे, मिल बाँटकर खायेंगे । परायेपन की भावना समाप्त हो जायेगी । जार्ज ल्युइस ने स्पष्ट किया है "मार्क्सवाद, मानववाद का उच्चतम विकास है, यह एक ऐसी व्यवस्था है जिससे मानवीय उन्नति और मानवीय पराधीनता के बीच युग पुराने अन्तर्विरोध का समाधान हो जाता है। .... इसका एकमात्र लक्ष्य है मनुष्य की खोई हुई मानवता वापस ढूँढ निकालना है ।"[1]

मार्क्स के मानवतावादी दर्शन की झलक फेकफर्ट स्कूल की विचारधारा और नवीन वामपक्ष के आंदोलन में दिखाई पड़ती है । आधुनिक मार्क्सवाद का महत्वपूर्ण विचार सम्प्रदाय फैकफर्ट स्कूल में मार्क्स के मानववादी चिन्तन पर नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । इस विचार के प्रमुख प्रवर्तक एडोर्नी, मैक्स हैवर्ट, मार्क्यूजे और हैबर्मास थियोडर आदि हैं । इन विचारकों ने मोटै तौर पर पूँजीवाद व्यवस्था के दो स्तरों का विश्लेषण किया, तकनीक तन्त्रीय प्रभुत्व (Technological Domination) और आर्थिक शोषण (Economic exploitation) । वह इन दोनों को हानिकारक मानते हैं । नव मार्क्सवाद के प्रतिभाशाली प्रवक्ता हेबरमास ने स्वतन्त्रता की समस्या को पूँजीवाद की वैद्यता के संकट के रूप में देखा । हेबरमास के अनुसार समकालीन विश्व में विज्ञान, प्रौद्योगिकी (Technology) और संगठन की विलक्षण प्रगति का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की तर्कबुद्धि मनुष्य के उद्धार के दायित्व से विमुख हो गयी । .... । वह मनुष्य की स्वतन्त्रता आधार नहीं रह गई है, बल्कि उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके पराधीनता का कारण बन गई है ।"[2]

आज राजनीतिक निर्णय, शक्तिशाली और संगठित हितों के परस्पर समायोजन के परिणाम है । हेबरमास ने लिखा है कि परम्परागत समाज सृष्टि की पौराणिक, धार्मिक या

---

1. ओ0 पी0 गावा – राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, पृष्ठ – 324

2. ओ0 पी0 गावा – समकालीन राजनीति सिद्धान्त पृष्ठ – 192

दार्शनिक व्याख्याओं से जुड़ी हुई संस्थाओं की वैद्यता को स्वीकार करते थे, परन्तु पूँजीवाद ने वैज्ञानिक जानकारी और स्वचालित मशीनों की प्रमाणिकता को स्थापित करके वैद्यता स्थापना के परम्परागत आधार को नष्ट कर दिया । पूँजीवाद के अन्तर्गत इस विचार को बढ़ावा दिया जा रहा है कि सारी मानवीय समस्या संस्थायें या संगठनात्मक किस्म की होती है और वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके उसका समाधान किया जा सकता है । मनुष्य के ऊपर बनी बनाई जानकारी थोपने का प्रयास किया जा रहा हैं । अतएव मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता के लिए मनुष्य के ज्ञान और तर्कबुद्धि का प्रयोग मानव–जीवन के लक्ष्यों के प्रति हो, इस हेतु उसे सचेत करना होगा ।

मार्क्यूजे के विचार :–

मार्क्यूजे की मान्यता है कि "आज के औद्योगिक समाज में नये किस्म की गुलामी आ गई, एक ऐसी गुलामी जिसका आधार न तो आज्ञाकारिता पर है और न कठिन परिश्रम पर, बल्कि व्यक्ति के एक साधन अथवा वस्तु मात्र बनकर रह जाने पर है ।[1] गुलामी का सबसे शुद्ध रूप यही, जिसमें मनुष्य एक साधन अथवा वस्तु मात्र बनकर रह जाता है ।[2]

मार्क्यूजे ने शोषण एंव अन्याय मुक्त समाज के निर्माण का आह्वाहन किया । जिसे उसने वस्तुतः मुक्त सभ्यता कहा है । उसमें "व्यक्ति अपने लिए सभी नियम स्वयं बनाता है, अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं के द्वारा भेदभाव नहीं किया जाता । इसमें व्यक्ति का अतिरिक्त दमन समाप्त हो चुका होता है ।[3] इस परिपक्व समाज की स्थापना को मार्क्यूजे एक कोरा आदर्शवाद नहीं मानता, उसका विश्वास है कि "ज्ञान और अनुभूति के द्वारा मनुष्य इस यथार्थ सत्य को समझ लेगा कि मानवता की स्थिति क्या है और उसे सुधारने के लिए क्या करना चाहिये । तो इस प्रकार के परिपक्व समाज की स्थापना अनिवार्य हो जायेगी ।"[4]

उसके अनुसार समिष्ट पूँजीवाद के अन्तर्गत निहित विरोधों ने आज पहले की अपेक्षा

---

1. एस0 वैद्यनाथन अय्यर द्वारा 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया' 30 जुलाई 1972 के मार्कूजे सम्बन्धित उसके लेख से उघृत ।

2. पूर्वोक्त ।

3. मार्कूजे ईरोज एण्ड सिविलाइजेशन्स, ए फिलोसिफिकल इन्क्वायरी इन टू फ्रायड, बीकन प्रेस, 1955

4. एस0 पी0 जैन, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पृष्ठ – 351

कहीं अधिक गम्भीर रूप ले लिया है, तो उसके साथ ही शक्ति भी बढ़ गई है । व्यक्ति को कुचलने के साधन आज पहले की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली है । दूसरी ओर मजदूर वर्ग जिस पर एक क्रांति की समस्त आशा रखी गई, आज की क्रांति की क्षमता सर्वथा खो चुका है।

अतः ऐसे में एक केन्द्रीभूत और संगठित आन्दोलन के स्थान अलग–अलग शिकायतों के लिए स्थानीय और क्षेत्रीय राजनीतिक कार्यवाही की जाये, छुट–पुट उपद्रवों, दंगे–फसाद सीमित विद्रोहों आदि के रूप में, जिनके सम्बन्ध में उसका विश्वास है कि वे ऐसे जन आन्दोलन हैं जिनके पीछे राजनीतिक चेतना तो अधिक नहीं है, परन्तु जिन्हें राजनीतिक निर्देशन के लिए जनता पर और नेतृत्व के लिए अधिक उग्रवादी अल्पसंख्यक वर्गों पर निर्भर होना पड़ेगा।"[1]

इन जन आन्दोलन के द्वारा ही बन्धन मुक्त समाजवाद की स्थापना सम्भव हो सकेगी। इस प्रकार हबर्ट मार्क्यूजे के माध्यम से नवीन वामपक्ष तक, सभी एक विछिन्न व्यक्ति को एक ऐसे समाज की दिशा में ले जाने का आश्वासन देते हैं जिसमें वह व्यक्तिगत रूप में पूर्णात्मक आनन्द का जीवन बिता सके । अपने सभी साथियों के साथ चिर–स्थायी प्रेम और मित्रता के सम्बन्ध बनाये रख सके ।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 354

तृतीय अध्याय

भारतीय संदर्भ में न्याय की अवधारणा

(प्राचीनकाल से ब्रिटिश शासन काल तक)

भारतीय सन्दर्भ में न्याय की अवधारणा

भारतीय सभ्यता के लम्बे इतिहास क्रम में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था के परिपेक्ष्य में न्याय के प्रयोग क्षेत्रों में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों का क्रमशः विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है क्योंकि हर युग में धन सम्पदा, पद–प्रतिष्ठा और शक्ति की विषमतायें प्रायः एक स्थिति के रूप में हमेशा वर्तमान रही है; जिसने न्याय के मूल तत्वों–स्वतंत्रता (राजनीतिक न्याय) समानता (आर्थिक न्याय) और बन्धुता (सामाजिक न्याय) को गहरा आघात पहुँचाया है। मानव संस्कृति के आरम्भ में मानव जीवन सामूहिक था। धनी–निर्धन का भेद नहीं था परन्तु जैसे ही समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ, धनी–निर्धन, गरीब शक्तिशाली और शक्तिहीन का प्रश्न उत्पन्न हो गया और समाज में विभिन्न वर्गो का जन्म हुआ। इन्हीं वर्गो की उत्पत्ति के कारण आपस में संघर्षो की वृद्धि होती गयी तो विशेषाधिकार प्राप्त वर्गो ने अपने हितों की रक्षा के लिये समाज में शक्तिहीन, निर्बल वर्गो के लिये सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की अवहेलना की। इस वर्ग व्यवस्था ने समाज में विषमता को जन्म दिया जिसने हर काल में इस विषमता के विरूद्ध न्याय का प्रश्न क्रमशः उभरता गया।

अतएव प्राचीन काल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल (ब्रिटिश काल) में न्याय के प्रचलित स्वरूपों के विश्लेषण हेतु क्रमवार अध्ययन अनिवार्य है, तभी न्याय के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक स्वरूपों की सुस्पष्ट जानकारी सम्भव हो सकेगी और इसी के द्वारा न्याय की परिभाषा हर काल में जिस तरह गढ़ी गयी इसका सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। अतएव उपरोक्त बिन्दुओं के विश्लेषण का प्रस्तुत अध्याय में प्रयास किया गया है।

आखेट युग :–

मानव संस्कृति के आरम्भ में मानव का जीवन नितान्त बर्बर था। यह पूर्णतया प्रकृतिजीवी था। यह वह अवस्था थी जिसमें मनुष्य एकांकी जीवन व्यतीत करता था और अपने मरण–पोषण के लिये अकेला प्रयत्न करता था। कृषि–कर्म से अपरिचित होने के कारण वह सहज–रूप में उत्पन्न होने वाले फल–फूल और कन्द–मूल, आखेट में मारे गये पशुओं के मांस

से ही उदरपूर्ति करता था। ये चीजें ऐसी है जो कि संचय करके नहीं रखा जा सकता था, इसलिये इस काल में मनुष्य को भविष्य के लिये संचय करने के विचार नहीं थे। पशुओं को शिकार के लिये पत्थरों के औजार प्रयोग में लाये जाते थे, इन औजारों पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिपत्य नहीं था। विशाल एवं भयंकर पशुओं का आखेट एक व्यक्ति के द्वारा नहीं वरन् व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न के द्वारा होता था। उनके इन सामूहिक कार्य से उनके मस्तिष्क में संगठन और सहयोग की भावना का जन्म हुआ। "आदिम अवस्था से ही मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सहयोग द्वारा करता आया है।"[1] अपने सामूहिक प्रयत्न के द्वारा उन्हें जो मिलता था उसे आपस में बराबर–बराबर बाँट लेते थे। इसके लिये उनके अपने नियम थे। इस समय तेरे–मेरे की भावना ही नहीं थी इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र व समान था। अतः न ही वर्गभेद था और न ही किसी प्रकार का शोषण। कालान्तर मनुष्यों के पत्थर के यन्त्रों का स्थान धातुओं के यन्त्रों ने ले लिया था। यद्यपि अब भी मनुष्य अधिकाशतः शिकार पर ही निर्भर थे पर उन्होंने थोड़ी बहुत कृषि करना भी सीख लिया था।

पशुपालन अवस्था :–

इस अवस्था में पशुपालन मनुष्यों का मुख्य व्यवसाय हो गया। मनुष्य का आर्थिक जीवन एक स्तर ऊँचा उठ गया। मनुष्य ने पशुपालन क्यों तथा कैसे प्रारम्भ किया, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है फिर भी ऐसा माना जाता है कि जलवायु पहले की अपेक्षा अत्यधिक शुष्क होने के कारण वनों का विलोप होने लगा। परिणाम यह हुआ कि पशु वनों से निकल–निकलकर उदरपूर्ति के लिये मानव आवासों के समीप रहने लगे। मानव और पशु के इस सन्निकट निवास ने ही पशु–पालन को जन्म दिया। इस अवस्था में मनुष्य की आवश्यकतायें पहले से अधिक अच्छी प्रकार संतुष्ट होने लगी। भूखों मरने का डर चला गया। वह पशुओं का माँस आवश्यकता होने पर खा सकता था। "प्राकृतिक परिवेश से संघर्ष करते हुये, पशुओं के आखेट के अनुभव से आदि मानव ने जाना कि कुछ पशुओं को पालतू बनाया जा सकता था। माँस तथा दूध के लिये गाय, भेड़, बकरी तथा बहुत बाद में भैस को पाला गया।"[2]

समाज में पुरुषों का स्थान उच्च समझा जाने लगा। एक पुरुष कई विवाह करता

1. पंत, गुप्ता, जैन – राजनीति शास्त्र के आधार पृष्ठ – 137
2. डा. जयदयाल सक्सेना – भारत की पौराणिक कथायें, पृष्ठ – 8

था। धन की वृद्धि हुई। जिनके पास जितने अधिक पशु हो वह उतना ही अधिक धनी समझा जाने लगा। आखेट युग में तो धनी निर्धन का कोई भेद नहीं था परन्तु अब यह भेद उत्पन्न हो गया था। इस प्रकार समाज में वर्गों की उत्पत्ति हुई। "पितृ–प्रधान कुटुम्ब व्यवस्था की स्थापना हुई।"[1] पिता कुटुम्ब का सर्वेसर्वा हो गया। वह इसके सदस्यों के मध्य झगड़ों का निर्णय करता था। धन की वृद्धि के कारण चोरी का अपराध बढ़ा इसलिये इस सम्बन्ध में नियमों की रचना हुई। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के साथ ही समाज में धनी, गरीब, शक्तिशाली और शक्तिहीन का प्रश्न पैदा हुआ। समाज के थोड़े से लोगों ने शान्ति और सम्पत्ति के बल पर उत्पादन के साधनों को हथिया लिया और बाकी लोग अपने उदर पोषण के लिये उनके आश्रित हो गये। यही से "दास–प्रथा का प्रारम्भ हो गया था।"[2]

दासों को उत्पादन का केवल उतना ही भाग दिया जाता था जिसमें न तो वे मर सके और न ही वे अपने लिये कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति जुटा सके। स्वामियों का दासों के शरीर, परिवार, श्रम पर पूर्ण अधिकार हो गया तथा उन्होंने दासों को पशुओं की तरह खरीदा, बेचा और उनकी हत्यायें की और मनमाने ढ़ंग से उनसे तक काम लिया जब तक उनमें किंचित भी श्रम करने की क्षमता रही। स्वामियों ने समाज का जी–भर शोषण किया। जितना ही अधिक व्यक्तिगत सम्पत्ति का संचय हुआ उतने ही अधिक दास रखने की क्षमता बढ़ी और उतना ही शोषण को बढ़ावा मिला। इस प्रकार इस अवस्था में आर्थिक कारणों से सामाजिक जीवन जटिल हो गया तथा इसके कारण ही सामाजिक संगठन भी जटिल हो गया।

कृषि युग :–

पशुपालन के पश्चात् आदिम मनुष्य ने कृषि का आरम्भ किया। कृषि का व्यवसाय इसलिये आरम्भ हुआ क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि के कारण पशुपालन से ही सबो की आवश्यकताओं की संतुष्टि सम्भव नहीं थी। इसलिये मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नये व्यवसाय की आवश्यकता पड़ी। कृषि–कर्म के आरम्भ होने से सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि अब मनुष्य एक स्थान पर बस गया। "आखेट युग का मानव–साधनों के अभाव में सदैव जातिनाश की कगार पर खड़ा रहता था। उसे सर्वत्र मृत्यु मुँह बाये दिखाई देती थी। मानव का अस्तित्व

1. पंत, गुप्ता, जैन – राजनीतिक शास्त्र का आधार पृष्ठ – 138

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 138

ही खतरे में था। किन्तु पशुपालन, कृषि आदि के अविष्कार ने मानव जाति को सुरक्षा प्रदान की।''[1] कृषि ने मानव की सम्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि की।[2] पशु, धान्य, धातु रत्नों के भण्डार बढ़ने लगे। जीवन अधिक सुखमय हो गया इसलिये जनसंख्या भी बढ़ी। समाज पहले से अधिक जटिल हो गया।

कृषि युग में उत्पादन के साधनों का विकास हुआ, लोहे के करघे, हल आदि के कृषि, पशु–पालन, कला–कौशल आदि को विकसित किया। दास कृषि–कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं रखता था। इसलिये खेती के उत्पादन के लिये उनके स्थान पर एक नया वर्ग सामने आया जो अपने पशु, यन्त्र आदि के सहयोग से उत्पादन करता था लेकिन उपज का निश्चित भाग वह भू–स्वामी की दे देता था। उत्पादन के साधनों पर भू–स्वामी स्वामित्व करते थे लेकिन उत्पादन क्रिया में इन दासों के शरीर पर उनका पहले जैसा आधिपत्य नहीं रहा। वे उन्हें खरीद या बेच सकते थे, परन्तु उसका वध नहीं कर सकते थे। इस अवस्था में यद्यपि कृषक उत्पादन यन्त्रों का व्यक्तिगत स्वामित्व रखते थे पर उन पर भू स्वामियों का ही दृढ़ नियंत्रण रहता था एक निश्चित रकम उन्हें अदा करनी पड़ती थी। इस समय भी समाज में स्थूल रूप से दो वर्ग थे जिनमें सतत् संघर्ष चलता रहा।

इस युग में उत्पादन के साधनों का विकास होने के कारण सामूहिक उत्पादन और वितरण प्रारम्भ हुआ जिससे श्रम का और अधिक विस्तृत विभाजन हुआ जिसके फलस्वरूप समाज चार वर्गो पुरोहित, राजा और सामान्त वर्ग व्यापारी वर्ग और दास वर्ग में विभाजित हो गया। चार वर्गो के साथ और भी जातियाँ पैदा हुई जिन्होंने समाज को टुकड़ों में बाँट दिया और अपने–अपने हित के लिये संघर्ष करने लगे। समाज पहले से अधिक जटिल हो गया। कृषि ने मानव को अतिरिक्त उत्पादन के युग में प्रवेश दिलाया। इसी अतिरिक्त उत्पादन के शोषण के लिये संघर्ष हुये। समर्थ जनो ने निर्बलो का शोषण किया, दास बनाया।''[3]

संक्षेप में, प्रारम्भिक समाज में दास और स्वामी दो वर्ग अस्तित्व में आये और इस युग में दास अधिकार विहीन थे और स्वामियों को उनके ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। कृषि युग में

---

1. डा. जयदयाल सक्सेना – भारत की पौराणिक कथायें पृष्ठ – 9
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 9
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 9

स्थिति में परिवर्तन हुआ। दासों के भी कुछ अधिकार स्वीकार किये गये। इन्हें अब खरीदा या बेचा नहीं जा सकता था। दासों को भू–दास के रूप में रूपान्तरित कर दिया गया। वे श्रमि बेचकर जीविका प्राप्त करने लगे। पूर्व के सामूहिक स्वामित्व एवं श्रम का स्थान, व्यक्तिगत स्वामित्व और बाध्य श्रम ने ले लिया। समाज में स्पष्टतः धनी–निर्धन का भेद, शोषक और शोषित का अन्तर, अधिकार युक्त और अधिकार विहीन कौमो का वर्ग सामने आया। इन्हीं वर्गों की उत्पत्ति के कारण आपस में संघर्षो की वृद्धि होती गई, तो विशेषाधिकारी वर्ग को अपने हितों की रक्षा के लिये सशक्त बल की आवश्यकता हुई और तब राज्य की उत्पत्ति हुई।

वैदिक कालीन न्याय–व्यवस्था

संघ व संस्कृति के विनाश के पश्चात् भारत में जिस नवीन–सभ्यता का विकास हुआ उसे वैदिक अथवा आर्य सभ्यता के नाम से जाना जाता है। भारत का इतिहास एक प्रकार से आर्य जाति का इतिहास है।

वैदिक काल को दो भागों में विभाजित किया जाता है –

1. ऋग्वैदिक काल
2. उत्तर वैदिक काल

ऋग्वैदिक कालीन न्याय–व्यवस्था (ई. पू. 1500 से 1000 ई. पू.) ऋग्वैदिक कालीन समाज प्रारम्भ में वर्ग–विभेद से रहित था। सबकी समान सामाजिक प्रतिष्ठा थी। प्रारम्भ में समाज में तीन ही प्रमुख वर्ण थे – ब्रह्मा, क्षत्र, तथा विश। परन्तु इन वर्णो में कोई कठोरता नहीं थी। एक ही परिवार के लोग ब्रह्मा, क्षत्र व विश हो सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ''जब आर्य भारत में आये तो उन्हें अनार्यो से संघर्ष करना पड़ा और उन्होंने अनार्यो को परास्त कर अपने सामाजिक संगठन में उन्हें स्थान दिया और इस प्रकार कालान्तर में एक चौथा वर्ग 'शूद्र' नाम से समाज में उत्पन्न हो गया।''[1] पर वास्तविकता तो यह है कि इस वर्ग में आर्य व अनार्य दोनों ही वर्गो के लोग सम्मिलित थे। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त में हमें सर्वप्रथम 'शूद्र' शब्द मिलता है। यहाँ चारों वर्णो की उत्पत्ति एक 'विराट–पुरुष' के विभिन्न अंगों से बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि जब देवताओं ने विराट–पुरुष की बलि दी तो ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु

---

1. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ – 55

राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पदम्याम् शूद्रो अजायव्।[1] अर्थात् उसके मुख भाग से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय) उरू भाग से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये। यह वर्णव्यवस्था का प्राचीनतम उल्लेख है। इस समय वर्णो में. जटिलता नहीं है। इस समय वर्णो में जटिलता नहीं आई थी और वर्ण जन्मजात न होकर व्यवसाय पर आधारित होते थे। इस समय विभिन्न वर्णो के व्यवसाय खान–पान विवाह आदि के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की वृन्ति अपना सकता था। उदाहरणार्थ, कारूरहं ततो भिष गुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिभेन्द्रायेन्द्रो परिस्रव।।[2] अर्थात् "एक स्थल पर एक व्यक्ति कहता है कि मैं कारू (मन्त्र निर्माता) हूँ, मेरे पिता भिषक (वैद्य) है और मेरी माता उपलप्रतिक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसने वाली) है।" साधन भिन्न हैं परन्तु सभी धन की कामना करते है। इससे स्पष्ट है कि व्यवसाय आनुवांशिक नहीं थे तथा जाति–व्यवस्था का जो संकीर्ण रूप हमें कालान्तर में देखने को मिलता है उससे ऋग्वैदिक समाज निश्चय ही अछूता था।

ऋग्वेद में कही पर भी कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक वर्ग के लिये ही निर्धारित था और उस वर्ग को छोड़कर अन्य कोई भी वर्ग उस व्यवसाय का अनुसरण न कर सकता था। ऋग्वेद की ऋचाओं के रचयिता ब्राह्मणों के अतिरिक्त राजन्य भी थे। पशुपालन और ब्याज पर रुपये का लेन–देन एकमात्र वैश्य समुदाय ही न करता था वरन् इन कामों को अन्य समुदायों के मनुष्य भी करते थे। समाज में समस्त कार्यो की प्रतिष्ठा थी।

ऋग्वैदिक काल में दास–प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यद्यपि दासों से घर के विविध कार्य कराये जाते थे परन्तु सामान्यतया वे परिवार के सदस्य की भाँति समझे जाते थे और उनके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया जाता था। परवर्ती अनेक व्यवस्थाकारों ने ब्राह्मण के लिये शूद्र का दिया हुआ दान अग्राह्य बतलाया है। परन्तु ऋग्वेद–काल में यह अनुदारता न थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ब्राह्मण का दास बल्बुथ से 100 गौ (मुद्रा अथवा अन्य वस्तु) ग्रहण करने का उल्लेख है।[3] ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषि पुत्रों के साथ–साथ दासों के लिये भी प्रार्थना

---

1. पुरुष सूक्त, 10, 90, 12
2. ऋग्वेद 9, 112, 3
3. ऋग्वेद 8, 46, 32

की गई है।[1] अनेक स्थलों पर दासों को उपहार के रूप में दिये जाने का भी उल्लेख है।[2]

ऋग्वेद काल में सामान्यतः राजतंत्र का ही प्रचलन था।[3] आर्य विभिन्न 'जनो' में विभक्त थे। प्रत्येक 'जन' का एक नेता अथवा 'राजा' होता था जिसे 'जन' का रक्षक कहा जाता था। राजा का पद वंशानुगत था पर वंशानुगत अधिकार तभी वैध समझा जाता था जब जनता उसका अनुमोदन कर दे इस प्रकार राजा के ऊपर जनता (विश) का अंकुश रहता था। राजा का पद इस समय देवी नहीं समझा जाता था।[4] राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। सभा और समिति नामक दो संस्थायें राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखती थी। राजकीय कार्यो में राजा की सहायता करने के लिये अनेक पदाधिकारी थे जिनमें सेनापति तथा पुरोहित विशेष उल्लेखनीय है। सेनापति और पुरोहित के साथ–साथ ऋग्वेद में ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्मार के नामों का भी उल्लेख मिलता है। जो राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित रहते थे। इन्हें 'रत्नी' कहा गया। इससे ज्ञात होता है कि समाज में व्यवसायिक औद्योगिक वर्ग की पर्याप्त महत्ता थी और उसे भी राजसभा में प्रतिनिधित्व मिलता था। यही कारण है कि राज्याभिषेक के अवसर पर इस वर्ग के प्रतिनिधि सूत, रथकार और कर्मार आमंत्रित किये जाते थे।

राजा देश की सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र बिन्दु था। वह देश का सर्वोच्य पदाधिकारी, सेनापति और न्यायाधीश था। यद्यपि ऋग्वेद कालीन न्याय–व्यवस्था की रूपरेखा स्पष्ट नहीं है तथापि ऐसा अनुमान होता है कि राजा ही पुरोहित तथा अन्यान्य परामर्शदाताओं की सहायता से करता था। न्याय–व्यवस्था कठोर नहीं थी। ऋग्वेद में पशुधन की चोरी और जुआखोरी में बेईमानी के अनेक उल्लेख मिलते थे। इनके अतिरिक्त रुपये की लेन–देन में कम झगड़े न होते थे। पुनश्च, सामाजिक परम्पराओं का उल्लंघन भी अपराध समझा जाता था। रात में पशुओं की चोरी एक आम अपराध था। इस समस्त प्रकार के अपराधियों को राजा की ओर से दण्ड दिये जाते थे। यद्यपि मृत्यु दण्ड भी प्रचलित था तथा अधिकांश मामलों में शारीरिक दण्ड ही उपयुक्त समझा जाता था, अग्निपरीक्षा, जल–परीक्षा अथवा सन्तप्वपरशु–परीक्षा के उदाहरण भी मिलते है। ऋण

---

1. ऋग्वेद 1, 92, 8
2. ऋग्वेद 3, 46, 32, 8, 56, 3
3. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास व संस्कृति, पृष्ठ – 55
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 53

अदा न करने पर बहुदा ऋणी मनुष्य को ऋणदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। ऋग्वेदिक कालीन समाज में यह प्रथा प्रचलित थी कि किसी व्यक्ति को मारने वाला मृत व्यक्तियों के सम्बन्धियों को नकद क्षतिपूर्ति देता था।[1] इस प्रकार वह स्वयं 'अदण्डय' या दण्ड–मुक्त था। किन्तु राजदण्ड का प्रयोग करता था।

इस प्रकार ऋग्वैदिक समाज में प्रारम्भ में केवल तीन ही वर्णो का उल्लेख मिलता है। इस काल के अन्त में शूद्र वर्ण का उल्लेख मिलता है। इस समय विभिन्न वर्णो के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्धा नहीं था। वस्तुतः समाज की वर्ण व्यवस्था उन्मुक्त थी। यह जन्म अथवा वंश पर आधारित न होकर व्यक्ति के गुण और कर्म पर ही आधारित थी। राजतन्त्रतात्मक व्यवस्था प्रचलित होने के कारण सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र बिन्दु राजा था। राज्य के ही न्याय करने का अधिकार होता था। दण्ड व्यवस्था उतनी कठोर नहीं होने पायी थी ।

उत्तर वैदिक कालीन

(ई. पू. 1000 से 600 तक)

ऋग्वैदिक कालीन संस्कृति की पृष्ठभूमि पर ही उत्तर वैदिक–कालीन संस्कृति का विकास हुआ। इस समय भी समाज पितृसत्तात्मक था। परिवार के सदस्यों पर उसका कड़ा नियंत्रण था। वर्णो में क्रमशः कठोरता आने लगी थी और अब वे 'जाति' के रूप में परिणत होने लगे थे। परन्तु इस समय भी जाति–प्रथा उतनी अधिक कठोर नहीं बनी थी। इस समय "यह ऋग्वैदिक नम्रता और सूत्र युगीन कठोरता के मध्य में थी।"[2] व्यवसाय परिवर्तन कुछ कठोर सा हो गया था। अथर्ववेद राजन्य, वैश्य, शूद्र और आर्य इन चार सामाजिक विभागों का उल्लेख करता है।[3] यहाँ कदाचित् आय से सर्वश्रेष्ठ वर्ण–ब्राह्मण का ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की भाँति अथर्ववेद में भी क्षत्रिय, शूद्र और आर्य का उल्लेख मिलता है।[4] प्रत्येक वर्ण की पहचान के लिये भिन्न–भिन्न प्रकार के यज्ञोपवीत की कल्पना की गई थी। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण सूत का, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। उनके अग्निहोत्र करने के उपयुक्त काल

1. बी. डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ – 106
2. बी. डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ – 111
3. अथर्ववेद 3,5,7
4. वाज. सं. 26, 2

भी भिन्न–भिन्न थे। तैत्तिरीय ब्राह्मणत्त (1.1.4) का कथन है कि ब्राह्मण को बलन्त में, क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शीत में और रथकार को वर्षाकाल में अग्निहोत्र करना चाहिये। इन पृथक–पृथक नियमों से स्पष्ट हो जाता है कि वर्ग–भेद शनैः शनैः दृढ़ हो रहे थे। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों का सामान्यतः बहुत बढ़ गया था। ब्राह्मण दिव्य वर्ण था।[1] वह पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देवता था।[2] सामाजिक सम्प्रभुता और प्रतिष्ठा के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रतिस्पर्धा चल रही थी। क्षत्रियों ने कठिन अध्ययन और लगन के द्वारा उपनिषदकाल तक ब्राह्मणों से समान ही सम्मान्यता प्राप्त कर ली थी। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्य का स्थान नीचा था पर वैश्य समुदाय की विधिक व्यवसायों के द्वारा राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने में उपेक्षा नहीं की सकती थी। ऐतरेय ब्राह्मण उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुये कहता है कि देव कर्म अथवा याज्ञिक कर्म में वैश्य–समुदाय का सहयोग आवश्यक था।[3] शूद्रों को तीनों वर्णो का सेवक कहा गया। इस समय तक शूद्र–समुदाय में अनेकानेक वर्ग हो गये थे। शूद्रों की स्थिति धीरे–धीरे हीन होती जा रही थी। शूद्रों का अभिशक्त पुरुष द्वारा सम्बोधन योग्य नहीं होता था।[4] परन्तु इस समय तक समाज में अस्पृश्यता की भावना का उदय नहीं हुआ था। उपनिषदों में उल्लिखित सत्यकाम जाबलि तथा जानश्रुति की कथाओं से स्पष्ट है कि अब तक शूद्र दर्शन के अध्ययन से वंचित नहीं किया गया था।[5] वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में कहा गया कि ब्रह्मलोक में सभी समान माने जाते है। अतः चाण्डाल भी यज्ञ का अवशेष पीने का अधिकारी है।[6]

उत्तर वैदिक काल में भी राजतंत्र ही लोकप्रिय शासन–तंत्र था। इस समय तक राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त उत्तरोत्तर दृढ़तर हो रहा था। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उसमें एक स्थान पर राजा पुरू घोषणा करते है कि "मैं इन्द्र हूँ, मैं वरूण हूँ।[7] इसी प्रकार अथर्ववेद में परीक्षित को मनुष्यों में देव कहा गया है।[8] ब्राह्मणकाल में यज्ञों की

---

1. तैतरीय ब्राह्मण 1, 2, 6
2. तैतरीय सं. – 1, 7, 31
3. ऐतरेय ब्राह्मण 1, 9
4. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ – 67
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 67
6. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 67
7. ऋग्वेद 4, 42
8. अथर्ववेद 20,127, 7.

Please refer to place of publication and year of publication

महत्ता बढ़ी और लोगों का विश्वास हो गया कि अश्वमेघ और बाजपेय यज्ञों के करने से राजा देवसम हो जाता है।[1]

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया कि जिसे समस्त प्रजा तथा राज्य का अनुमोदन प्राप्त होता है वही राजा होता है। वह राजा नहीं होता जिसे यह अनुमोदन प्राप्त नहीं होता।[2]

प्रारम्भ में जब राज्य अत्यन्त छोटे होते थे तब सभी प्रजाजन राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे। परन्तु जब राज्य बड़े होने लगे तो समस्त निवासियों का व्यक्तिगत रूप में भाग लेना असंभव हो गया ऐसी स्थिति में जैसे–जैसे समय बीतता गया वैसे ही वैसे समाज में वंशानुगत राजाओं की परम्परा प्रतिष्ठित हो गई। राजा का अभिषेक होने लगा जो राजसूय के नाम से प्रख्यात था। इसका सर्वप्रथम महत्वपूर्ण अंग 'रत्नियों' के प्रति सम्मान प्रदर्शन था। राजा 'रत्नियों' के घर जाता था और प्रत्येक को छवि देता था। इस प्रथा से प्रकट होता है कि राजा के लिये राज्य के पदाधिकारी रत्नियों सहयोग और अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक था ? प्रारम्भ में राजा का अभिषेक पुरोहित, राजन्य और वैश्य के द्वारा किया जाता था। जो राजा नियमों का पालन तथा विघ्नों का निवारण करता था वह प्रजा में स्थैर्य प्राप्त करता था।

उत्तर वैदिक युग में राजा के अधिकारों में बढ़ोत्तरी होने से सारी प्रजा का स्वतंत्र होने का दावा करता था। राजा सर्वोपरि था। उसे ब्राह्मणों को भी अपदस्थ करने का अधिकार था। सर्वसाधारण को कर (बलि, शुल्क और भाग) देना पड़ता था और वे इच्छानुसार सताये जाते थे जबकि दास की स्थिति और भी हीन थी। वे मनमाने ढंग से निर्वासित मारे जा सकते थे।[3] स्वयं दण्ड से मुक्त राजा राजदण्ड का उपयोग करता था।[4]

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल तक आते–आते समाज में चारो वर्णो की स्पष्टतः प्रतिष्ठा हुई। इस समय समाज में प्रथम बार विभिन्न वर्णो के बीच भेदभाव दिखे। ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्य मानते हुये उसे देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। 'शूद्र' वर्ण को इस समय पृथक

---

1. शतपथ ब्राह्मण 12, 4, 4, 3. तैत्तिरीय ब्राह्मण 18, 10, 10
2. शतपथ ब्राह्मण 9, 3, 2, 5
3. मजूमदार, हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिकिकर दत्त भारत का वृहत इतिहास, पृष्ठ – 40
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 40

वर्ग के रूप में मान्यता मिली। उसे तीनो वर्णो का सेवक बताया गया तथा धार्मिक क्रियाओं के अयोग्य घोषित किया गया। किन्तु शूद्रों की स्थिति उतनी निम्न रही थी जितनी कि सूत्रो व स्मृतियों के काल में हो गयी।

उसे समाज पर अधिकार था। न्याय प्रदान करने का काम वह पुरोहितों की सहायता से करता था। ब्राह्मणों को ही उच्च पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था। अन्य वर्णो को यह अधिकार नहीं था कि वह राज्य का कार्य–भार एक असैनिक रूप में संभाले पर अब शूद्रों के रहने और उन्नति के अधिकार को मान्यता मिलने लगी। साधारण स्वतंत्र लोगों और उनके बीच का भेद कम होता जा रहा था। वे बहुदा वैश्यों के साथ मिल जाते थे और दोनों मिलकर पुरोहित और क्षत्रिय का विरोध करते थे।

अष्टाध्यायी सूत्रकाल की प्रारम्भिक रचना है जिसकी रचना पाणिनी ने की। यह व्याकरण ग्रन्थ है, परन्तु भारतवर्ष के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन के लिये भी महत्वपूर्ण है। अष्टाध्यायी में चतुर्वर्ण का अस्तित्व मिलता है। उसमें ब्राह्मण शब्द का प्रयोग मिलता है। भिन्न–भिन्न जनपदों में रहने के कारण ब्राह्मणों के भिन्न–भिन्न नाम पड़ गये थे।[1] पाणिनी ने 'क्षत्रिय' और राजन्य दोनों शब्दों का प्रयोग किया। वैश्य के लिये 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया गया।[2] अष्टाध्यायी से प्रकट होता है कि पाणिनी–काल में शूद्र समुदाय दो कोटियों में विभक्त था – 1. अनिरवसित और निरवसित। अनिरवसित शूद्र आर्य – समुदाय में परिगठित होते थे। निरवसित शूद्र अस्पृश्य और व्याज्य समझे जाते थे। पाणिनी काल में राजतन्तात्मक प्रणाली के शासित प्रदेश को 'राज्य' कहते थे।[3] राज्य का सर्वोच्य अधिकारी 'राजा' या 'भूपति' कहलाता था। राजकीय कार्यो में सहायता के लिये एक मंत्रिपरिषद होती थी।[4]

यह मंत्रियों की समिति थी जो समय–समय पर राजा को परामर्श देती थी। इनमें जो मुख्य मंत्री होता था वह 'आर्य ब्राह्मण' कहलाता था।[5]

---

1. पाणिनि, 5,4,104
2. पाणिनि 1,1,103
3. पाणिनि कालीन 6, 20, 130
4. वही 5, 2, 112
5. वही 6, 2, 58

न्याय के लिये पाणिनी ने अभ्रेष शब्द का प्रयोग किया।[1] बहुधा झगड़े स्थेय[3] (मध्यस्थ) के द्वारा निर्णीत हो जाते थे। अपराधों में ब्रह्म हत्या, भ्रूण–हत्या शीर्षघात, स्तेय (चोरी), डकैती, लुण्टाक–डाकू, राहजनी आदि का उल्लेख मिलता है। छोटे–छोटे अपराधों में प्रायः अर्थ दण्ड दिया जाता था।[2]

पाणिनीकाल तक आते–आते शूद्रो को हीनता की दृष्टि से देखा जाने लगा। वह अस्पृश्य कहे जाते थे पर इस समय तक न्याय प्रणाली कठोर नहीं हुयी थी। अपराधों का निपटारा ज्यादातर बातचीत के द्वारा ही हो जाता था।

सूत्रकाल

(सातवीं या छठी शताब्दी ई. पू. से तीसरी शताब्दी ई. पू.)

उत्तर–वैदिक काल के अन्त तक और सूत्रकाल के प्रारम्भिक दौर से ही वर्ण विभेद काफी बढ़ गया था अतः सूत्रकाल में वर्ण व्यवस्था का पुनः संगठन किया गया। राजा अन्य वर्गो का शासक था, परन्तु ब्राह्मण–वर्ण का नहीं।[3] उसे किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता था।[4] वह पूर्णतः अवध्य, अदण्ड, अबहिष्कार्य, अपरिवद्य और अपरिहार्य।[5] वह कर मुक्त है।[6] इस प्रकार ब्राह्मण अन्य वर्गो श्रेष्ठ था परन्तु ब्राह्मण की इस समन्तात् एवं उच्चता का कारण उसकी विद्धता एवं सच्चरित्रता होता था। गौतम का कथन है कि अविद्धान ब्राह्मण की अपेक्षा विद्धान ब्राह्मण को ही दान देना अधिक पुण्यकर है।[7] अन्य वर्गो के ऊपर उसकी श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध है कि दस वर्ष का ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय के लिये भी सम्मान्य है। क्षत्रियों

---

1. वही 3.3.37
2. वही, 5.4,2
3. गौतम0 9.1
4. गौतम0 12.43
5. गौतम0 8.12.13
6. आप0 2.10.26.10 वशिष्ट – 1.44–46
7. गौतम0 5.18

से संसार में धर्म की रक्षा होती है।[1] ब्राह्मणों के सहयोग से क्षत्रिय सुख–शान्ति प्राप्ति करता है।[2] पर व्यावहारिक दृष्टि से क्षत्रिय के ऊपर ब्राह्मण की ही प्रभुता स्थापित की। यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करे तो उस पर 100 कर्षापण का जुर्माना होगा।[3] परन्तु यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे तो उस पर केवल 50 कार्षापण जुर्माना होगा। प्रत्येक वर्ण को राज कर देना पड़ता था, परन्तु ब्राह्मण उससे मुक्त था।[4] ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय को भी अध्ययन, यज्ञ और दान का अधिकार था।[5] सम्मान्यता की दृष्टि से वैश्य–वर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णो के बाद आता है। गौतम के अनुसार यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे तो उसे 50 कार्षापण जुर्माना देना होगा, परन्तु यदि वह वैश्य का अपमान करे तो उसे केवल 25 कार्षापण देना होगा।[6] ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भाँति वैश्यों को भी अध्ययन, यज्ञ और दान का अधिकार था।[7] आपस्तम्ब ने ब्राह्मणों को यह अनुमति दी थी कि आवश्यकता पड़ने पर वे वैश्यों से भी विद्याध्ययन कर सकते है।[8] अन्य वर्णो की भाँति वैश्य वर्ण भी आपाद्काल में वर्ण विरूद्व व्यवसाय का अनुसरण कर सकता था। गो, ब्राह्मण तथा वर्णो की रक्षा के लिये वह शस्त्र भी ग्रहण कर सकता था।[9] चौथा वर्ण शूद्रों का था। प्रारम्भ में इस वर्ण में अनार्य, विजित अथवा क्रीत मनुष्य ही थे। गौतम ने शूद्र को अनार्य कहा। बौधायन ने उनके लिये कृष्ण वर्ण, शब्द का प्रयोग किया। कालान्तर में अनार्य जातियों के साथ आर्यो की वर्ण संकर जातियाँ भी शूद्र समुदाय में परिगठित होने लगी।[10] बौधायन की व्यवस्था है कि वेदाध्ययन और कृषि, परस्पर विरोधी है और सामान्य मनुष्य दोनों का एक साथ अनुसरण नहीं कर सकता, यह व्यवस्था वैश्य वर्ण पर पूरी तरह से

1. गौतम0 8.1
2. गौतम0 9.14
3. गौतम0 21.6.10
4. गौतम0 11.1.
5. गौतम0 10.1–3
6. गौतम0 26.6–11
7. गौतम 0 10.1–3
8. आप. ध. स. 2.2.4.25–28
9. गौतम 0 7.26
10. बौधा0 ध0 सं0 2.1.59

लागू हुयी थी।[1] सूत्रकारों की दण्ड–व्यवस्था में भी शूद्रों का निम्न स्थान था। क्षत्रिय और वैश्य का अपमान करने पर ब्राह्मण पर क्रमशः 50 और 25 कार्षापण का जुर्माना होता था। परन्तु शूद्र के प्रति उसी अपराध में उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता था। सामान्य परिस्थिति में ब्राह्मण के लिये शूद्र का दान भी आग्रह्य था। वह उसे आपद्काल में ग्रहण कर सकता था।[2]

धर्मसूत्रों में केवल राजतंत्र का ही उल्लेख पाया जाता है क्योंकि वे इसी व्यवस्था के पक्षपाती है। वे राज्य को एक धार्मिक संस्था के रूप में देखते है जिसमें राजा एवं प्रजा दोनों दैवी इच्छानुसार अपना–अपना कार्य करते है। धर्म–सूत्रों में राजा की निरंकुशता पर रोक लगायी गयी है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह जातियों तथा वर्गो की न्यायपूर्वक रक्षा करे। सूत्र–काल में धर्म ही राजा की निरंकुशता का नियामक था, सभा–समिति जैसी कोई संस्था नहीं थी। सम्राट कानूनों का निर्माता नहीं, बल्कि उनका पालक था। वह प्रजा से अपनी सेवाओं के बदले कर लेता था जो उसकी वृन्ति होती थी।

इस प्रकार सूत्रकाल तक आते–आते वर्णो का पारस्परिक विभेद काफी बढ़ गया। प्रथम तीन वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को एक साथ मिलाकर 'द्विज' कहा गया और इन्हें शूद्रों से अलग माना जाने लगा। पर वैश्यों की भी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति धीरे–धीरे शूद्रों के निकट आती जा रही थी। समाज में अस्पृश्यता का उदय हुआ। चाण्डाल अस्पृश्य माने जाने लगे जो नगर के बाहर निवास करते थे । वर्ण कठोर जाति में बदल गये जिनका आधार कर्म न होकर जन्म माना गया। अर्न्तवर्ण विवाह एवं खान–पान पर स्पष्ट रूप से प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

शूद्रों का समाज अत्यन्त निष्कृट तथा अधिकार विहीन वर्ग माना गया। उन्हें अध्ययन, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण आदि का अधिकार नहीं था। शूद्रों को छोड़कर शेष तीनों वर्णो को उपनयन का अधिकार था।[3] उनका एक मात्र कार्य दूसरों की सेवा द्वारा अपना निर्वाह करना था।[4] उन्हें सम्पत्ति का अधिकार नहीं था तथा वे जो कुछ सम्पत्ति कमाते भी थे वह अन्य वर्णो के उपयोग

---

1. बौधायन 1.5.101
2. बौधायन 2.2.80.
3. बौधायन गृहसूत्र – 2.8.1.12
4. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति

के लिये थी।

अन्ततः हम कह सकते है कि सूत्रकाल में वर्ण व्यवस्था को सुनिश्चित आधार प्रदान किया गया और प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्यों का निर्धारण हुआ। राजा को सलाह दी गयी कि वह वर्ण धर्म की रक्षा करें। वर्ण का आधार कर्म न मानकर जन्म माना गया तथा ऊँच–नीच की भावना का विकास हुआ। विभिन्न वर्णो के लिये दण्डों की अलग–अलग दण्ड मिलता था। ब्राह्मण के अधिकार तथा उसकी सुविधायें बढ़ा दी गयी एवं शूद्रों को अत्यन्त हीन स्थिति में ला दिया गया उसे प्रथम तीन वर्णो की दया पर छोड़ दिया गया तथा उसके समस्त अधिकार एवं सुविधायें जाती रही।

महाकाव्य–काल में न्याय व्यवस्था

महाकाव्य–काल से तात्पर्य रामायण और महाभारत के समय से है। रामायण की रचना–काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। विन्टर नित्स का विचार है कि मूलतः इस ग्रन्थ की रचना ई. पू. चौथी शताब्दी में हुई तथा इसका अन्तिम स्वरूप दूसरी शताब्दी ईस्वी के लगभग निश्चित हुआ था। महाभारत की रचना का मूल समय भी ई. पू. चौथी शताब्दी माना गया है तथा इसके वर्तमान स्वरूप की तिथि चौथी शताब्दी ईस्वी निर्धारित की जाती है। भारतीय लोक जीवन में इन दोनों ही ग्रन्थों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। रामायण आदि काव्य है जिसकी रचना महर्षि बाल्मीकि ने की थी। महाभारत की रचना वेदव्यास ने की थी। यहाँ पर इन दोनों महाकाव्यों के अन्तर्गत प्रचलित न्याय–प्रणाली का उल्लेख किया गया है –

महाकाव्य युगीन न्याय व्यवस्था :–

महाकाव्य युगीन समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। ऋग्वेद की भाँति रामायण में भी चतुर्वर्ण परम पुरुष से उत्पन्न बताया गया है कि –

"मुखतो ब्राह्मण जाता उरसः क्षात्रयास्तथा।
उरूभ्याँ जज्ञिरे वैश्य पदभ्याम् शूद्राः।।"[1]

अर्थात् विराट पुरुष के मुँह से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरूभाग से वैश्य तथा पैरों से शूद्र वर्णो की उत्पत्ति हुई ।

1. रामायण, 3.14.29–30

ब्राह्मण की श्रेष्ठता पूर्ववत् विद्यमान थी वह परम पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ था।[1] वह अवध्य है।[2] वह कर–मुक्त है।[3] परन्तु अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने वाला ब्राह्मण अपनी सारी सम्मान्यता खो बैठता था। बिना पढ़ा–लिखा ब्राह्मण काष्ठस्ती अथवा भृगचर्म के समान है।[4] इसलिये ब्राह्मणों के लिये एक मात्र वेदाध्ययन और तत्पश्चर्या पर ही सदैव जोर दिया गया।[5] जो ब्राह्मण वेदों का स्वाध्याय न करता हो, शूद्रों के समान होता है।[6] ब्राह्मण के विषय में जो नियम बनाये गये थे उसके त्यागमय एवं विशुद्ध जीवन की जानकारी होती है।

धन संग्रह उसके लिये वर्जित था।[7] वह किसी वस्तु की कामना नहीं कर सकता।[8] ब्राह्मणों के पास यदि धन इकठ्ठा हो जाये तो वह उसके लिये अनर्थ का कारण होता था।

महाकाव्य युगीन समाज व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ण क्षत्रिय कर्मो का अनुसरण कर सकता था – द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य ब्राह्मण थे फिर भी उन्होंने शस्त्र ग्रहण कर कौरव पक्ष की ओर से युद्ध में भाग लिया था। यद्यपि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मो को ग्रहण कर सकता लेकिन उसे समाज में सम्मानीय पद प्राप्त नहीं होता था। जैसा की महाभारत में उल्लिखित है कि, "क्षत्राणि वैश्यानि च सेवमानः शौद्राणि कमाणि च ब्राह्मणः सन्। अस्मिाल्लोके निन्दितो मन्दचेताः परे च लोके निरयं प्रथाति।।[9]

अर्थात् जो ब्राह्मण होकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मो का अनुसरण करता है, वह मन्द बुद्धि पुरुष इस लोक में निन्दित और परलोक में नरकगामी होता है।

क्षत्रिय–वर्ण शासक–वर्ग, संरक्षक–वर्ग और योद्धा वर्ग था। उसका प्रमुख कार्य चतुर्वर्णो का संरक्षण करना था।[10] ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों को भी अध्यापन का अधिकार था।[11]

---

1. रामायण, 3.14.29 महाभारत 6.67.18
2. महाभारत – 1.28.3
3. महाभारत, 12.76.19
4. महाभारत, 12.36.41–48
5. महाभारत, 12.12.24
6. महाभारत शान्ति पर्व अध्याय 62 श्लोक 5 पृष्ठ – 4585
7. महाभारत अनुशासन पर्व, 61.19
8. महाभारत शांतिपर्व, 62.8, पृष्ठ – 4582
9. महाभारत शान्तिपर्व, 62.4 पृष्ठ – 4584
10. रामायण 2.106, – 18–21
11. महाभारत 5.40. 26.12.60.13.20

परन्तु रामायण के उल्लेखों से प्रकट होता है कि उन्हें अध्यापन अथवा याजन (यज्ञ कराने) का अधिकार न था। वह प्रजाजनो का सब प्रकार से पालन करता रहे।[1] युद्ध क्षत्रियों के लिये प्रधान मार्ग है।[2] ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रमुख वर्ण थे। इन दोनों वर्णो की पारस्परिक कलह समाज के लिये विनाशकार है।[3]

महाभारत का उल्लेख है कि समाज के जिस वर्ग ने अध्ययन यजनादि कर्मो का परित्याग कर कृषि–कर्म और गो–पालन का अनुसरण किया वह वैश्य हो गया।[4] उनका प्रमुख ध्येय धनोपार्जन ही रहा।[5] कृषि गोरक्षा और वाणिज्य उनके स्वाभाविक कर्म थे।[6] यह वर्ग सबसे अधिक धनी था। इसी से सबसे अधिक राजकर यही देता था।[7] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह शस्त्र ग्रहण कर सकता था, क्योंकि महाभारत के अनुसार समाज को उच्छृंखलता से बचाने के लिये प्रत्येक वर्ण शस्त्र कर सकता है।[8]

शूद्र वर्ण समाज का सबसे अधिक निम्न वर्ग था। विराट् पुरुष अथवा ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न होने के कारण उसे समाज के सभी वर्णो का भार ढोना पड़ता था। महाभारत में जैसा कि उल्लिखित है कि, "ब्राह्मणों मुखतः सृष्टो ब्राह्मणों राजसत्तम् बाहुम्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरूभ्याँ वैश्य एव च। अर्थात् ब्राह्मणी के मुख से ब्राह्मण की, दोनों भुजाओं से क्षत्रिय की तथा दोनों गुरूओं से वैश्य की सृष्टि हुई।[9]

आगे महाभारत में ही उल्लिखित है कि –

---

1. महाभारत शान्ति पर्व अध्याय 60 श्लोक 14 पृष्ठ – 4579
2. महाभारत शान्ति पर्व, 60. 17–18 पृष्ठ – 4579
3. महाभारत, 12.73.2
4. महाभारत 12.188.1–18
5. महाभारत, 5.132.30.
6. महाभारत, 6.42.44.
7. महाभारत, 2.47.28.
8. महाभारत, शांन्तिपर्व, 78.15
9. महाभारत शांतिपर्व, 72.4 पृष्ठ – 4612

वर्णानां परिचर्यार्था त्रयाणां भरतर्षभ।

वर्णश्रुतुर्थः पश्रात् तु पद्रयां शूद्रोविनिर्मतः।।

अर्थात् इसके बाद तीनों वर्णो की सेवा के लिये ब्राह्मणी ने दोनों पैरों से चौथे वर्ण शूद्र की रचना की।

शूद्र के लिये तीनो वर्णो की सेवा ही शास्त्र विहित कर्म है।[1] वह तीनों वर्णो की सेवा से ही महान सुख का भागी हो सकता है।[2] शूद्रों को किसी प्रकार भी धन संग्रह करने का अधिकार नहीं था।[3]

तीनो वर्गो को शूद्र का भरण–पोषण अवश्य करना चाहिये।[4] शूद्र को सम्पत्ति संग्रह करने का अधिकार नहीं था।[5] फटे–पुराने कपड़े जो द्विजातियों द्वारा दान की जाती थी वही उसकी सम्पत्ति होती थी।[6] शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता था। उसके सारे धन पर उसके स्वामी का अधिकार था।[7]

महाकाव्य–युगीन सामाजिक व्यवस्था में शूद्रों का सबसे नीचे होने के कारण उन्हें न तपस्या का अधिकार था और न दो विद्याध्ययन के लिये गुरूकुलो में नहीं जा सकते थे। रामायण में शम्बूक नामक एक शूद्र का उल्लेख हुआ जो अनाधिकार तप करने के कारण स्वयं राम के हाथों मारा गया।[8] इसी प्रकार एकलव्य नामक निषाद बालक को द्रोणाचार्य ने शिक्षा देने से इंकार कर दिया तथा अपनी निष्ठा एवं लगन से जब उसने स्वयं ही धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त कर ली तो छल से उसके दायें हाथ का अंगूठा कटवा दिया था।[9] किन्तु इस काल में हमें शूद्रों की स्थितिज में सुधार के भी चिन्ह मिलते है। सर्वप्रथम शान्तिपर्व में जो ही यह विधान मिलता है कि द्विजातियों में से जिस किसी की सेवा करने के लिये शूद्र नियुक्त होते थे, उसी को उसकी

1. महाभारत, शान्ति पर्व, 60.28, पृष्ठ – 4580
2. वही – 29
3. वही – 30
4. महाभारत शान्ति पर्व 60.32. पृष्ठ – 4580
5. वही, 33½
6. वही, 34½
7. वही, 37
8. रामायण, 76. पृष्ठ–1625
9. महाभारत, आदिपर्व – 37

जीविका की व्यवस्था करनी होती थी।[1] यह भी पता चलता है कि मंत्रिपरिषद में शूद्र प्रतिनिधि भी रखे जाते थे।[2]

सर्वप्रथम शान्ति पर्व में यह विधान मिलता है कि चारो वर्णो को वेद सुनना चाहिये तथा शूद्र से भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। महाभारत में विदुर, मातंग, कायव्य आदि व्यक्तियों के नाम ऐसे है जो जन्मना शूद्र होते हुये भी समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुये थे। महाभारत में लिखा है कि धर्मात्मा शूद्र राजा की आज्ञा लेकर अपनी इच्छा के कोई भी धार्मिक कृत्य कर सकता था। अपने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया था।[3] अब सेवा कर्म ही उनका धर्म न था। अब वे वाणिज्य पशुकर्म और उद्योग धन्धों का भी अनुसरण कर सकते थे।[4] शूद्रों को यज्ञ अनुष्ठान करने का अधिकार प्राप्त हो चुका था।[5] पैजवन नामक शूद्र ने ऐन्द्राग्न यज्ञ की विधि से मन्त्रहीन यज्ञ का अनुष्ठान करके उसकी दक्षिणा के रूप में एक लाख पूर्णपात्र दान दिये थे।

महाकाव्य भी राजतंत्र को ही प्रमुख शासन–तंत्र मानते है। महाकाव्य भी राजा को देवसम मानते है। धर्मशास्त्रों के अनुसार शासन ककरना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य था। प्रजा की हित–साधना ही उसका ध्येय था।[6] राजा का प्रधान धर्म लोक रंजन था।[7] राजा ही प्राणियों का रक्षक और विनाशक होता है। जो धर्मात्मा होता है वह कर्त्ता होता है और जो अधर्मात्मा होता है वह विनाशक है।[8] महाभारतकार ने प्रजा का उत्पीड़न करने वाले राजा की हत्या कर डालने की अनुमति दी है।[9] इस प्रकार धर्म राजा के ऊपर सबसे बड़ा अंकुश था। राज्यपद वंशानुगत होता था। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र स्वतः राज्याधिकारी बन जाता था। जैसा कि

1. शान्ति पर्व, 37
2. महाभारत 12.85.7–8
3. महाभारत, 2.33.41
4. महाभारत, 12.292, 2–4
5. शान्ति पर्व 60.37 पृष्ठ–4580
6. महाभारत शान्ति पर्व, 5.118.13.
7. महाभारत शान्ति पर्व 57.11
8. वही – शान्ति पर्व 91.9
9. रामायण – उत्तरकाण्ड 86.16

महाभारत में उल्लिखित है कि "कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति"[1] अर्थात् – परन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र को गम्भीर शारीरिक दोष हो तो उस अवस्था में वह राज्यधिकार से वंचित कर दिया जाता था। जैसे महाभारत में धृतराष्ट्र को अन्धा होने के कारण राजा नहीं बनाया गया। अभिषेक के अवसर पर राजा को प्रजा–पालन की शपथ लेनी पड़ती थी। राजा मंत्रिपरिषद की सलाह पर शासन कार्य करता था। महाभारत के अनुसार इसमें मंत्रियों की संख्या 37 बताई गई। जिसमें चारो वर्णो को स्थान दिया गया था। जो महत्वपूर्ण राजकीय विषयों पर राजा को सलाह देते थे।

राजा को न्याय करने का अधिकार था। वह स्वयं ही प्रयोग करता था। शान्तिपूर्व में उल्लेख मिलता है कि अपराधियों को अपराध के अनुरूप दण्ड मिलता था। अपराधी यदि धनी है तो उसे उसकी सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता था और निर्धन है तो उसे बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया जाता था।[2]

पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते।।[3]

अर्थात् प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी यदि क्रिया अथवा वाणी द्वारा पाप करे तो राजा को चाहिये कि उसे भी क्षमा न करे अर्थात् उसे भी यथायोग्य दण्ड दे। जो ऐसा बर्ताव है, वह राजा का धर्म कहलाता है।

आगे शान्तिपर्व में ही उल्लिखित है कि माता पिता च भ्राता चा भार्या चैव पुरोहितः। नादण्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति।।[4] अर्थात् – माता–पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहा उसे राजा अवश्य दण्ड दे, राजा के लिये कोई भी अदण्डनीय नहीं है।"

ब्राह्मणों को अदण्डनीय कहा गया है क्योंकि संसार में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।[5] पर ब्रह्महत्या, गुरूपत्नी गमन, भ्रूण हत्या तथा राजद्रोह का अपराध होने पर भी ब्राह्मण को देश

---

1. महाभारत 1.85.22
2. शान्तिपर्व, अध्याय–85, श्लोक–20, पृष्ठ–4646
3. शान्तिपर्व, अध्याय–91, श्लोक – 35, पृष्ठ – 4661
4. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय–121, श्लोक–60, पृष्ठ–4736
5. शान्तिपर्व अध्याय 56 श्लोक 22 पृष्ठ–4561

से निकाल देने का ही विधान है – उसे शारीरिक दण्ड कभी नहीं देना चाहिये।[1]

अपवाद है जहाँ पर स्पष्ट कहा गया वही महाभारत का शान्तिपर्व कि –

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।

दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते।।[2]

अर्थात् यदि ब्राह्मण अपराध करे तो वाणी से उसको अपमानित करना ही उसका दण्ड है, क्षत्रिय को भोजनमात्र के लिये वेतन देकर उससे काम लेना उसका दण्ड है, वैश्यों से जुर्माना के रूप में धन वसूल करना उसका दण्ड है, परन्तु शूद्र दण्ड रहित कहा गया है। उससे सेवा लेने के सिवा और कोई दण्ड उसके लिये नहीं है।''

स्मृतिकाल

धर्मसूत्र साहित्य से कालान्तर में स्मृति साहित्य का विकास हुआ। स्मृतियों का निर्माण हिन्दू–धर्म के चरम विकास को सूचित करता है। ये प्राचीन भारतीय सभ्यता पर विशद् प्रकाश डालती है। स्मृतियों को 'धर्मशास्त्र' की संज्ञा प्रदान की जाती है। भारतीय इतिहास में ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर मध्यकाल तक विभिन्न स्मृति ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। पदम् पुराण में इनकी संख्या 36, वृद्ध गौतम में 56 तथा वीर नित्रोदय में 57 दी गयी है। कुछ प्रमुख स्मृतियाँ इस प्रकार है – मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य–स्मृति, विष्णु–स्मृति, काव्यायन–स्मृति, वृहस्पति–स्मृति, पराशर–स्मृति, गौतम, स्मृति, वशिष्ठ स्मृति, नारद–स्मृति, देवल–स्मृति आदि।

उपर्युक्त स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे प्राचीन तथा प्रारम्भिक है। इसकी रचना शुंगकाल (ई. पू. द्वितीय शती) के लगभग हुई थी।[3] अधिकांश स्मृतियाँ इसी को परिवर्तित करके लिखी गयी है। याज्ञवल्क्य, विष्णु नारद, वृहस्पति आदि की स्मृतियों में मनुस्मृति का प्रमाण दिया गया है। ये सब गुप्तकाल की रचनायें है। भारतीय इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से स्मृतियों की उपादेयता महत्वपूर्ण है। ये अपने काल के राजशासन, धर्म, सामाजिक–आर्थिक परम्पराओं, आचार–विचार आदि का व्यापक विवेचन करती है। मनुस्मृति द्वारा हिन्दू धर्म एवं सामाजिक

---

1. शान्तिपर्व अध्याय 56 श्लोक–32–33 पृष्ठ–4562
2. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 15 श्लोक 9 पृष्ठ–4454
3. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पृष्ठ – 768

परम्पराओं का जो स्वरूप निर्धारित हुआ वह आज तक मान्य है। इसे पवित्र एवं सम्मानित स्वीकार किया जाता है। समाज में व्यवस्था स्थापित करने के लिये इसके द्वारा विधान प्रस्तुत किये गये। हिन्दू धर्म एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने का महत्वपूर्ण कार्य स्मृतिकारों ने किया है। स्मृतियों के साथ–साथ उनकी लीलायें भी प्राचीनकाल के सामाजिक जीवन का विशद् विवेचन करती है। अतएव इस दृष्टि से मनुस्मृति द्वारा निर्धारित भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन एवं विश्लेषण अनिवार्य है।

मनुस्मृति कालीन न्याय व्यवस्था

(ई. पू. द्वितीय शताब्दी)

मनु भी वर्ण–व्यवस्था के जर्बदस्त समर्थक थे। मनु के अनुसार, 'लोकानां तु विपृद्धयर्थ मुखबाहूरूपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्य शूद्र च निरवर्यतत्।।[1] अर्थात् संसार के विकास के लिये मुख, बाहु, जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया।

द्विघ्रा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवन्।

अर्धेन नारी तस्याँ स विराजमसृजत्प्रभुः।।[2]

अर्थात् ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग कर आधे से पुरुष और आधे से स्त्री बनाकर उसमें विराट् पुरुष की सृष्टि की।

अध्यापनध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानाम कल्पयत्।।[3]

अर्थात् ब्राह्मणों के लिये पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना, ये छः कर्म निश्चित किये गये है।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याहययनमेव च।

विषयेष्व प्रशक्तिश्च क्षत्रित्रयस्च समासमतः।।[4]

अर्थात् क्षत्रियों के लिये प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना पढ़ना विषयो (गीत,

---

1. मनुस्मृति 1.31
2. वही, 32
3. वही, 88
4. वही, 89

नृत्यादि) में आसक्त न होना, ये पाँच कर्म निश्चित किये गये है।

पशूनाँ रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वाणिज्यं च कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।[1]

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, रोजगार करना सूद पर रूप देना और कृषि करना ये वैश्यों के कर्म है।

एकमेव तु शूदस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वृर्षानां शुश्रूषामनसूयया।।[2]

ब्रह्मा ने उपर्युक्त तीनो वर्णो का गुणानुवाद करते हुये सेवा करना यह एक ही कर्म शूद्रों के लिये निश्चित किया है।[3] नाभि से ऊपर पुरुष अत्यन्त पवित्र माना गया है, उससे भी (सभी अंगों से) पवित्र ब्रह्मा जी ने मुख को ही माना है।[4]

इस प्रकार मनु की वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सबसे उच्च था। उत्तमाँग (मुख से) उत्पन्न होने और वेद को धारण करने के कारण इस सम्पूर्ण संसार का स्वामी धर्म से ब्राह्मण ही है।[5] मनु के अनुसार ब्राह्मण क्योंकि सबसे श्रेष्ठ उत्पत्ति है इसी कारण, वह अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपना ही दान देता है (अर्थात् दूसरे का अन्न वस्त्रादि सब ब्राह्मण का ही होता है।[6]

मनु युगीन व्यवस्था में द्विजातियों को ही गर्भधानादि शरीर के संस्कार का अधिकार प्राप्त था।[7] मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये है। उपनयन संस्कार की व्यवस्था की और शूद्रों को इससे वंचित रखा जैसा कि मनुस्मृति में उल्लिखित है कि – चूड़ाकर्म द्विजातीनां

---

1. वही 90
2. वही, 91
3. मनुस्मृति 1–91
4. वही, 92
5. वही, 93
6. वही, 101
7. वही, 2

सवेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।।[1] अर्थात् सभी द्विजातियों का धर्म के लिये पहले या तीसरे वर्ष में मुण्डन करना चाहिये ऐसा वेद में कहा गया है। नामकरण के नियम निर्धारित करने के सम्बन्ध में मनु ने इस प्रकार व्यवसायिक, हिन्दू का प्रासंगिक नाम दो भागो का होना चाहिये जिसका उल्लेख मनुस्मृति में इस प्रकार है कि, ''मंगल्य ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्थ बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।[2]

अर्थात् ब्राह्मण का मंगलवाचक, क्षत्रिय का बलवाचक वैश्य का धन से युक्त और शूद्र का निद्रा से युक्त नाम रखना चाहिये। इसके अनुसार ही मनुस्मृति में आगे उल्लिखित है कि –

''शर्मवद ब्राह्मणस्य स्याद्रज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्।।[3]

अर्थात् शमन्ति ब्राह्मण का (जैसे गोपीनाथ शर्मा), क्षत्रियों का रक्षा से युक्त (रघुवीर सिंह या रामनाथ वर्मा) वैश्य का पुष्टि से युक्त (जैसे घनश्याम गुप्त) और शूद्र का दास से युक्त (बलराम दास) नाम रखना चाहिये।

मनुस्मृति के अनुसार – ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वेदों का अध्ययन कर सकते है परन्तु इनमें से केवल अकेले ब्राह्मणों को ही वेदों की शिक्षा देने का अधिकार है परन्तु शूद्रों के सम्बन्ध में यह नियम है कि उनको वेदों का अध्ययन ही नहीं करना चाहिये, बल्कि उसके पठन को भी नहीं सुनना चाहिये। मनु के अनुसार विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठयं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः।।[4] अर्थात् ज्ञान से ब्राह्मणों का, बल से क्षत्रियों का, धन–धान्य से वैश्यों का और जन्म से शूद्रों का बडप्पन होता है।

इस प्रकार मनु ने शूद्रों को सभी धार्मिक संस्कार–विधियों के लाभ से वंचित रखा। आश्रम सिद्धान्त हिंदुत्व की एक खास विशेषता है। आश्रम सिद्धान्त के अनुसार, जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। ये चार अवस्थाये है – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। मनु सिर्फ द्विज–जन्म लोगों तक ही आश्रम व्यवस्था को सीमित करता है। मनुस्मृति के

---

1. वही, 2,35
2. वही 2, 31
3. मनुस्मृति 2, 32
4. वही, 155

अनुसार, ''नाघाच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः। आददीताममेवास्माद वृत्तावेकरात्रिकम्।[1] अर्थात् विद्वान ब्राह्मण को श्राद्धादि पंच यज्ञ के अनाधिकारी शूद्र का पक्वान्न भी नहीं खाना चाहिये। एक स्थान पर मनुस्मृति में उल्लिखित है कि – ''न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृत शूद्रेण नापयेत्। अस्वर्ग्या ह्माहुतिः सा स्याच्छद्रसंस्पर्शदूषिता।।[2] अर्थात् आत्मीय लोगों के रहते हुये मरे हुये ब्राह्मणों को शूद्र से न उठवाये, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित होने के कारण मृतक का वह दक्ष शरीर स्वर्ग निमित्तक नहीं होता।

मनु अंतर्जातीय विवाह प्रथा के विरोधी थे । उनका कहना है कि प्रत्येक वर्ग अपने वर्ण में ही विवाह करे जैसा कि मनुस्मृति में उल्लिखित है कि, शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च, स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्चस्वा चाग्रजन्मनः।।[3] अर्थात् शूद्र की शूद्रा ही स्त्री होती है। वैश्य को वैश्य वर्ण की और शूद्रा, क्षत्रिय को क्षत्रिया, वैश्य और शूद्रा, ब्राह्मण को चारो वर्णो की कन्या से विवाह करने का अधिकार है। न ब्राह्मणक्षत्रिययो रापद्यपि हि त्रिष्ठतोः। कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते।।[4] अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय को सवर्णा स्त्री न मिलने पर भी शूद्रा को स्त्री बनाने का किसी भी इतिहास में आदेश नहीं पाया जाता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को पहले सवर्णा (स्वजाति की कन्या) से विवाह करना श्रेष्ठ होता है।

मनु की योजना में प्रत्येक मनुष्य के लिये उसके जन्म के पहले ही व्यवसाय निश्चित कर दिया गया हैं। मनु कहते है कि अध्यापन, अध्ययन यज्ञन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छः कार्य ब्राह्मण के है।[5] इन छः कार्यो में से तीन काम याजन (यज्ञ कराना) अध्यापन और विशुद्ध दान लेना ब्राह्मण की जीविका है।[6] क्षत्रिय को हथियार धारण करना और वैश्य को पशुपालन, खेती और व्यापार जीविका के लिये करना चाहिये।[7] अजीवस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।

---

1. मनुस्मृति 4–223
2. मनुस्मृति 5–104
3. मनुस्मृति 3–13
4. मनुस्मृति 3–14
5. वही – 10–75
6. वही – 76
7. वही – 79

जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यास्य प्रत्यनन्तरः।।[1] अर्थात् यदि ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्म से जीविका न कर सके तो वह क्षत्रिय धर्म से (रक्षा कार्य) जीविका चलाये, क्योंकि क्षात्र धर्म ही उसके निकट धर्म है।

यदि दोनों प्रकार की जीविका से ब्राह्मण अपनी जीविका न कर सके तो उसकी जीविका कैसे हो ऐसी स्थिति में खेती और गौ की रक्षा को करके वैश्य वृत्ति से अपनी जीविका करे। यदि क्षत्रिय अपनी निज वृन्ति से जीविका असंभव समझकर अपने धर्म नैपुण्य का त्याग किया हो वे वैश्यों के व्यापार पदार्थो को छोड़कर अन्य वस्तुओं का व्यापार अपने धन को बढ़ाने के लिये करे। पर क्षत्रिय कभी भी ब्राह्मण की वृत्ति का अवलम्बन न करें।[2] अर्थात् यदि वैश्य अपनी जीविका से जीवन निर्वाह न कर सके तो शूद्रवृत्ति से जीविका का निर्वाह करे और शक्तिशाली हो जाने पर उसे छोड़ दे।[3] शूद्रों के लिये मनु कहते है कि वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत्। अनाचरन्न कार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान।। अर्थात् – यदि द्विजातियों की सेवा करने में शूद्र असमर्थ हो और उसके स्त्री बच्चे अन्नादि का कष्ट पा रहे हो तो वह कारीगरी का काम करके जीविका चलाकर सबका भरण–पोषण करे। मनु शूद्र से कहते है कि उसका जन्म ऊँचे वर्णो की सेवा करने के लिये ही हुआ। मनु ने शूद्रों के लिये कहा कि शूद्रस्तु वृत्तिभाकाङक्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रों जिजीविषेत्।।[4] स्वर्गार्थमुभयार्थ वा विप्रानाराधयेन्तु सः। जात ब्राह्मण शब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता।[5]

अर्थात् ब्राह्मण की सेवा करते हुये यदि शूद्र का जीवन निर्वाह न हो तो क्षत्रिय की सेवा करे। यदि उससे भी पेट न भरे तो धनिक वैश्य की सेवा कर जीवन निर्वाह करे। वह शूद्र के लिये या स्वार्थ और परमार्थ के लिये ब्राह्मणों की सेवा करे। इस शूद्र की वह ब्राह्मण की सेवा करता है) ऐसी प्रसिद्धि होना ही उसके कृतकृत्यता है।

---

1. वही – 81
2. मनुस्मृति – 10–95
3. वही – 98
4. वही – 121
5. वही – 122

मनुस्मृति में लिखा है कि –

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्व्यते।

यदतोऽन्यद्धि कुरूते तद्भवप्यस्य निष्फलम्।।[1]

प्रकल्पया तस्य नैवृतिः स्वकुटम्बाद्यथार्हतः।

शक्ति चावेक्ष्यं दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्।।[2]

अर्थात् ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का विशिष्ट कर्म कहा गया है। इस कार्य से भिन्न वह जो कुछ कर्म करता है वह उसके लिये निष्फल होता है। इस शूद्र की (जो सेवा कर रहा है) शक्ति, कार्यकुशलता और भव्यों का परिग्रह (उसके कुटम्ब के भरण पोषण का खर्च) देखकर ब्राह्मण अपने कुटुम्ब से प्रबन्ध करे।

मनु कहते है कि –

शूद्रं तु कारयेददास्यं क्रीतम क्रीतमेपण।

दास्यायैव हि सृष्टोडेसा ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा।।[3]

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते।

निसर्गजंहि तन्तस्य कस्तस्मान्तद पाहति।।[4]

अर्थात् शूद्र खरीदा हुआ हो या न हो उससे नौकर का काम ले, क्योंकि ब्रह्मा ने ब्राह्मण की सेवा के लिये उसे बनाया है। स्वामी से कहे जाने पर भी शूद्र सेवावृत्ति से छुटकारा नहीं पा सकता क्योंकि यह उसकी स्वाभाविक वृत्ति है, उसे कौन अलग कर सकता है।

मनु कहते है कि शूद्र के पास अपना कोई धन नहीं होता। इस सम्बन्ध में मनु व्यवस्था करते है कि–

विस्त्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत्।

नहिं तस्यास्ति किचिंत्व भर्तृहार्यधनो।।[5]

---

1. मनुस्मृति 10–123
2. वही – 124
3. वही – 8 – 413
4. वही – 414
5. वही – 417

वैश्य शूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत।

तौ हि च्युतौ स्वकमभ्यं क्षोभयेतामिद जगत।।[1]

अर्थात् काम आ पड़ने पर असम्बन्धित शूद्र का धन ब्राह्मण बेरोक ले सकता है क्योंकि उसका अपना धन कुछ नहीं है, सब धन उसके स्वामी का है। राजा, वैश्य और शूद्र से उसकी वृत्ति यत्नपूर्वक करावे क्योंकि वे दोनो अपने कर्मो से च्युत होने पर सारे संसार को क्षुब्ध कर सकते है।

मनु शूद्रों के सम्पत्ति एकत्रित करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाते है। वह दृढ़ता के साथ कहते है कि –

शक्तेनोपि हि शूद्रे न कार्यो धनसंचयः।

शूद्रों हि धनमासाध ब्राह्मणानेव बाधते।।[2]

अर्थात् धन संचय करने में समर्थ होता हुआ भी शूद्र धन का संग्रह न करें। क्योंकि धन को पाकर शूद्र ब्राह्मण को ही बाँधता (सताता) है।

मनु कहते है कि इस जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया और यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार पाये हुये । क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सभी प्रजाओं की रक्षा करनी चाहिये। मनुस्मृति में उल्लिखित है कि राजा को श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा व उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करने चाहिये। राजा अपने कार्यो के सम्पादन के लिये योग्य व दक्ष व्यक्तियों को ही रखे। राजा न्याय सेनापति की सहायता से करता है।

मनु ने लिखा है कि –

सामा–तमाधमै राजा बाहूतः पालयन्प्रजाः।

न निवर्तेत संग्रामात्क्षांत्र धर्ममनुस्मरन्।।[3]

संग्रामेह वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।

शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञा श्रेयस्करं परम्।।[4]

---

1. वही – 418
2. मनुस्मृति – 10 – 129
3. मनुस्मृति 7 – 87
4. वही – 88

अर्थात् प्रजा का पालन करता हुआ क्षात्र धर्म के अनुसार सम बल अधिक बल या कम ही बल वाले राजा से युद्धार्थ बुलाये जाने पर युद्ध में मुँह न मोंड़े । युद्ध में पीठ न दिखाना प्रजाओं का पालन और ब्राह्मणों की सेवा ये राजाओं के लिये परम कल्याण कारण है।

राजा राजकार्यो में नियुक्त दास–दासियों को उनके कर्म के अनुसार प्रतिदिन वृत्ति और पद नियुक्त करे।[1] नीच कर्म करने वाले को एक पण और अच्छे कर्म करने वाले को प्रतिदिन छः पण प्रत्येक मास एक द्रोण तथा छः महीने पर दो वस्त्र देना चाहिये।[2] मनु के अनुसार राजा को प्रजा से थोड़ा–थोड़ा ही वार्षिक कर लेना चाहिये।

मनुस्मृति के अनुसार –

म्रियमाणोऽऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्।।[3]
यस्तु राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तास्यापि तत्क्षुधः राष्ट्रमचिरेणैव सादति।।[4]

अर्थात् अत्यन्त संकटावस्था में भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर न ले और उनके राज्य में रहने वाला वेदाध्यायी ब्राह्मण भूख से पीड़ित न होने पाये ऐसा ध्यान रखे। जिस राजा के राज्य में वैदिक ब्राह्मण भूख से दुःख पाता है, उस राजा का राज्य भी उसकी क्षुधा से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। मनु के अनुसार – जिस देश में शूद्र अधिक हो और नास्तिकों से आक्रान्त हो, जहाँ एक भी ब्राह्मण न हो वह सारा देश शीघ्र ही दुर्भिक्ष और रोग की पीड़ा से पीड़ित होकर नष्ट हो जाता है।[5] राजा के लिये न्याय करने के मनु ने जो विभिन्न वर्णो से सम्बन्धित नियम बनाये वे इस प्रकार है – मनु के अनुसार झूठी गवाही देना अपराध है। वह कहते है कि –

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः।
प्रवसयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणां तु विवसामयेत्।।[6]

---

1. वही – 125
2. वही – 126
3. मनुस्मृति – 7 –133
4. वही – 134
5. वही – 8 – 22
6. वही – 123

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायं भुवोऽब्रतीत्।
तिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणों ब्रजेत्।।[1]

अर्थात् धार्मिक राजा झूठी गवाही देने पर तीनो वर्णो (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को) दण्ड देकर देश से निकाल दे। स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के जो दस स्थान कहे हैं (क्षत्रियादि) तीन वर्णो के लिये है। (ब्राह्मण के लिये नहीं), ब्राह्मण को राजा देश निकाला भर दे।

निरपराधी को दण्ड देने और अपराधी पुरुषों को दंड न देने से राजा को बड़ा अपयश होता है और मरने पर नरकगामी होता है।[2]

मनु कहते है कि –

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदन्ऽमतः परम्।।[3]
वर्धनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात्।
तदैषु सर्वमत्येतत्प्रज्जीत चतुष्टयम्।।[4]

अर्थात् पहले अपराधी को वाग्दण्ड दे, उसके बाद उसे धिक्कार, (उस पर भी वह अपराध करे तो) फिर उसे धन–दंड दे, तत्पश्चात् शारीरिक दंड दे। यदि किसी अंग के काटने के इत्यादिक दंड देने पर भी अपराधियों का निग्रह न कर सके तो उन पर पूर्वोक्त चारो दंडों का प्रयोग करे।

मनु की न्यायिक व्यवस्था के अनुसार –

"शतं ब्राह्मणमांक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽव्यर्धशतं वा शूद्रस्तु वधमर्हति।।[5]
पज्चादश् ब्राह्मणों दण्डयः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्ये स्यादर्धपंचाशच्छदे द्वादशको दमः।।[6]

---

1. वही – 124
2. मनुस्मृति – 8–128
3. वही – 8–129
4. वही – 130
5. वही – 267
6. वही – 268

अर्थात् ब्राह्मण को (चोर चाण्डाल इत्यादि) कटु वचन कहने वाले क्षत्रिय को एक सौ पण, वैश्य को 150 या 200 पण दंड करे, शूद्र को प्राण–दंड देना चाहिये। ब्राह्मण क्षत्रिय को कठोर बात कहे तो 50 पण, वैश्य को कहे तो 25 पण और शूद्र को कहे तो 12 पण देना चाहिये।

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को पापी आदि कर वचन कहे तो उसे जिह्वाछेदन का दण्ड देना चाहिये क्योंकि उसकी उत्पत्ति जघन्य स्थान से है।[1] मनुस्मृति में लिखा है कि –

नान जातिग्रंह त्वेषाभनिद्रोहेण कुर्वतः।

निक्षेप्योऽमोमय शंकुर्ज्वलन्नास्ये दंशागुलः।।[2]

धर्मोपदेश दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।

तप्तमाससेचयेत्तैल म्वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः।।[3]

अर्थात् यदि शूद्र द्रोह से ब्राह्मण आदि द्विजातियों का नाम और जाति दम्भपूर्वक पूरी बात कहे तो जलती हुई दश अंगुल की लोहशलाका उसके मुँह में डाल देनी चाहिये। यदि शूद्र अहंकार वश किसी ब्राह्मण को धर्म का उपदेश करे तो राजा उसके मुँह और कान में खौलता हुआ तेल डलवा दे।

वह कहते है कि –

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता

ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेवमध्यमः।।[4]

यदि ब्राह्मण क्षत्रिय आपस में पापी आदि कहकर गाली दे तो नीतिज्ञ राजा ब्राह्मण को प्रथम साहस और क्षत्रिय को मध्यम साहस दण्ड करे।

वैश्य और शूद्र भी इस प्रकार आपस में गाली दे तो पूर्वोक्त दंड की व्यवस्था करे (अर्थात् वैश्य शूद्र को गाली दे तो उसे प्रथम साहस और शूद्र वैश्य को गाली दे तो उसे मध्यम साहस दंड करे) ऐसे अवसर पर शूद्र की जीभ न काटना यही दंड का निश्चय है।[5]

---

1. मनुस्मृति 8–270
2. मनुस्मृति – 271
3. वही – 272
4. वही – 276
5. वही – 277

अन्त्यज अपने जिस अंग से द्विज को मारे उसका वही अंग काटना चाहिये, यह मनुजी की आज्ञा है यदि द्विज को मारने के लिये हाथ उठाया हो या लठ ताना हो उसका हाथ काट लेना चाहिये और क्रोध से ब्राह्मण को लात मारे तो उसका पैर काट लेना चाहिये।[1]

मनुस्मृति में लिखा है कि –

सहासनमभिप्रेरसुरूत्कृष्टस्याप कृष्टजः।
कप्यां कृतांको निर्वास्यः स्फिर्च वास्यावकर्तयेत्।।[2]

अथनिष्ठीवती दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेभृपः।
अवमूत्रयतो मेढ़मवशर्धयतो गुदम्।।[3]

अर्थात् जो वर्ग ब्रह्मणादि वर्ण के साथ आसन पर बैठना चाहे तो राजा उसकी कमर में चिन्ह करके देश से निकाल दे या राजा उसके नितम्ब पर गहरा घाव कर दे। राजा ब्राह्मण के ऊपर गर्व से थूकने वाले शूद्र के दोनो होठ, पेशाब करने वाले का लिंग और आधोवायु करने वाले का मलद्वार कटवा दे।

केशेषु गृह्तो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।
पादयोर्दाढ़िकायां च ग्रीवायां वृषणेषुचः।।[4]

त्कभेदकः शतं दण्डयो लोहितस्य च दर्शकः।
मांस मेन्ता तु पष्णिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः।।[5]

जो शूद्र अविचार से ब्राह्मण का केश पैर दाढ़ी, गर्दन या अंडकोश पकड़े तो राजा बिना विचार किये ही उसके दोनो हाथ कटवा ले। जो अपने स्वाजातीय का चमड़ा छोल डाले या लहू निकाल दे तो उसे 100 पण दंड देना चाहिये। मांसच्छेदन करने वाले को 6 निष्क दंड दे और हड्डी तोड़ने वाले को देश निकाला दे।

मनुस्मृति के अनुसार कि –

---

1. वही – 279–280
2. वही – 281
3. वही – 282
4. वही – 283
5. वही – 284

पिताचार्यः सुहृन्माताभार्या पुत्रः पुत्रः पुरोहितः।

नांदऽयो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मैः न तिष्ठति।।[1]

कार्षापणं भवेदंडयो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।

तन्न राजा भवेदडयः सहस्रमिति धारणाः।।[2]

माँ, बाप, आचार्य, स्त्री, पुत्र, मित्र और पुरोहित ये लोग यदि अपने धर्म में न रहे तो राजा उन्हें भी दंड दिये बिना न छोड़े। जिस अपराध में साधारण मनुष्य को एक कार्षापण दंड होता है, उस अपराध में राजा को एक हजार पण दंड देना चाहिये, यह शास्त्र का सिद्धान्त है।

मनु कहते है कि –

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।

षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रिस्य च।।[3]

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्ण वापिशतं भवेत्।

द्विगुणा व चतुःपष्टिस्तद्दोषगुणविद्वि सः।।[4]

चोरी के गुण दोष को जानने वाला शूद्र चोरी करे तो उसे चोरी के माल का आठ–गुना, वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौसठ गुना या सौ गुना या एक सौ अट्ठाइस गुना दंड देना चाहिये।

राजा को दंड देने में राजा को बड़ा प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि चोरो का निग्रह करने से राजा का यश और राज्य बढ़ता है, यदि राजा चोर को दंड न करे तो चोर का पाप उसके सिर पर चढ़ता है। मनु कहता है कि –

न जातु ब्राह्मणं ध्न्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।

राष्ट्रादेन बाहः कुर्यात्समग्रधेनमक्षतम्।।[5]

---

1. वही – 335
2. वही – 336
3. वही – 337
4. वही – 338
5. वही – 380

अर्थात् सब प्रकार के पाप करने पर भी ब्राह्मण का वध कभी न करे उसे समग्र धन के साथ, अभग्न शरीर से अपने देश से बाहर कर दे। क्योंकि ब्राह्मण के लिये तो उसके सिर के बाल मुड़ा देना ही उसके लिये प्राण दण्ड के बराबर है। मनु ने मनुस्मृति में लिखा है कि –

ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि।

तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्।।[1]

ब्राह्मण के वध से बढ़कर संसार में दूसरा पाप नहीं है। इसलिये राजा उसे वध की चिन्ता कभी मन से भी न करे।

इस प्रकार मनुस्मृति में शूद्र जाति के लिये बहुत ही कठोर और अमानवीय नियम निर्धारित किये गये है। इसमें शूद्र बालक के मन में पैदा होते ही हीन–भावना भरने का विधान है। मनु ने पेड़–पौधे को भी सुख–दुख समन्वित अर्थात् संवेदनशील कहा, किन्तु शूद्रों के लिये दंडविधान बनाते समय ऐसी क्रूरता अपनायी गयी। उनमें सुख–दुख की चेतना हीं नहीं होती। मनुस्मृति में पशुओं के पालन–पोषण और संरक्षण की व्यवस्था की गयी है, किन्तु खपच और चांडाल जातियों को देखने और उनके बात करने की भी मनाही है।[1]

मौर्यकालीन न्यायिक व्यवस्था

(ईसा पूर्व 323 स 184 तक)

मौर्यकालीन भारत की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के तीन प्रमुख साधन है – (1) मेगस्थनीज का वर्णन (2) अर्थशास्त्र (3) अशोक के अभिलेख। यहाँ मौर्य काल तक आते–आते वर्णाश्रम व्यवस्था को एक निश्चित आधार प्राप्त हो चुका था। वर्ण कठोर होकर जाति के रूप में बदल गये जिसका आधार जन्म था। यूनानी लेखकों के विवरण से जाति व्यवस्था के अत्यन्त जटिल होने की सूचना मिलती है। मेगस्थनीज के अनुसार, "भारत की जनता सात जातियों अथवा वर्गों में बंटी थी।"[3] उसके द्वारा सात वर्गो का उल्लेख इस प्रकार किया गया – (1)

1. वही – 381

2. मस्तराम कपूर, – (लेख) ब्राह्मणवाद का नया छल, उद्यृत – आज के प्रश्न 6, हरिजन से दलित, सम्पादक – राजकिशोर, पृष्ठ – 105

3. बी0 डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ – 323

दार्शनिक (2) कृषक (3) पशुपालक (4) कारीगर (5) योद्धा (6) निरीक्षक (7) मंत्री। पहली जाति के लोग दार्शनिक थे। यद्यपि उनकी संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा कम थी तथापि प्रतिष्ठा में वे सबसे श्रेष्ठ थे। दार्शनिक लोग सार्वजनिक कर्त्तव्यों से मुक्त थे। वे न तो किसी के दास थ और न किसी के स्वामी। वे समाज के बुद्धिजीवी वर्ग थे। राज्य अपने राजस्व का एक भाग दार्शनिकों के भरण–पोषण पर व्यय करता था। वे समाज की शिक्षा एवं संस्कृति के रक्षक थे। इस वर्ग में ब्राह्मण और श्रमण दोनों ही आते थे। वे सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा अपना समय अध्ययन और शास्त्रार्थ में व्यतीत करते थे। इनमें से कुछ जंगलों में निवास करते थे, कन्दमूल फल खाते थे तथा वृक्षों की छाल पहनते थे। चारों आश्रमों की व्यवस्था भी समाज में प्रचलित थी।

मौर्यकाल में भी भारत एक कृषि प्रधान देश था। मेगस्थनीज लिखता है कि 'दूसरी जाति कृषकों की है जा संख्या में सबसे अधिक थी। युद्ध तथा राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते है।'' वह आगे लिखता है कि कृषक समाज पवित्र और अबध्य समझा जाता था।

कृषकों के बाद संख्या में सबसे अधिक क्षत्रिय वर्ग के लोग थे। मौर्यकाल में क्षत्रिय बहुत महत्वपूर्ण और मानवीय जाति थी जिसके अधिकांश लोग शासक और सैनिक होते थे। मौर्य सम्राट स्वयं इसी जाति से थे। अशोक स्वयं एक क्षत्रिय शासक था। मौर्यकाल में क्षत्रियों में कई वर्ग बन गये। मौर्यकाल में क्षत्रियों के प्रभाव और शक्ति में बढ़ोत्तरी हुयी थी। यही कारण है कि इस काल में ब्राह्मण लोग क्षत्रियों से रिश्ता करना चाहते थे ताकि उनका समाज में प्रभाव और अधिकार बना रहे।

इस युग में शूद्रों के कर्त्तव्य अधिक थे और अधिकार कम। उनकी स्थिति दासों जैसी बन रही थी। वे दास थे, परन्तु स्वतंत्र थे। शूद्रों में बड़ा असंतोष था। उनका समाज में हीन स्थान था जिसके कारण अशोक को बारम्बार इनके प्रति अच्छा व्यवहार करने का आदेश देना पड़ा। यद्यपि समाज में यह धारणा कि शूद्र अछूत है, बढ़ रही थी, परन्तु वह सीमा तक न पहुँची थी। मौर्यकाल में शूद्रों के एक भाग को नये उपनिवेशों में जमीनें दी गई । उन्होंने फसल काटने का काम भी किया। उनसे जबरदस्ती बिना मजदूरी दिये काम लिया गया। यद्यपि शूद्रों की आर्थिक अवस्था में सुधार भी हुआ तथापि उनकी सामाजिक स्थिति नीची ही रही थी। उनको कोई

राजनैतिक अधिकार न दिये गये उनका काम केवल सेवा ही करना था। शूद्रों के सम्बन्ध दूसरे वर्णो से अच्छे नहीं थ। ब्राह्मण उनसे घृणा करते थे।

अशोक के अभिलेखों में दासों, सेवकों, भृत्यों तथा अन्य प्रकार के श्रमजीवियों के उल्लेख मिलते ये लोग विविध प्रकार से अपने स्वामियों की सेवायें करते थे। अर्थशास्त्र में भी दास प्रथा का विस्तृत वर्णन किया गया है। अर्थशास्त्र में स्पष्टतः कहा गया है कि ''शूद्रस्य द्विजाति शूश्रूषा वार्ता कारूकुशील व कर्म च।''[1] अर्थात् शूद्र का धर्म है कि वह ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करे, खेती करे, पशुपालन करे व्यापार करे तथा शिल्प अर्थात् कारीगरी, गायन, वादन एवं चारण भार आदि का कार्य करे।

'शूद्र कर्षक' का भी उल्लेख किया गया – जिसका अर्थ है – शूद्र किसान। तत्कालीन समाज में दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। उन्हें पीटना अथवा गाली देना भी गैर–कानूनी था। उनका अपनी तथा अपने माता–पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था जैसा कि मनुस्मृति में उल्लिखित है कि शूद्रों को अपने माता–पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था।''[2] यदि दास स्वयं अथवा उसके सम्बन्धी मूल्य अदा कर दे तो उन्हें दासत्व से स्वतंत्रता भी मिल सकती है। इस सुविधाओं के कारण भारतीय दास वस्तुतः दास प्रतीत नहीं होते थे। यही कारण है कि मेगस्थनीज ''भारतीय समाज में दास–प्रथा के प्रचलित होने का उल्लेख नहीं करता।''[3]

इस प्रकार मौर्यकाल में वर्ण व्यवस्था और वर्णाश्रम श्रम की प्रधानता थी। वर्ण व्यवस्था का स्वरूप पहले से जटिल हो गया था। कौटिल्य ने चारों वर्णो के कर्त्तव्यों का उल्लेख अर्थशास्त्र में इस प्रकार किया है कि, ''स्वधर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दनं शस्त्राजीवो भूतरक्षणञ्च। वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषि पशुपाल्ये वणिज्या च। शूद्रस्य द्विजाति शुश्रूषा वार्ता कारूकुशील व कर्म च।[4] अर्थात् सर्वप्रथम ब्राह्मण का धर्म बतलाते है। ब्राह्मण का धर्म है अध्ययन–अध्यापन, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और दान देना। क्षत्रिय का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, शस्त्र बल से जीविका पैदा करना और प्राणियों

---

1. अर्थशास्त्र, 1.3.
2. मनुस्मृति, 152 – 153
3. के0 सी0 श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ – 269
4. अर्थशास्त्र, 1.3

की रक्षा करना। वैश्य का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, कृषि एवं पशुपालन तथा व्यापार करना। शूद्र का धर्म है कि वह ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करे, खेती करे, पशुपालन करे, व्यापार करे तथा शिल्प अर्थात् कारीगरी, गायन, वादन एवं चारण भार आदि का कार्य करे। उन्होंने यह भी लिखा कि "तस्मा स्वधर्मभूतानां राजा न व्यभिचारयेत स्वधर्म संदधानो हि प्रेप्य चेह च नंदति।"[1] अर्थात् राजा का यह धर्म और कर्त्तव्य है किक वह प्रजा को धर्म के पथ से और कर्त्तव्य के पथ से भ्रष्ट न होने दे।

कौटिल्य ने वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था को मनुष्य के जीवन में अत्यन्त उच्च स्थान प्रदान किया है । राजा और प्रजा दोनों वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार धर्म पर चलते हुये कभी दुखी नहीं होते और लोक तथा परलोक दोनों में आनन्द प्राप्त करते हैं – यह कौटिल्य की मान्यता है।[2]

इस प्रकार मौर्य मौर्यो की शासन–व्यवस्था का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था। कौटिल्य राजा के शासन का बड़ा समर्थक था। उसके अनुसार राजा का शासन राष्ट्रीय हितों और जन–साधारण का भलाई का मूल स्रोत था। वह समस्त जनता के अनेक हितों की एकता का चिन्ह स्वरूप था। इसके अतिरिक्त उसकी शक्ति द्वारा ही जनता के जीवन के व्यक्तिगत और राजनीतिक सम्बन्ध आसानी से चलते थे और उनको उन्नति का अवसर देते थे।[2] राजकीय शासन वह आत्मा थी जो राज्य द्वारा चलाई जाती थी। राजा में सभी अधिकार एवं शक्तियां निहित थी। सम्राट अपनी दैवी उत्पत्ति में विश्वास नहीं करता था, फिर भी वह ईश्वर का प्रिय पात्र समझा जाता था। वह सैनिक, न्यायिक, वैधानिक एवं कार्यकारी मामलों में सर्वोच्य अधिकारी था। वह सेना का सबसे बड़ा सेनापति, न्याय का प्रधान न्यायाधीश, कानूनों का निर्माता तथा धर्म प्रवर्तक माना जाता था।[3]

शास्त्र तथा राजा के न्याय में विरोध होने पर अन्तिम को ही प्रमाण माना जाता था। इस प्रकार कौटिल्य की व्यवस्था में राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों पर सम्राट का पूर्ण नियंत्रण था। परन्तु समाज का सबसे बड़ा व्यक्ति राजा भी न्याय के बन्धन से बंधा था। न्याय राजा से भी ऊँचा था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा को कानून बनाने का अधिकार दिया गया

---

1. अर्थशास्त्र 1.9
2. पूर्वोक्त
3. वी0 डी0 महाजन, प्राचीन भारतीय इतिहास, पृष्ठ – 309

किन्तु वह ऐसा कानून नहीं बना सकता जो धर्म के विरूद्ध हो और उसे निरंकुश अधिकार देता हो सम्राट सर्वोच्य न्यायाधीश होता था। वह सभी प्रकार के मामलों की सुनवाई की अन्तिम अदालत होती थी।[1]

विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनयेरतः।
अनन्यां पृथिवी मुङक्ते सर्वभूतहितेरतः।।

अर्थात् जो विद्वान राजा प्राणिमात्र की चिन्ता में तत्पर रहता है और प्रजा के शिक्षण, शासन, नियमन आदि में लगा रहता है। वह बहुत समय तक पृथ्वी का एक क्षत्र निर्बाध शासन करता है ।[2]

समाज के सभी प्राणी एवं समस्त प्रजा अपन धर्म का पालन करे इसकी देखरेख राजा करता था। अपने कर्त्तव्यों का पालन प्रजा तभी कर सकती है। जब उसे पूरी सुविधायें और अवसर प्राप्त हो। इन सबके लिये न्याय व्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने न्याय के विषय में बहुत गम्भीर विचार किया और उन्होंने न्याय व्यवस्था को दो भागों में बाँटा है – 1. व्यवहार 2. कटंकशोधन । व्यवहार में, नागरिकों के झगड़ों का निपटारा करना तथा दण्ड देना या मुक्त करना आता था। कटंकशोधन में, राजकर्मचारी, पूँजीपति और दुर्जन आते हैं इसमें प्रजा की रक्षा की व्यवस्था की जाती है।

दण्ड विधान अत्यन्त कठोर थे। सामान्य अपराधों में आर्थिक जुर्माने होते थे। कौटिल्य तीन प्रकार के अर्थदण्डों का उल्लेख करते है –

1. पूर्व साहस दण्ड – यह 48 से लेकर 96 पण तक होता था।
2. मध्यम साहस दण्ड – यह 200 से 500 पण तक होता था।
3. उत्तम साहस दण्ड – यह 500 से 1000 पण तक होता था।

न्याय बिना उचित दण्ड व्यवस्था के कोई अर्थ नहीं रखता इसलिये कौटिल्य ने दण्ड व्यवस्था पर विस्तार से विचार किया है। कौटिल्य ने तीन प्रकार के दण्ड कहे है – 1. अर्थदण्ड 2. शरीर दण्ड 3. कारागार दण्ड । कौटिल्य के समय "जैसा अपराध वैसा दण्ड" नियम था। दण्ड देते समय अपराधी की सामर्थ्य अपराधी का वर्ण, अपराधी की विशेष परिस्थिति को देखा जाता

---

1. अर्थशास्त्र 1.15
2. अर्थशास्त्र 2.6

था। कौटिल्य के अनुसार कानून की दृष्टि में सभी व्यक्ति एक समान होते है।''[1] ब्राह्मण भी अपराध के समान दण्डभागी है।[2]

राजा भी कौटिल्य की न्याय–व्यवस्था में दण्डार्ह है।[3] इस प्रकार कौटिल्य ने जनतंत्र की भावना और न्याय भावना को सर्वोच्य स्थान दिया।

मौर्यकालीन न्याय–व्यवस्था के अन्तर्गत कैद, कोड़े मारना, अंग–भंग तथा मृत्युदण्ड की संज्ञा दी जाती थी। कारीगरों की अंग–क्षति करने पर मृत्यु दण्ड किया जाता था। इसी प्रकार का दण्ड करो की चोरी करने वालो तथा राजकीय धन का घोटाला करने वालो को भी मिलता था। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि युक्त नामक अधिकारी प्रायः धन का अपहरण करते थे। एक स्थान पर उल्लिखित है कि ''मत्स्याययथाऽन्तः सलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्यां सलिलं पिबन्तः। युक्तस्तथा कार्यविधौ नियुक्ताज्ञातुं न शक्यां धनमाद दान।।[4] अर्थात् जिस प्रकार जल में विचरण करती हुई मछलियों को जल पीते हुये कोई नहीं देख सकता उसी प्रकार आर्थिक पद पर नियुक्त युक्तों को धन का अपहरण करने पर कोई जान नहीं सकता है। ब्राह्मण विद्रोहियों को जल में डुबोकर मृत्यु–दण्ड दिया जाता था। जिस अपराध में कोई प्रमाण नहीं मिलता था वहाँ जन, अग्नि तथा विष आदि द्वारा दिव्य परीक्षायें ली जाती थी। मेगस्थनीज के विवरण से पता चलता है कि दण्डों की कठोरता के कारण अपराध प्रायः नहीं होते थे। लोग अपने घरों को असुरक्षित छोड़ देते थे तथा वे कोई लिखित समझौता नहीं करते।

अर्थशास्त्र से पता चलता है कि जो अमात्य 'धर्मोपधाशुद्ध' अर्थात् धार्मिक प्रलोभनों द्वारा शुद्ध चरित्र वाले सिद्ध होते थे उन्हें ही न्यायाधीश बनाया जाता था। न्यायाधीशों को धर्म व्यवहार, चरित्र, तथा राजशासन का अध्ययन करके ही दण्ड का निर्णय करना पड़ता था। इन चारों में राजशासन (राजाज्ञा) ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।

अपराधियों के सुधार गृह और बन्दीगृह की सुन्दर व्यवस्था थी। कौटिल्य के अनुसार ''सभी मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मान, मद आदि अरिषड वर्ग के कारण कुछ न कुछ अपराध करते

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र, व्याख्याकार डा. कृष्णकान्त त्रिपाठी पृष्ठ – 36
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 36
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 36
4. पूर्वोक्त

रहते है क्योंकि अरिषड वर्ग सदैव ताक में रहता है। इसलिये दण्ड व्यवस्था का विधान किया गया है जिससे सभी व्यक्ति अपने–अपने कर पालन करे और सदाचार में प्रवृत्त रहे।"[1] इसलिये कौटिल्य ने सुदृढ़ दण्ड–व्यवस्था की व्यवस्था की फिर भी कौटिल्य कठोर दण्ड के पक्षपाती नहीं थे।

अर्थशास्त्र में लिखा है कि, नेतिः कौटिल्यः। तीक्ष्ण दण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। मृदुदण्डः परिभूयते। यथार्हददण्डः पूज्यः। सुविज्ञात प्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थ कामैर्योजयति।"[2] अर्थात् कौटिल्य प्राचीन आचार्यो के दण्ड प्रधान वाले मंत से वह सहमत नहीं है। उनका कहना है कि कठोर दण्ड देने वाले राजा से (निरंकुश तानाशाह शासक से) सभी प्रजा विरोधी हो जाती है। दुःखी हो जाती है किन्तु साथ ही दण्ड में कोमल कर देने से भी प्रजा राजा का तिरस्कार करने लगती है। समुचित दण्ड देने वाला राजा ही पूजनीय होता है। अच्छी प्रकार से सोच–समझकर किया गया दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त करता है।

मौर्यकाल तक आते–आते शूद्रों की स्थिति में सुधार के कुछ चिन्ह दिखते है। अर्थशास्त्र में उनका धर्म द्विजातियों की सेवा के साथ ही साथ 'वार्ता' अर्थात कृषि, पशुपालन और वाणिज्य भी बताया गया है। जिससे स्पष्ट है कि मौर्यकाल में शूद्र वार्तावृत्ति द्वारा भी अपना जीवन निर्वाह करते थे। वे विभिन्न शिल्पों का अनुसरण करने लगे थे। कौटिल्य ने उन्हें सेना में भर्ती होने की भी छूट दी। अशोक के लेखों से पता चलता है कि दासों और सेवकों के साथ उदार व्यवहार होता था। अशोक ने दण्ड तथा व्यवहार में भी समता स्थापित की थी। अर्थशास्त्र के प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि मौर्यकाल में शूद्र को सम्पत्ति रखने, कृषि करने, पशुपालन तथा व्यापार के स्वतंत्र अधिकार मिले हुये थे। उसे कृषि योग्य भूमि खरीदने का अधिकार प्राप्त हो चुका था। जिससे सिद्ध होता है कि मौर्यकाल तक शूद्रों को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होने लगी थी।

---

1. कौटिल्य, अर्थशास्त्र व्याख्याकार डा0 कृष्णकांत त्रिपाठी, पृष्ठ – 32
2. अर्थशास्त्र 3.4

महात्मा बुद्ध कालीन न्याय–व्यवस्था

(ई. पू. 600–325)

बुद्ध–काल में गंगा–घाटी में कई गणराज्यों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते है। जिनका बौद्ध साहित्य में उल्लेख हुआ –

1. कपिल वस्तु के शाक्य
2. रामगाम के कोलिय
3. पावा के मल्ल
4. कुशीनारा के मल्ल
5. मिथिला के विदेह
6. पिप्पलवन के मोरिय
7. सुंसुमार के पर्वत के भग्ग
8. अलकघ के बुलि
9. केस पुन्त के कलाम
10. वैशाली के लिच्छवि

उपर्युक्त राज्यों में गणतन्त्रात्मक शासन–प्रणाली थी। परन्तु राजसत्ता समस्त परिवारों के हाथों में न होकर एकमात्र राज्य के मूल कुलीन परिवारों के हाथ में ही थी। इनके प्रतिनिधियों की संस्था को संस्थागार कहा जाता था। यह राज्य की व्यवस्थापिका सभा होती थी। संस्थागार राज्य की सबसे बड़ी संस्था थी। इसी के द्वारा राजा, उपराजा सेनापति पदाधिकारी की नियुक्ति होती थी। गणराज्यों में सरकार पर संस्थागार का पूर्ण नियंत्रण होता था। ये केन्द्रीय समितियां न्याय का भी काम करती थी।

महात्मा बुद्ध के समय के राजतंत्र :–

महात्मा बुद्ध के समय इन गणराज्यों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में चार राजतंत्र थे – 1. अवन्ति 2. वत्स 3. कौशल और 4. मगध। इसमें शासन की बागडोर वंशानुगत राजा के हाथ में होती थी। वही सम्पूर्ण सत्ता का आधार था।

बुद्धकालीन सामाजिक स्थिति भी वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी। बौद्ध धर्म–ग्रन्थों से

समाज के प्राचीन चार वर्णो का बोध होता है यद्यपि उनके द्वारा वर्ण–व्यवस्था की सदैव कटु आलोचना की गई है। बुद्ध ने कर्म को ही मनुष्य के मूल्यांकन का वास्तविक मापदण्ड माना था। उन्होंने स्वयं कहा था कि आग जलाने के लिये लकड़ी का भेद नहीं देखा जाता, उसी प्रकार निर्वाण के लिये भी मनुष्य में कोई भेद–भाव नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि में कर्म से मनुष्य छोटा–बड़ा होता है। अपने साधनामय जीवन और ज्ञान के कारण वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ण की सर्वोपरि प्रभुता स्थापित हुई थी। वह समाज का मस्तिष्क था और पठन–पाठन तथा यजन और याजन के द्वारा समाज की बौद्धिक एवं धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। अपने इन्हीं उदात्त कर्मो के कारण वह सम्पूर्ण समाज की अनन्य श्रद्धा–भक्ति और दया–दान का अधिकारी था। इसके अतिरिक्त उसे अनेकानेक अन्य विशेषाधिकार प्राप्त थे। परन्तु इस समय समाज में बहुसंख्यक ऐसे भी ब्राह्मण थे जो सब प्रकार से गिर चुके थे और नाना प्रकार के जाल–जंजातो में फंसे थे। आर्थिक विषमताओं के कारण ब्राह्मण, बहुसंख्यक, कृषि, पशुपालन, आखेट, बढ़ई, जुलाहे, सपेरे आदि वर्ण–विरोधी कर्म भी करने लगे थ। इस समय निम्न कर्म ब्राह्मण भी सामाजिक दृष्टि से हीन समझे जाते थे। वही महात्मा बुद्ध विज्ञ एवं त्यागी ब्राह्मण, तपस्वियों और ऋषियों को 'वास्तविक ब्राह्मण' की संज्ञा देते थे।

समाज में चतुर्वर्णो में दूसरा वर्ण क्षत्रिय का था। इसके हाथ में देश की सुरक्षा और शासन–व्यवस्था का भार था। ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी वर्ण–विरूद्ध कर्मो का अनुसरण करने लगे थे। बौद्धि साहित्य ने शाक्य क्षत्रिय कृषि कर्म करते हुये मिलते है। इस समय ब्राह्मणों और क्षत्रियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा अधिक जोर पकड़ चुकी थी क्योंकि स्वयं, ब्राह्मण भी अपनी सुरक्षा और जीवन–निर्वाह के लिये क्षत्रिय पर निर्भर थे। ऐसी अवस्था में स्वाभाविक दीक्षा कि एक समय ऐसा आया जब क्षत्रिय वर्ग को ब्राह्मण–वर्ग की सर्वोपरि प्रतिष्ठा खलने लगी। अतः क्षत्रियों को ब्राह्मणों के विरूद्ध स्वयं अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये प्रेरित किया।

समाज में तीसरा वर्ण वैश्य वर्ण था जो बहुसंख्यक व समृद्धशाली था। परन्तु अन्य वर्णो की भांति यह वर्ण भी वर्ण कार्य करने लगा था। वेजातको में दर्जी, कुम्हार, आदि के कर्मो को करने लगे थे।

इस समय समाज में शूद्र की दशा सबसे खराब थी, वे प्रायः अधिकारविहीन थे। वे नाना–प्रकार के अभावों और अंकुशो से पीड़ित थे। मातंका जातक का कथन है कि एक चाडांल

का घर एक स्थान हटाकर दूसरे स्थान पर केवल इसलिये कर दिया गया कि अपने घर के किनारे से बहती हुई नदी में उसने अपनी दातून फेंक दी थी और बहती–बहती आगे चलकर किसी नहाते ब्राह्मण की शिखा में उलझ गयी थी।

जातको से प्रकट होता है कि इस समय शिक्षा–केन्द्रों में शिक्षा प्राप्त का अधिकार अधिकांशतः ब्राह्मण और क्षत्रिय को ही था। वैश्य विद्यार्थिक की संख्या भी बहुत कम थी। और शूद्रों के लिये तो शिक्षा प्राप्त करना पूर्णतया निषिद्ध था।

ई. पू. छठी शताब्दी तक आते–आते समाज के एक बड़े भारी भाग में ब्राह्मण धर्म के विरूद्ध घोर असन्तोष फैल गया था। कारण उस समय तक ब्राह्मण धर्म अपनी सरलता छोड़कर नितान्त जटिल एवं यान्त्रिक बन गया था। उसमें शुद्ध आचार अथवा आत्मनिवेदन के स्थान पर कर्मकाण्ड की अधिकता थी। बहुधा अपनी आस्था और कभी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये इस वर्ग ने समाज में जो धार्मिक मान्यतायें स्थापित की उन्हें समाज का एक भारी भाग असत्य और अनिष्ट समझता था। समाज का यह वर्ग विशुद्ध मानव की स्वतंत्र गरिमा की स्थापना का पक्षपाती था। वह मनुष्य को बहुसंख्यक देवी–देवताओं की अधीनता से मुक्त करना चाहता था। उसका विचार था कि विशुद्ध मानव वेदताओं से ऊपर है। आत्मोत्कर्ष के लिये देवताओं की अधीनता आवश्यक नहीं। मनुष्य का कर्म ही उसका भाग्य विधाता है। इस प्रकार के विचार सर्वप्रथम हमें स्वयं ब्राह्मण–साहित्य में ही मिलते है।[1]

उस समय अनेकानेक देवी–देवताओं की संतुष्टि के लिये ब्राह्मण–धर्म में जिन यज्ञो, होमो एवं धार्मिक क्रियाओं की कल्पना की थी उन्होंने सम्पूर्ण धर्म को कर्मकाण्डी बना दिया। कर्मकाण्ड की विशेषज्ञता ने समाज में एक प्रबल पौरोहित्य को जन्म दिया। पुरोहितो का महत्व इतना बढ़ा कि वे भी देवताओं के समान समझे जाने लगे।[2]

अतः कर्मकाण्ड की जटिलता और विकृतता को देखते हुये यह स्वाभाविक ही था कि उसके विरूद्व समाज में प्रतिक्रिया होती। चिन्तनशील मनुष्यों ने इन यान्त्रिक यज्ञो की अपेक्षा आचार–शुद्धि को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण–धर्म प्रणोदित कर्मकाण्ड आत्मोत्कर्ष के लिये अनावश्यक ही नहीं वरन् मोहपूर्ण और अनिष्ठकर था। पशुओं के अन्धाधुन्ध

---

1. तैत्तिरीय ब्रा. 3.12.3 शतपथ ब्रा. 2.6,12.9.11

2. शतपथ ब्रा. 2.2.2.6, 2.4.3.14

वध, ब्राह्मणों का सोमरस के नशे में झूमना और गृहस्थियों तथा राज्य में दक्षिणा की मांग करना इत्यादि कर्मो ने जनता के मन में ब्राह्मणों के प्रति कटुता उत्पन्न कर दी थी।[1]

ब्राह्मण–धर्म के अन्तर्गत सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था चतुर्वर्ण पर निर्भर थी। ई. पू. छठी शताब्दी तक आते–आते यह चतुर्वर्ण–व्यवस्था अपनी जटिलता के कारण बहुत कुछ अव्यवहारिक हो गयी थी। स्थान–स्थान पर मनुष्य उसके विरूद्ध आचरण कर रहे थ। ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्य स्थान प्रदान किया था तथा अन्य वर्णो को उसके अधीन घोषित किया। समाज में इस वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक थी। इस समय उन्हें कड़े सामाजिक नियमों में बांध दिया गया था। जिससे इस वर्ग मे अत्यधिक असंतोष था।[2]

क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मणों से घृणा करने लगे थे। समाज में उन्हें वह स्थान प्राप्त न था जो ब्राह्मणों को प्राप्त था। लोहे के नये–नये उपकरणों का विकास होने से व्यापार–वाणिज्य की प्रगति हुई जिसे समाज में व्यापारी वर्ग सबल हो गया तथा अपनी सम्पत्ति के बल पर वह ब्राह्मणों से सामाजिक श्रेष्ठता का दावा करने लगा। राजनैतिक शक्ति के विस्तार से क्षत्रिय वर्ग भी अपने को ब्राह्मण से श्रेष्ठ समझने लगा। राजनैतिक शक्ति एवं सम्पत्ति ने मिलकर समाज में पुरानी मान्यताओं के स्थान पर नयी मान्यताओं की प्रतिष्ठा की।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य के व्यवसाय भी निश्चित थे। परन्तु जातियों की अधिकता, आर्थिक समस्या और व्यक्तिगत अभिरूचि के कारण मनुष्य वर्ण विरूद्ध व्यवसायों का भी अनुसरण करने लगे थे। इस प्रकार चतुर्वर्ण–व्यवस्था विच्छृंखल हो गई थी और बहुत अंशो में समाज के लिये उसकी प्राचीन उपयोगिता जाती रही थी। परन्तु फिर भी परिवर्तित परिस्थिति में, ब्राह्मण–व्यवस्थाकारों का समाज पर उसके बलात आरोपण का सुदीर्घ प्रयत्न जन–मत के घोर असंतोष का कारण बन गया था। अतः इन बदलती हुई नवीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों में नयी–नयी विचारधाराओं के उद्‌भव एवं विकास में सहायता प्रदान किया । क्योंकि सब प्रकार से परिस्थितियाँ क्रान्ति के अनुकूल थी।[3]

---

1. वी. डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ – 154
2. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पृष्ठ – 815
3. पूर्वोक्त – 815

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के नास्तिक सम्प्रदाय के आचार्यो में महात्मा गौतम बुद्ध का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने जिस धर्म का प्रवर्तन किया वह कालान्तर में एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बन गया। यदि विश्व के ऊपर उनके मरणोत्तर प्रभावों के आधार पर भी उनका मूल्यांकन किया जाये तो वे भारत में जन्म लेने वाले महानतम व्यक्ति थे।"[1]

बौद्ध धर्म के रूप में बुद्ध ने सर्वप्रथम भारतीयों को एक सरल आडम्बर रहित धर्म प्रदान किया। जिसका अनुसरण राजा–रंक, ऊँच–नीच सभी कर सकते थे। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने अहिंसा व सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। यज्ञीय कर्मकाडों वैदिक अनुष्ठानों, पशुबल आदि का जमकर विरोध किया। उन्होंने ब्राह्मणों की ज़न्मना श्रेष्ठता के दावे का खण्डन किया। जाति–पति, छुआछूत जैसा कोई भी भेद–भाव उनकी दृष्टि में नहीं था।

यही कारण था कि उन्होंने अपने संघ का द्वार सभी जातियों के लिये खोल दिया था। एक सच्चे समाज–सुधारक के रूप में वे समकालीन समाज को जाति–प्रथा एवम् धर्म के दोषों से मुक्त कराना चाहते थे। उनकी धार्मिक दृष्टि बड़ी उदार थी। महात्मा बुद्ध का धर्म यान्त्रिक कर्म–काण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता अथवा पौराणिक अन्ध मान्यता के ऊपर आधारित न था।[2] इसका आधार तो विराम असग्रह, सन्तोष, अध्यवसाय जैसे उदान्त सिद्धान्त ही थे जो जन–साधारण के लिये सुबोध थे। तथागत का धर्म जनवादी था। ये किसी वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं था। इस प्रकार बौद्ध धर्म अपने मौलिक रूप में मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक था।

गुप्तकालीन न्याय–व्यवस्था

गुप्त सम्राटों का शासन–काल प्राचीन भारतीय इतिहास के उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई तथा हिन्दू संस्कृति अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। गुप्तकाल की बहुमुखी प्रगति को ध्यान में रखकर ही इतिहास ने इस काल को 'स्वर्ग–युग' की संज्ञा से अनिहित किया है।[3]

गुप्त सम्राटों और उनके उत्तराधिकारों के शासन–काल में गणतन्त्री राज्यों का

1. ए. एल. बाशम, द वन्डर दैट बाज इण्डिया, पृष्ठ – 256 उघृत के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृत
2. प्रजापति पब्अज्जा सुन्त (अंगुत्तर 08,2.1.3)
3. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पृष्ठ – 462

क्रमिक विनाश हुआ। विशाल गुप्त साम्राज्य की शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। इस काल में अधिक लोग राजा के दैवी अधिकार को मानते थे। तथा राजा 'महाराजाधिराज' परमभट्टा एक, 'एक राट', 'परमेश्वर' जैसी विशाल उपाधियाँ धारण करते थे। उसे पृथ्वी पर रहने वाला एक देवता भी माना गया, जिसने केवल संसार की परम्परा के अनुसार आवश्यक कार्यो का सम्पादन करने के लिये मानव शरीर धारण किया था।[1] परन्तु अपनी दैवी सिद्धान्त के बावजूद वह स्वयं विधि नियमों का उल्लघंन नहीं कर सकते था।[2] राजपद वंशानुगत सिद्धान्त पर आधारित था। गुप्त शासकों को बहुत विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त थी। वे शक्तियाँ राजनीतिक, प्रशासनीय, सैनिक तथा न्यायिक क्षेत्रों में फैली हुई थी। प्रशासन के समक्ष उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट द्वारा ही की जाती थी। सम्राट प्रशासन के कुशल संचालन हेतु एक मंत्रिमण्डल का गठन करता था। इसमें अमात्य, सचिव एवं मंत्री सदस्य होते थे।

गुप्तकालीन समाज में वर्ण–व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित थी। भारतीय समाज के परम्परागत चार वर्गो – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त कुछ अन्य जातियां भी अस्तित्व में आ चुकी। चारो वर्णो की सामाजिक स्थिति में विभेद किया जाता था। पहले की तरह ब्राह्मणों को इस समय भी समाज में सर्वोच्य स्थान प्राप्त था। गुप्तकाल में जाति–प्रथा उतनी जटिल नहीं रह गयी थी जितनी की परवर्ती कालों में, "पुरोहित और शिल्पी वर्गो के लोग सैनिक कार्य करते और सैनिक जाति के लोग व्यापारी के रूप में प्रसिद्ध होते मिलते है। वैश्य और शूद्र शक्तिशाली राज्यों के राजाओं के रूप में मिलते है।"[3] इसी प्रकार क्षत्रिय लोगों ने भी व्यापार एवं औद्योगिक वृत्ति अपना ली थी। इस प्रकार सभी वर्गो की वृत्तियों में शिथिलता आती जा रही थी। कृषक पशुपालन धातुकार, तैलकार, जुलाहे, माली आदि की समाज में विशिष्ट जातियाँ गठित हो चुकी थी।

गुप्तकालीन स्मृतियाँ शूद्रों को व्यापार, शिल्प एवं कृषि करने की अनुमति प्रदान करती है। बृहस्पति के अनुसार प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं की बिक्री करना शूद्र का सामान्य धर्म है।[4] अब उन्हें महाकाव्यों तथा पुराणों के श्रवण का अधिकार भी मिल गया।

---

1. रमेश चन्द्र मजूमदार हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिकिंकर दत्त – भारत का वृहद इतिहास पृष्ठ – 164
2. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पृष्ठ – 442
3. रमेश मजूमदार, हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिकिंकर दत्त, भारत का वृहद इतिहास पृष्ठ – 168
4. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति पृष्ठ – 449

यह समाज में शूद्रों के प्रति बदलते दृष्टिकोण का परिचायक है। स्मृति ग्रन्थों एवं फाहियान के विवरण से पता चलता है कि समाज में अस्पृश्यता प्रचलित थी।[1] फाहियान अछूतों को 'चाण्डाल' कहता है जो गाँवों और नगरों के बाहर निवास करते थे। ''जब वे नगर या बाजार के द्वार पर प्रवेश करते थे, तब वे अपना आगमन सूचित करने के लिए एक लकड़ी के टुकड़े पर चोट करते थे, जिससे लोग जान जाते थे और अलग हो जाते थे और उनके सम्पर्क में नहीं आते थे।[2]

समाज की सभी जातियों से ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की सर्वाधिक प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मणों के साथ–साथ क्षत्रियों को भी उपनयन संस्कार एवं वेदाध्ययन के अधिकार प्राप्त थे। कुछ वैश्य जाति के लोग भी इन अधिकार का प्रयोग करते थे। वे ब्राह्मणों एवं बिहारो की मुक्तहस्त से दान देते, अस्पताल खुल पाते तथा उनके निर्वाह की व्यवस्था करते थे। समाज में उनकी काफी प्रतिष्ठा थी।[3]

स्मृति ग्रन्थों से समाज में दास प्रथा के प्रचलन का भी प्रमाण मिलता है।[4] युद्ध में बन्दी बनाये गये तथा ऋण न चुका सकने वाले लोग प्रायः दास बनाये जात थे। मृच्छकटिक से पता चलता है कि दास के शरीर पर उसके स्वामी का पूर्ण नियंत्रण होता था।[5] किन्तु दास प्रथा उतनी जटिल नहीं थी। एक निश्चित अवधि तक सेवा करने तथा ऋण चुका देने पर दास स्वतंत्रता प्राप्त कर सकने का अधिकारी था। उसके व्यवहार में मानवीय आचरण किया जाता था। इस समय दासों को उत्पादन कार्यो से अलग रखा गया जबकि मौर्यो के समय में दास उत्पादन के कार्यो में सक्रिय रूप से भाग लेते थे। अमरकोष में दासीसमम् शब्द के उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि गुप्तकाल में दासियों का भी अस्तित्व था।

गुप्तकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति के विषय में इतिहासकारों ने कहा कि साहित्य और कला में तो नारी का आदर्श रूप झलकता है पर व्यवहारिक दृष्टि से देखने पर समाज में उनका स्थान गौड़ था। पितृप्रधान समाज में पत्नी को व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा जाता

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 449
2. रमेश मजूमदार, हेमचन्द्रराय चौधरी, कालिकिंलर दत्त – भारत का वृहद इतिहास पृष्ठ – 168
3. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पृष्ठ – 449
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 449
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 449

था। पति के मरने पर पत्नी को सती होने के लिये प्रेरित किया जाता था, उत्तर भारत की कुछ सैनिक जातियों के परिवारों में बड़े पैमाने पर सती होने का प्रचलन था।

गुप्तकाल में पर्दा प्रथा का प्रचलन केवल उच्चवर्ग की स्त्रियों में था। गुप्तकालीन समाज में वेश्याओं के अस्तित्व के भी प्रमाण मिलते है, पर उनकी वृन्ति की निन्दा की गयी थी।

गुप्तकालीन लेखों में न्याय विभाग का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु समकालीन स्मृतियों नारद तथा बृहस्पति से पता चलता है कि गुप्त युग ने न्याय–व्यवस्था अध्यधिक विकसित थी। सम्राट के अतिरिक्त एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य अनेक न्यायाधीश होते थे जो साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थित अनेक न्यायालयों में न्याय सम्बन्धी कार्यो को देखते थे।[1]

फाह्यान के विवरण से पता चलता है कि दण्ड–विधान अत्यन्त ढीला था। ''प्राण–दण्ड या अन्य शारीरिक दण्ड के बिना ही राजा राज्य करता है। अपराधियों पर उनके अपराध के अनुसार भारी था हल्का जुर्माना किया जाता है। बार–बार विद्रोह करने पर भी केवल उसका दाहिना हाथ काट दिया जाता है''[2] किन्तु फाह्यान का कथन स्वीकार नहीं किया जाता और बताया जाता है कि गुप्तकाल में दण्ड काफी सख्त थे। गुप्तकाल में प्राणदण्ड देने का अत्यन्त क्रूर ढंग था, हाथियों से कुचलवा देने के उल्लेख मिलते है। विशाखदत्त के अनुसार अर्थपात को एक व्यापारी के घर से चोरी करते समय रंगे–हाथों पकड़ लिया गया। उसे प्राण–दण्ड दिया गया।[3]

एक अन्य निर्दयी दण्ड था देशद्रोही आँखे निकलवा देना, विशेषकर ब्राह्मणों के लिये कहा गया है कि उच्च अधिकारियों को भी नहीं छोड़ा जाता था।

यदि राजा की हत्या का षड़यंत्र रचते। इससे स्पष्ट होता है कि गुप्त काल में कठोर–दण्ड विधान का प्रावधान था। फिर भी कहा जाता है कि गुप्त सम्राटों ने प्राचीन भारतीय दण्ड विधान को उदार एवं मृदु बनाने का यथेष्ट प्रयास किया था। स्कन्द गुप्त के जूनागढ़ लेख से भी पता चलता है कि उस काल में दण्डों के द्वारा अत्यधिक पीड़ा नहीं पहुँचायी जाती है।[4]

---

1. के. सी. श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति – पृष्ठ – 445
2. वी. डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ – 528
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 529
4. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पृष्ठ – 446

अपराधों में सामान्यतः आर्थिक जुर्माने लिये जाते थे। अतः 'गुप्तों के प्रशासन ने प्राचीन भारतीय दण्ड विधान में मानवीय सुधार के नये युग का सूत्रपात किया था।''[1]

मध्य युगीन—न्याय व्यवस्था

(1206 से 1761)

दिल्ली सल्तनत कालीन—न्याय व्यवस्था :—

(1206—1526)

सल्तनत काल में भारत में एक नई प्रशासनिक अवस्था की शुरूआत हुई जो मुख्य रूप से अरबी—फारसी पद्धति पर आधारित थी। सल्तनत काल का शासन धर्मसापेक्ष था। इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है।[2] खलीफा भी उसके अधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक 'शरीयत' के अधीन होते है और उसके कानूनों के अनुसार कार्य करना उनका प्रभुत्व कर्त्तव्य होता है। इस दृष्टि में खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नहीं थे बल्कि 'शरीयत' के कानून क अधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्त्तव्य धर्म के कानूनों के अनुसार शासन करना था। सुल्तान सभी प्रकार से राजनीतिक प्रधान थे। परन्तु उनका कर्त्तव्य इस्लाम धर्म और कुराने के कानून के अनुसार शासन करना था। इसी कारण प्रत्येक सुल्तान के लिये आवश्यक होता था कि खलीफा उसे मान्यता दे। क्योंकि 'खलीफा' इस्लामिक संसार का पैगम्बर के बाद का सर्वोच्च नेता होता था।

सुल्तान ही केन्द्रीय शासन का प्रधान था।[3] वह सारी शक्ति व सत्ता का स्रोत था। न्यायपालिका कार्यपालिका पर पूर्ण नियंत्रण था। सल्तनत काल में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय में एक ऐसी परम्परा बनी थी जिसके

---

1. क्लासिकल एज, पृष्ठ — 352
2. एल. पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत पृष्ठ — 242
3. पूर्वोक्त पृष्ठ — 243

अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री को सिंहासन प्राप्त का अधिकार था।

दिल्ली सुल्तानों ने अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाकारी और निरंकुश शासन व्यवस्था को स्थापित किया। उसकी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। किन्तु व्यवहारिक रूप में ऐसा संभव नहीं था सारी राजनैतिक शक्ति सीमित थी वह राज्य के महान तत्वों के सहयोग पर निर्भर शासन–व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और ब्राह्म आक्रमणों से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।[1]

मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गो में विभक्त था। मुसलमानों के आने से उसका विभक्तीकरण बढ़ गया। समाज का सबसे अधिक सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानों का था तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे। 13वीं सदी तक तुर्को ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी। मुस्लिम प्रशासन पर तुर्को का अधिकार था और सारी शक्तियां उनके पास थी। वही सेना में आगे थे और वही राज के कामकाज में। सरकारी की सारी सुविधायें उन्हीं के पास थी।[2]

14वीं सदी के प्रारम्भ में इस स्थिति में परिवर्तन आया। निरन्तर युद्धों के कारण तुर्को का भारत में आगमन रूक गया। इसलिये भारतीय मुसलमानों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने का अवसर मिला। खिलजी वंश के समय भारतीय मुसलमानों और विदेशी मुसलमानों का सामाजिक सम्बन्ध हो गया। कुछ अंश में यह परिवर्तन अर्न्तजातीय विवाहों का परिणाम था।

समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानों का था। ये वे मुसलमान थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे परिवर्तित मुसलमानों की संतान थे। उन्हें समाज में विदेशी मुसलमानों के समान नहीं समझा जाता था उन्हें न तो भारत का विजेता माना गया और न श्रेष्ठ नस्ल का, क्योंकि अधिकांश भारतीय मुसलमान निम्न हिन्दू जातियों में से मुसलमान बने थे। भारतीय मुसलमानों को शासन में कोई महत्वपूर्ण पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। 14वीं सदी में खिलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु तब भी

---

1. पूर्वोक्त पृष्ठ – 244
2. वी. डी. महाजन – मध्यकालीन भारत पृष्ठ – 335

सामाजिक दृष्टि से भारतीय मुसलमान निम्न स्तर ही रहे।[1] मुसलमान बनने के पश्चात भी उन्होंने अपने जाति–विभेद को स्थापित रखा जिसके कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान विभिन्न वर्गो में बंटे थे। धर्म, शिक्षा और जीविका के आधार पर भी मुसलमानों के विभिन्न वर्ग बंटे थे। शिया और सुन्नियों में अन्तर था सैनिक और विद्वानों में तथा धार्मिक कृत्यों को करने वाला उलेमा वर्ग सबसे पृथक था। उलेमा का समाज ये विशेष स्थान था।[2] वे शासन में प्रभावशाली थे। कई सुल्तानों ने अपने धार्मिक और राजनीतिक मामलों में उनेसे परामर्श लेकर सरकार के काम को चलाया।[3] अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक के कुछ समय को छोड़कर उलेमा वर्ग का प्रभाव राज्य के शासन पर रहा। मुस्लिम समाज का निरन्तर स्तर शिल्पी, दुकानदार, क्लर्क तथा छोट व्यापारियों से मिलकर बन गया था।

भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दुओं का था। मुसलमानों के आने से अपने समाज की सुरक्षा के लिये हिन्दुओं ने जातिबन्धन और अधिक कठोर कर लिये। ऊँचनीच की भावना और व्यवसाय व निवास–स्थान के आधार को लेकर विभिन्न उप–जातियाँ बन गयी जिनमें परस्पर 'खान–पान और विवाह सम्बन्ध सम्भव न थे। आरम्भिक काल में कोई हिन्दू यदि एक बार अपने धर्म को छोड़ देता अथवा विवशता में मुसलमानों के साथ बन्दी रूप में भी रह लेता था तो उसे पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश नहीं मिल पाता था, परन्तु बाद के समय में बन्धन कुछ शिथिल हो गया।

सम्पूर्ण दिल्ली–सल्तनत के युग में हिन्दुओं के साथ जिम्मियो जैसा व्यवहार किया गया। उन्हें कोई उच्च पद प्राप्त नहीं होता था, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था। मुसलमान उनकी स्त्रियों को प्राप्त करने का अवसर तलाश करते रहते थे, उन पर कर का भार अधिक था और उन्हें सर्वदा अपने सम्मान की सुरक्षा के लिये जागरूक रहना पड़ता था। कि पराधीनता के कारण उनका सामाजिक पतन होने लगा। उन्हें जीवन का अधिकार तभी दिया गया जब वे जजिया देना स्वीकार करते।[4] कोई भी हिन्दू न सिर उठा सकता था और उनके घरों में सोने

---

1. एल. पी. शर्मा, मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 256
2. वी. डी. महाजन, मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 336
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 336
4. वी. डी. महाजन – मध्यकालीन भारत पृष्ठ – 339

या चाँदी के टके अथवा जीटल का कोई चिन्ह भी दिखाई न देता था, और चौधरियों तथा खूतों के पास घोड़े की सवारी करने, शस्त्र जुटाने, सुन्दर वस्त्र प्राप्त करने अथवा पान–सुपारी का भोग करने के पर्याप्त साधन न रह गये थे।[1] सरकार हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिये बहुत सुविधायें पेश करती थी। बर्नी ने लिखा है कि इन लोगों की दशा इतनी हीन हो गई थी कि इनकी स्त्रियों को मुसलमानों के घरों में काम–काज करने के लिये मजबूरन जाना पड़ता था।[2] कट्टर मुसलमान हिन्दुओं से घृणा करते थे।

फिरोज तुगलक ने ब्राह्मणों पर भी जो पहले जजिया से मुक्त रहते थे, जजिया लगा दिया। सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं को दण्डित करना शुरू किया और आर्थिक संकट न होने पर भी हिन्दुओं की दशा दासों जैसी हो गई।[2] दास प्रथा उस समय एक प्रकार से सामाजिक संस्था बन गई थी। केवल मुसलमान ही नहीं परन्तु हिन्दू भी दास–दासिया रखते थे। गुलाम बाजार में बेचे तथा खरीदे जाते थे। यद्यपि उनके जीवन और सम्पत्ति पर उनके मालिकों का पूर्ण अधिकार होता था। मुसलमान दासों की स्थिति हिन्दू दासों की अपेक्षा अधिक अच्छी थी।[3] सुल्तान स्वयं योग्य दासों को बड़ी संख्या में रखते थे और उनमें से अनेक ने राज्य में बड़े से बड़ पद प्राप्त किये थे।

उस काल में कन्या का जन्म अशुभ समझा जाता था। स्त्रियां परदे में रहती थी। यही उचित समझा जाता था। हिन्दू लोग कई जातियों और उप–जातियों में विभक्त थे। उनमें ब्राह्मणों को उनके ज्ञान और श्रेष्ठता के कारण उच्च स्थान प्राप्त था। क्षत्रियों को भी आदर प्राप्त था और उनमें कई विद्वान भी थे। वैश्य लोग वाणिज्य, व्यापार और कृषि में व्यस्त रहते थे। छोटी जाति के लोग बढ़ई, सुनार, लुहार, दर्जी और गवैये आदि का काम करते थे।[4]

सल्तनत काल में सुल्तान राज्य का सर्वोच्य न्यायाधीश होता था। सुल्तान सप्ताह में दो बार दरबार में न्याय करने के लिये उपस्थित होता था। धार्मिक मुकदमों के निर्णय के समय सुल्तान मुख्य सद्र एवं मुक्ती की सहायता लेता था। अन्य मुकदमों के निर्णय के समय सुल्तान

---

1. पूर्वोक्त
2. पूर्वोक्त पृष्ठ – 340
3. एल. पी. शर्मा – मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 257
4. बी0 डी0 महाजन, मध्यकालीन भारत, पृष्ठ – 341

काजी की सहायता लेता था। दण्ड विधान कठोर थे। अपराध की गंभीरता को देखते हुये क्रमशः मृत्युदण्ड, अंग–भंग एवं सम्पत्ति को हड़पने का दण्ड दिया।

जो लोग चरित्र सम्बन्धी अपराध करते थे, ता उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। राजकीय परिवार, का कोई सदस्य चरित्र सम्बन्धी अपराध करता था तो उसे भी साधारण लोगों की तरह दण्ड दिया जाता था। राजकुमार मसऊद की मात्रा को भी व्यमिचार के अपराध में पत्थर मार–मार कर मारा गया गधे की सवारी घृणास्पद समझी जाती थी। यदि किसी अपराध सिद्ध हो जाता है तो उसे कोड़े लगाकर गधे पर बैठाकर घुमाया जाता था।

सल्तनत में भारत में दो मुख्य धर्मो के अनुयायी थे – इस्लाम और हिन्दू धर्म। इस्लाम के सिद्धान्तों की रक्षा करना और जनता में उसका प्रचार करना सुल्तान का मुख्य कर्त्तव्य था। सुल्तान के प्रमुख कर्त्तव्य थे – मूर्ति पूजा का नाश करना, जेहाद अथवा धर्मायु में भाग लेना और काफिरों का धर्म परिवर्तन करना। हिन्दुओं के धार्मिक और राजनीतिक कारणों से मुसलमानों के असंख्य अत्याचार सहने लगे। जो शासक उलेमो की आशाओं के अनुसार और लोगों को मुसलमान बनाते थे, उनका मुसलमान इतिहासकारों ने जो उलेमा वर्ग के थे, बहुत गुणगान किया। सभी सुल्तानों के समय मुसलमानों और बहुसंख्यक हिन्दुओं में अन्तर किया जाता था। हिन्दु किसानों को मुसलमानी किसानों की अपेक्षा अधिक कर देना पड़ता। न्याय में मुसलमानों के साथ पक्षपात होता था। हिन्दुओं को तीर्थ स्थानों पर जाने से रोका जाता था। हिन्दू–मंदिरों और देवी देवताओं की मूर्तियों को नष्ट करना और उन्हें अपमानित करने के लिये उनके खण्डों की मस्जिदों पर लगाना और मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करना प्रायः सभी सुल्तानों के समय में हुआ।

इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार भारत में तलवार के बल पर हुआ। हिन्दू समाज में इस समय कई विकृतियां थी। हिन्दुओं का अछूतों के प्रति बुरा व्यवहार था। ब्राह्मणों ने उनको धार्मिक स्वतंत्रता और कर्म–काण्डों से वंचित कर रखा था। हिन्दू उनसे मिलना भी पसन्द नहीं रकते थे। उनका विश्वास था कि उनके छूने से भी वे भ्रष्ट हो जायेंगे।[1] इस्लाम धर्म ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और हिन्दुओं के निम्न वर्ग के लोगों को मुसलमान बनाना शुरू किया। ऐसी अवस्था में हिन्दू संतों ने अपने धर्म को इस्लाम के बचाने के लिये तथा हिन्दुओं के बुरे

1. वी. डी. महाजन, मध्यकालीन भारत पृष्ठ – 352

रीति–रिवाजों को दूर करने के लिये एक नया आन्दोलन भक्ति आन्दोलन चलाया।[1]

इस आन्दोलन के प्रर्वतकों ने जाति प्रथा का विरोध किया और मूर्ति पूजा को आवश्य नहीं बताया, एकेश्वरवाद का समर्थन किया।[2] वे किसी भी धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध करते थे, वे केवल भक्ति के द्वारा ही व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताते थे।

मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन की शुरूआत सर्वप्रथम दक्षिण के आलवार भक्तों द्वारा की गयी। दक्षिण भारत से उत्तर भारत में बाहरवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्द द्वारा यह आन्दोलन लाया गया। 14वीं, 15वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व कबीरदास के हाथों में था। इस समय रामानन्द, नामदेव, कबीर, नानक, दादू, रविदास, तुलसीदास एवं चैतन्य महाप्रभु जैसे लोगों के हाथ में इस आन्दोलन की बागडोर थी। इन सभी ने जाति–प्रथा, धार्मिक कर्म–काण्ड, ब्राह्य आडम्बर, मूर्ति पूजा, जप–तप, अवतारवाद आदि का घोर विरोध करते हुये एकेश्वरवाद में आस्था एवं निराकार ब्रह्म की उपासना को महत्व दिया।

मुगलकालीन न्याय–व्यवस्था

(1526–1761)

सल्तनत काल (1206–1526) ई. के शासक सुल्तान और मुगल साम्राज्य के शासक सम्राट कहलाते थे। बाबर ने सम्राट की पदवीं धारण कर भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली थी।[3] कुरान के सिद्धान्त के अनुसार मुगल सम्राट केवल मुसलमानों के ही शासक था। वास्तव में उनके दुहरे अधिकार थे अर्थात् वह मुस्लिम जनता का शासक तथा धार्मिक नेता था तथा राज्य के गैर मुसलमानों का केवल शासक होता था। उसकी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। किन्तु क्रियात्मक रूप में विद्रोह के मय तथा देश के प्रचलित नियमों के कारण उसकी वह शक्ति सीमित हो जाती थी। कुरान के नियमों के उल्लघंन पर उलेमा उसे गद्दी से उतार सकते थे।[4] बाबर हुँमायू इस्लाम धर्म में बताये गये राजा के क़र्त्तव्यों पर विश्वास रखते थे और यथाशक्ति कुरान के नियमों का पालन करते थे। किन्तु अकबर में धर्म अथवा जाति का कोई पक्षपात नही था। उसका

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 352
2. एल. पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत पृष्ठ – 269
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारत, पृष्ठ – 493
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 493

विश्वास था कि हजारों गुणों के रहते हुये भी यदि शासक के ह्रदय में धार्मिक सहिष्णुता नहीं है और वह सभी धर्म और जाति के मनुष्यों के समान रूप से आदर नहीं करता, तो वह शासक जैसे महान पद के लिये सर्वथा अयोग्य है।[1] अकबर का भी विश्वास था कि राजा सब मनुष्यों से श्रेष्ठ और ईश्वर की छाया अथवा उसका प्रतिनिधि है।

मुगल सम्राट असीम शक्ति सम्पन्न होता था। वही राज्य को अन्तिम कानून–निर्माता, शासक व्यवस्थापक न्यायाधीश और सेनापति था। सम्पूर्ण शक्तियों को अपने में केन्द्रित करने और देवत्व के अंश को अपने ने मानकर मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश था।[2] आध्यात्मिक नेता होने के कारण वह अपनी मुस्लिम जनता से जकात वसूल करता था और उसे मस्जिदें बनवाने तथा मुसलमान साधु सन्तों एवं दीनों की सहायता करने में व्यय करता था। एक मंत्रिपरिषद नियमित होती थी जिसमें 4 से 6 तक नियमित मंत्री होते थे किन्तु उन्हें शासन नीति के निर्माण करने के अधिकार नहीं होता था। उनकी सलाह का मानना सम्राट के लिये अनिवार्य नहीं था, अतः मुगल सम्राट निरंकुश और स्वेच्छाचारी होता था।

सम्राट का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू था। हिन्दू परम्परागत आधार पर विभिन्न जातियों में बंटे थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र समाज के मुख्य वर्ग थे। परन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में विभिन्न उपजातियों का निर्माण भी हो गया है। जाति बन्धन आजकल के बन्धनों से अधिक कठोर थे और साधारणतया अन्तर्जातीय खान–पान और विवाह–सम्बन्ध निषिद्ध थे। उस समय में भी ब्राह्मणों का मुख्य का कार्य अध्यापन और पुराहिती का था, क्षत्रिय तथा राजपूत युद्ध करते थे, वैश्य व्यापार और कृषि का कार्य करते थे तथा शूद्रों का कार्य अन्य छोटे–छोटे कार्य, उद्योग तथा सेवा करना था। अछूत वर्ग हिन्दू समाज का निम्नतर भाग था और वह शूद्रों में भी एक पृथक वर्ग बन गया था। हिन्दुओं के अतिरिक्त जैन, बौद्ध और सिक्ख भी सम्मिलित थे। यद्यपि हिन्दू समाज जातियों में बँटा हुआ था, किन्तु इनमें परस्पर सहयोग और संगठन बना हुआ था। ये जातियां अपनी–अपनी जातियों के लोगों के चरित्र की देखभाल रखती थी।[3]

मुसलमान मूलतया दो भागों में बँटे थे। एक तो वे थे जो अरब, फारस और दूसरे

---

1. अकबरनामा, जिल्द – 2, पृष्ठ – 285

2. एल. पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत पृष्ठ – 258

3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन पृष्ठ – 531.

देशों से नौकरी अथवा व्यापार के लिये भारत आये थे और दूसरे वे थे जो हिन्दू थे और बाद में मुसलमान बन गये थे या मुगलों के पहले बने हुये मुसलमानों की सन्तान थे। विदेशी मुसलमानों को समाज और राज्य में श्रेष्ठतम स्थान और पद प्राप्त होता था और सबसे महत्वपूर्ण राजकीय पद उनको प्राप्त होते थे। हिन्दू से मुसलमान बने को समाज निम्नतर समझा जाता था।[1]

मुगलकाल में स्त्रियों की अवस्था पहले से भी खराब हो गई पर्दा–प्रथा, बाल–विवाह, सती–प्रथा और बहु–विवाह में वृद्धि हुई। उन्हें अपना जीवन उपेक्षा, अपमान और अनादर के वातावरण में व्यतीत करना पड़ता था। निम्न वर्ग की स्त्रियों की दशा पहले जैसी हो चुकी थी परन्तु यदि उन्हें धर से निकाला जाता था तो वे पैरों पर खड़ी हो सकती थी।[2] पर उच्च घराने की महिलायें घर से बाहर नहीं निकल सकती थी मुसलमानों के यहाँ पर्दा प्रथा और भी कड़ा था।

हिन्दू, इस्लाम, सिक्ख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई आदि विभिन्न जातियाँ धर्मावलम्बी भारत के विभिन्न भागों में फैले हुये थे। हिन्दू धर्म के मानने वाले इसमें बहुसंख्यक थे। मुगलकाल में जनसाधारण का धार्मिक जीवन सरल था। अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड और जादू–टोनो में विश्वास करते हुये भी व्यक्ति अधिकांशतया सदाचारी था। धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से मुगल–काल में कोई विशेष बात नहीं हुई। प्राचीन धर्मों को सुधारने का प्रयत्न किया गया था परन्तु यह प्रयत्न अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में पूर्ण सफल नहीं हुई। अतः धर्म को सहिष्णुता, सरलता, सदाचार, सत्कर्म और पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग पर स्थापित करने की आवश्यकता मुगल–काल मे भी रही।[3]

मुगलकाल में भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से कई भागों में बँटा था। सबसे श्रेष्ठ स्थिति बादशाहों मनसबदारो और राजपूत राजाओं की थी। निम्न श्रेणी के कलाकार, दस्तकार और कारीगर थे जिन्हें साधारण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कृषि–मजदूर तथा अन्य मजदूरों की स्थिति भी अच्छी नहीं थी उनको बहुत साधारण वेतन मिलता था और उनका जीवन–स्तर गिरा हुआ था। समाज का निम्नतर वर्ग किसानों का था जो बहुसंख्यक थे और जो सबसे अधिक उत्पादन करते थे। परन्तु जिन पर कर का भार सबसे अधिक था।

जिनका शोषण भी राज्य कर्म सबसे अधिक करते थे। इस प्रकार, मुगल–काल में

---

1. एल. पी. शर्मा, मध्य कालीन भारत – मध्य कालीन भारत – 292
2. वी. डी. महाजन, मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 356
3. शर्मा – मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 299

आर्थिक ढाँचा मध्य युग की विशेषता के अनुरूप सामन्तवादी था। जिसमें समाज उच्च और निम्न आर्थिक वर्गो में बँटा हुआ था। जिसमें उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच भेद की बहुत ही चौड़ी खाई बनी रहती थी तथा जिसमें समाज का बहुसंख्यक साधारण वर्ग परिश्रम रहता था और उनके परिश्रम का लाभ समाज के बहुत छोटे वर्ग को प्राप्त होता था।[1]

मुगल सम्राट अपने काल का खलीफा होने के कारण सम्पूर्ण न्याय विधान का प्रमुख स्रोत माना जाता था। श्री यदुनाथ सरकार का मत है कि सम्राट अपील का सर्वोच्य अन्तिम न्यायालय था। वहाँ मुकदमे आरम्भ भी किये जाते थे।[2] मुगल सम्राट वह ही न्यायप्रिय थे। प्रायः सभी मुगल बादशाह निष्पक्ष रहकर न्याय करते थे। यद्यपि अकबर के अतिरिक्त सभी धार्मिक मतभेद से प्रभावित होते थे। पिरूचि के अनुसार ''अकबर मुगल सम्राटों में सबसे अधिक न्याय–शासन के विषय में जागरूक और प्रयत्नशील था। दण्ड देने में वह अत्यन्त कठोर था और अपराधी को मृत्युदण्ड या अंग–भंग का दण्ड भोगने के लिये न्यायाधीश और दरबार को सौंप देने के पश्चात आदेश था, उसे उस दण्ड के विषय में दण्ड देने से पहले सन्देशों द्वारा तीन बार स्मरण कराया जाये।[3] इस्लामी कानून के अनुसार जो व्यक्ति इस्लाम धर्म छोड़ दे अथवा ईसाई या हिन्दू धर्म का प्रचार करे उसे प्राण दंड दिया जाये।[4] किन्तु अकबर ने इस्लामी कानून को रद्द कर दिया और हिन्दुओं के मुकदमों का निर्णय करने के लिये हिन्दू न्यायाधीश ही नियुक्त किये।[5]

मुगल दण्ड व्यवस्था कठोर थी साधारणतया 'दाँत के लिये दाँत' और आँख के लिये आँख' की नीति का पालन किया जाता था। मृत्यु दण्ड, हाथ, पैर काटना, नाक, कान काटना, असम्मानित करना, कोड़ों से पीटा जाना आदि दण्ड निस्संकोच दिये जाते थे।

कुछ लोग मानते है कि मुसलमानों के आने से अमानवीय जाति प्रथा को धक्का लगा। मुसलमानों में जाति प्रथा के आधार पर भेदभाव का अभाव था। वे समानता के सिद्धान्त

1. एल. पी. शर्मा – मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 284
2. वी. डी. महाजन, मध्य कालीन भारत पृष्ठ – 310
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 310
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव – मुगल कालीन भारत पृष्ठ – 507
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 507

को मानते थे।[1] परन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है क्योंकि .... क्या उन्होंने राजतंत्र के संचालन और सामाजिक व्यवस्था के लिये जाति को दरकिनार कर कोई नयी प्रणाली विकसित की ? कतई नहीं। उल्टे मुस्लिम शासकों ने अपने साथ लाये प्रशासन का तालमेल बहुत जल्द ही जाति व्यवस्था के साथ बैठा लिया। जाति के चौधरी प्रचलित और गाँव के मुखिया मालगुजारी 'सामंत' के बजाय 'इज्तादार' को पेश करने लगे। जाति से निर्धारित जन्मगत पेशे बने रहे। नयी जातियाँ जरूर उत्पन्न हुई और परम्परा के अनुसार उन्हें जाति व्यवस्था की किसी न किसी सीढ़ी पर जगह मिलती चली गयी। कबीरदास कितनी गहरी दशा के साथ इस बात को पहचानते है कि उन्हें जुलाहा कहा जाये या कोरी, दूसरों की निगाह में वे जात कमीना ही है। इतिहाकार मोरलैण्ड ने जिसे हिन्दू और मुस्लिम राजनीतिक प्रशासनिक संस्थाओं के बीच ऐतिहासिक नहीं तो तार्किक संगति अवश्य होने की स्थिति कहा था, उसका नतीजा यह निकला कि धार्मिक तनाव के बावजूद इस्लामी राजसत्ता और जाति व्यवस्था की समाज सत्ता के बीच शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व कायम हो गया। मुस्लिम शासक अपने अनुभवों से बहुत जल्द यह समझ गये कि जाति सिर्फ धार्मिक रीति–रिवाज नहीं, बल्कि सामाजिक सत्ता का ऐसा तन्त्र है, जिसका उपयोग करने वाले शासक के लिय हिन्दू धर्मावलम्बी होना कतई आवश्यक नहीं है। इसलिये उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रतीकों पर आक्रमण करने के बावजूद न तो जाति की व्यवस्था पर कोई चोट की न उसके सामाजिक व्यवहार पर। बल्कि मुस्लिम शासक वर्गो ने खुद अपने बीच प्रचलित रक्त शुद्धि की धारणा को जाति व्यवस्था से मिलाकर ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि आज तक भारतीय मुसलमानों में जातिगत ऊँच–नीच विचार और व्यवहार में प्रचलित है।[2]

आधुनिक भारत में न्याय व्यवस्था

(ब्रिटिश शासन काल)

19वीं सदी का भारतीय समाज पूरी तरह धार्मिक अंधविश्वासों के जाल में जकड़ा हुआ था और इसके चलते सामाजि सुधार की कोई गुंजाइश नहीं थी । मैक्स बेबर ने लिखा कि "हिन्दू धर्म दरअसल "जादू, अंधविश्वास और अध्यात्मवाद की खिचड़ी" बन गया था । ईश्वर की पूजा की जगह पशु बलि और शारीरिक यातना जैसा जघन्य प्रथाओं का सिलसिला शुरू हो गया

1. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी – भारतीय समाज और संस्कृति पृष्ठ – 121
2. पुरूषोत्तम अग्रवाल – 'जातिवादी' कौन उघृत हरिजन से दलित पृष्ठ – 95

था । पुजारियों और धर्माचार्यों का जबरदस्त असर था । मूर्तिपूजा और बहु–देवोपासना ने पुजारियों और धर्माचार्यों के इस वर्चस्व को कायम रखने में और भी मदद की । लोग पुजारियों की इच्छा, आज्ञा और मर्जी को ईश्वरीय आदेश की तरह ही सिर झुकाकर स्वीकार करते थे । ऐसा कोई भी काम नहीं था जिसे धर्म का नाम लेकर कराया न जा सके ।

उस समय सामाजिक स्थिति भी इसी तरह दयनीय थी । महिलाओं की हालत तो सबसे खराब थी । लड़की का जन्म दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता था, उसकी शादी बोझ समझी जाती थी और विधवा होने पर तो उसे कोई पूछता ही नहीं था । कई इलाकों में तो हालत यह थी कि लड़की पैदा होते ही लोग उसे मार डालते थे । अगर किसी तरह लड़की इससे बच भी गई तो उसे बाल विवाह की यातना झेलनी पड़ती थी । उसे जीवन भर अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा और मुसीबतों की पहाड़ सी जिन्दगी को सहना होता था।

फिर जाति प्रथा थी, जो कई तरह के सामाजिक, आर्थिक शोषण का हथियार बनी हुई थी। संस्कार और कर्म पर आधारित वर्ण–व्यवस्था समाज को ऊँचे और निचले तबकों में बाँट रखने और लोगों के अलग–अलग सामाजिक दरजों को बरकरार रखने के लिए पोषित की जा रही थी। इसने समाज को इतने टुकड़ों में बाँट रखा था कि उसमें गतिशीलता ही नहीं रही गई, समाज जैसे जड़ हो गया था, और इसकी सबसे दुर्भाग्यूपर्ण बात थी छूआछूत, जिसके चलते 'शूद्र' को आदमी का दरजा हासिल नहीं था। इसके अलावा दूसरे कई तरह के सामाजिक नियंत्रण, अंधविश्वास, धार्मिक कट्टरता, अंधभाग्यवाद, हैसियत और अधिकार जैसे कारक भी थे जिन्होंने समाज को कई स्तरों पर बाँट रखा था और जड़ बना रखा था ।

ब्रिटिश सरकार ने पहली बार सभी भारतीयों को लोकतांत्रिक आधार पर कानूनी समानता प्रदान की। जातिगत असमानता सुधार अधिनियम 1950 के अन्तर्गत प्रावधान किया गया कि एक व्यक्ति यदि वह अपनी जाति या धर्म परिवर्तन करता है तो उसे उसके मूलभूत अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। विवाह कानून को उदार बनाने हेतु लगातार कई सुधार कानून बने। यह विशेष विवाह अधिनियम 1872 था। जो आगे परिवर्तित होकर "Special Marriage Amendment Act of 1923" बना। दलित समुदाय कई नागरिक सुविधाओं से वंचित था। ब्रिटिश प्रशासकों के सामने उनकी असमानताओं एवं नागरिक अधिकारों का प्रश्न था। प्रेस नोट 1858 के अनुसार "All Schools maintained at the sole cost of Government shall be open to all

classes of acts subject without distinction"[1]

धर्मशास्त्रों की मान्यता चाहे जो रही हो, अंग्रेजी हुकूमत के आने और शिक्षा पद्धति लागू होने से पैदा वस्तुस्थिति यही बतलाती थी कि नयी शिक्षा के प्रणेता अंग्रेज विद्वान ही नये ब्राह्मण थे और विजेता तथा शासक अंग्रेज ही नये क्षत्रिय भी थे। अंग्रेजों ने न सिर्फ नयी शिल्प का जाल फैलाया। बल्कि इससे प्रशिक्षित भारतीय शिक्षाविदों, अफसरों और व्यापारियों आदि का ऐसा वर्ग पैदा किया। जिससे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के परम्परागत पेशों–शिक्षा, दीक्षा, शासन–प्रशासन और युद्ध तथा व्यापार आदि को अपने हाथों में ले लिया। इस तरह पुरानी वर्ण–व्यवस्था का सामाजिक और आर्थिक नष्ट हो गया।[2]

लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि परिस्थिति के इस बदलाव से वर्णगत विशेषतायें भी गिर गयी। हुआ यह कि परम्परा से शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी वर्णो में शामिल जातियों ब्राह्मण, राजपूत, बनिया और कायस्थ अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने में भी आगे आ गयी और इस शिक्षा के बल पर प्रशासनिक सेवाओं और व्यवसाय और व्यापार में अपना स्थान बनाने लगी। दूसरी ओर निम्न जातियाँ प्रायः नयी शिक्षा और सबद्ध नौकरियों तथा व्यवसायों से वंचित रहे।

19वीं सदी को भारत में धार्मिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण की सदी माना गया। इस समय कम्पनी की पाश्चात्य शिक्षा पद्धति से आधुनिक तत्कालीन युवा मन चिन्तनशील हो उठा, तरूण व वृद्ध सभी इस विषय को सोचने को मजबूर हुये।

ब्रिटिश शासन काल में पाश्चात्य शिक्षा एवं मूल्यों, विज्ञान के प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण, राजनीतिक आन्दोलन एवं आधुनिककरण आदि के विकसित परिवेश के फलस्वरूप लोगों में दलितों के साथ भेदभाव एवं उत्पीड़न के विरूद्ध एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इसी चेतना के कारण कई समाज सुधारकों का जन्म हुआ, जिन्होंने हिन्दुओं के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन करना चाहा। डा. धुर्ये के अनुसार, दलित सुधार आन्दोलन के प्रारम्भिक प्रयास दक्षिण भारत में हुये तथा महात्मा ज्योतिषा फूले इस आन्दोलन के प्रणेता थे। महात्मा फूले के प्रारम्भिक प्रयासों के अतिरिक्त राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, केशव चन्द्र सेन, गोपाल कृष्ण गोखले, बालं गंगाधर तिलक, गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी, डा. अम्बेडकर, सन्त रामानुज,

1. Churay, Cast, Class in India Page no. 192
2. सचिदानन्द निन्ह 'इतिहास की चुनौती' पृष्ठ – 36

रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द आदि समाज सुधारकों एवं संतों के नेतृत्व में अस्पृश्यता निवारण द्वारा एवं दलित कल्याण कार्यो का शुभारम्भ हुआ।''[1]

राजा राममोहन राय ने 1828 में लिखा था ''मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि धर्म के वर्तमान ढाँचें ने हिन्दुओं को बुरी तरह पकड़ रखा है कि उनके राजनीति हितों के बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता। जातिभेद आर जातीय अभियान ने उन्हें अनगिनत वर्गो और उपवर्गो में बाँटा जिससे उनमें देश प्रेम की भावना ही पूरी तरह खत्म हो गयी है। सैकड़ों तरह के धार्मिक रीति–रिवाजों, धार्मिक समारोहो और शुद्धिकरण के नियम ने उसे इस कदर बाँध रखा है कि वे कोई जोखिम का काम लेने लायक नहीं रह गये है। इसलिये मेरे ख्याल से अब यह जरूरी हो गया है कि हिन्दू धर्म के स्वरूप में कुछ परिवर्तन लाये जाये। कम से कम हिन्दुओं के राजनीतिक और सामाजिक हितों के लिये तो ऐसा करना बेहद जरूरी है।''[2] नवजागरण के अग्रदूत 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापनास की एवं सती प्रथा, जाति प्रथा, मूर्ति पूजा आदि का विरोधकर समाज में नयी स्फूर्ति लाने का प्रयास किया।

महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज ने दलितोद्धारमिशन स्थापित किये। अछूतों द्वारा इसका प्रमुख लक्ष्य था। प्रार्थना समाज ने दलितों द्वार के लिये कार्य तो किये लेकिन सीमा में रहकर ही, समाज में जागृति न होने के कारण प्रार्थना समाज का समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाना पड़ा।

महाराष्ट्र में ज्योतिषा फुले का जन्म लेना एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसने दलितोद्धार के कार्य को जुझारू रूप दिया था। ज्योतिषा फुले के समय में हिन्दू समाज अने कुरीतियों और मान्यताओं से ग्रस्त था और विशेषकर दलित वर्ग की स्थिति तो जानवरों से होती थी। वे स्वयं भावी जाति से थे। उन्होंने समाज को जड़ बना देने वाली जाति–व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष छेड़ा। जाति व्यवस्था न सिर्फ नैतिक रूप से एक घिनौनी व्यवस्था थी, बल्कि इससे ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि इसने लोगों में देश–प्रेम की भावना को खत्म कर दिया था और लोकतांत्रिक विचारों के विकास में यह सबसे बड़ी बाधा बनी हुई थी। इस बात का अहसास ज्योतिषा फुले को भली प्रकार से था। ज्योतिषा फुले को विश्वास था कि यदि पुरुष के स्थान पर नारी को शिक्षित किया जाये तो पूरा समाज अपने आप शिक्षित हो जायेगा।

---

1. धर्मेन्द्र सिंह, दलित अतीत से वर्तमान तक, दलित जनउभार पृष्ठ – 244
2. विपिन चन्द्र, भारत का स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ – 46

1848 में पूना स्थित भिंड हवेली में ज्योतिषा ने बालिकाओं के लिये पाठशाला खोलकर ब्राह्मणों के अन्धविश्वास को गहरी ठेस पहुँचाई। 1832 में ब्रिटिश शासन ने पूना के बुधवार बाड़ा में एक पाठशाला खोली थी।

इस तरह से ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद ज्योतिषा फुले द्वारा चलाये गये बालिकाओं के विद्यालय दिन–पर–दिन प्रगति के पथ पर अग्रसर होते थे।

ज्योतिषा फुले ने ही दलित आन्दोलन की पहल की थी, जिसने बाद में चलकर ब्राह्मणी व्यवस्था के विरूद्ध क्रान्ति के रूप में लोगों के सोये हुये मानस को जगाने में सफलता प्राप्त की। ज्योतिषा फुले ने अछूतों के पीने के लिये तालाब भी बनवाये। ब्राह्मणों ने शूद्राति शूद्रों पर होने वाले अन्याय की परम्परा को कायम रखने के लिये "मनुस्मृति" जैसे धर्मग्रन्थों का सहारा लिया और उनका हवाला देते हुये शूद्रों को ब्राह्मण सताते रहे। इसी सन्दर्भ में ज्योतिष फुले ने कहा था – "शूद्र लोग उनके एवं उनके वंशजो के बीच गुलाम बनकर रहे, इस हेतु शूद्रों का जारज ठहराकर और उससे भी स्त्री को नीच ठहराकर ऊँच–नीच की जातिवादी भावना पैदा की। भट्टो की (ब्राह्मणों की) कुटिलता समझने पर शूद्रातिशूद्र मनु संहिता को मानस वंश का शास्त्र न मानकर शैतान की सिफारिश करने वाला शास्त्र कहेगे। आज के ज्ञानी कहलाने वाला भट्टो (ब्राह्मणों) ने इसे न निपटाया तो वे इस ग्रन्थ का फाड़कर तार–तार करके टोकरी में डाल देगे या जला देगे। यह काम वे अधेंरे में ही नहीं बल्कि दिन–दहाड़े भट्टो (ब्राह्मणों) के आगे करेगे। यह मेरी भविष्यवाणी है।"[1]

निश्चित ही ब्राह्मणों का धर्माड़म्बरी जजांल ज्योतिषा के संघर्षो के ज्वाल–जाल में भस्मीभूत होने लगा था।

24 सितम्बर 1873 में उन्होंने निचली जातियों तथा दूसरे उत्पीड़ित वर्गो की समानता के आन्दोलन में उतारने के लिये सत्यशोधक समाज की स्थापना की तथा बालिकाओं खासकर उत्पीड़ित जातियों की लड़कियों के बीच शिक्षा के प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाई। देश के दूसरे भागों में भी ऐस ही आन्दोलन चलाये गये। कांडुकरी वीरेशलिंगम (1848–1919) ने आंध्र में विधवा पुनर्विवाह तथा स्त्री–शिक्षा के लिये आन्दोलन चलाया। केरल में जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ

---

1. मोहन दास नेमिशराय लेख दलितोद्धार मे सामाजिक संगठनों की भूमिका उघृत असली भारत (पत्रिका) सम्पादक अजय सिंह पृष्ठ 4

श्रीनारायण गुरू (1854–1928) ने आन्दोलन चलाया। समाज सुधार कार्य को आगे बढ़ाने, उत्पीड़ित जातियों में जागरण लाने तथा जाति और धर्म के भेद के बिना लोगों के भाईचारे की भावना विकसित करने के लिये 1903 में उन्होंने श्रीनारायण धर्म परिपालन योगम की स्थापना की।[1]

10 अप्रैल 1875 में बम्बई में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना मुख्यतः दो–तीन कारणों को लेकर हुई। पहला कारण था अछूतों का अन्य धर्मो की ओर पलायन। उन्नीसवीं शताब्दी की बड़ी विकट समस्या थी। उस समय अछूत समूह का मानस विभिन्न धर्म एवं वर्गो की तरफ बंटता चला जा रहा था। जहाँ एक ओर तबलीग आन्दोलन (अछूतों को मुसलमान बनाने की प्रक्रिया) चला रहा था, तो दूसरी तरफ अमृतपान आन्दोलन (अछूतों का सिख बनना) भी प्रगति पर था तीसरी ओर बड़ी संख्या में अछूत ईसाई भी बन रहे थे। दूसरा कारण था – अधिकांश हिन्दुओं का (जिनमें पढ़े–लिखे अधिक थे) अंग्रेजी भाषा और संस्कृति की मोहमाया में फंसना। इसलिये स्वामी दयानन्द ने भारत की प्राचीन गौरवशाली संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठा दिलाने के लिये हिन्दू धर्म में पल रही अस्पृश्यता, छूआछूत जैसी कुरीतियों को भी त्यागने की बात की।[2]

आर्य समाज ने ब्राह्मणों की सत्ता को नकारा और धार्मिक रीति–रिवाज और मूर्ति पूजा की निन्दा की। यद्यपि वह स्वयं में जाति–प्रथा का विरोधी न था, पर उसने वंशवाद पर आधारित जाति–प्रथा का विरोध किया। उसने स्त्रियों और पुरुषों के समान अधिकारों की वकालत की। मगर आर्य समाज की सबसे बड़ी उपलब्धि शिक्षा क्षेत्र ही रही। इसने देश के विभिन्न भागों में लड़कों और लड़कियों, दोनो के लिय अनेक स्कूल और कालेज खोले। आर्य समाज का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब में पड़ा जहाँ सभी वर्गो में शिक्षा के प्रसार तथा हिन्दुओं को अनेक अन्धविश्वासों से मुक्ति दिलाने के क्षेत्र में उसका कार्य खासतौर पर सराहनीय है।

1870 के ही लगभग बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस और बाद में उनके ही शिष्य स्वामी विवेकानन्द (1861–1902) के द्वारा समाज सुधार आन्दोलन चलाये गये। सुधार आन्दोलन

---

1. अर्जुन देव सभ्यता की कहानी, भाग–2, पृष्ठ – 377

2. मोहन दास नेमिशराय, (लेख) दलितोंद्वार में समाजिक संगठन की भूमिका उघृत असली भारत (पत्रिका) सम्पादक अजय सिंह पृष्ठ – 6

को और भी क्रियात्मक और ठोस रूप देने के लिये स्वामी विवेकानन्द ने मई सन् 1897 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म की श्रेष्ठ परम्पराओं को पुर्नजीवित करना, स्वामी रामकृष्ण की शिक्षाओं को वैद्धान्तिक धर्म के उजाले में प्रचार करना, विभिन्न धर्म के मानने वालो में मित्रता स्थापित करना, जाति–पाँति के भेदभाव को मिटाना और सम्पूर्ण मानव की सेवा करना था।[1] बम्बई के न्यायाधीश रानाडे (1842–1901) एक बहुत बड़े समाज सुधारक थे। उन्होंने 1861 में एक 'विधवा–विवाह संघ' की स्थापना की और बाद में प्रार्थना–सभा से नाता जोड़ा। इसके बाद सन् 1887 में समाज–सुधार के लिये एक नया संगठन प्रारम्भ किया गया। जिसका नाम 'भारतीय समाज सम्मेलन' रखा गया। इस सम्मेलन का काम बाल–विवाह को रोकना, दहेज प्रथा को समाप्त करना, विवाहों की अवस्था की उन्नति करना, शिक्षा का प्रचार करना, सामाजिक शुद्धि तथा आत्म संयम की शिक्षा देना, अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करना, अछूत वर्गो का सुधार करना तथा हिन्दू–मुस्लिम एकता को बढ़ाना आदि था।[2]

दिल्ली में अछूत जातियों के लोगो का बड़ी संध्या में निवास था, जिनमें बहुसंख्यक व चमार थे। इनमें ही अधिकांश ईसाई धर्म से प्रभावित थे। दूसरी तरफ बाल्मीकि वर्ग मुस्लिम धर्म से प्रभावित था। यही कारण था कि अछूतों के रीति–रिवाज, संस्कार यहाँ तक कि धार्मिक, मान्यताओं पर इन दोनों धर्मो यानि ईसाई और मुस्लिम का प्रभाव था। 1921 में स्वामी श्रद्धानंद ने "दलितों द्वारा समाज" की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य था – भारत में अछूत जातियों में सदाचार का प्रचार, दलित समुदाय को प्राचीन धर्म से पवित्र करने वाले आक्रमणों से बचाना, घृणा के मिथ्या संस्कारों को दूर करके उनके खोये मानवीय अधिकारों को वापस दिलाना, समय और सामर्थ्यानुसार दलितों के लिये ऐसी शारणाये खोलना, जिनके द्वारा वे अन्य देशवासियों के साथ शिक्षा ग्रहण करके सभ्य समाज में उचित स्थान पा सके। पंजाब में इन्हीं दिनों एक नया सामाजिक संगठन अस्तितत्व में आया नवम्बर 1992 को लाहौर में त्यागमूर्ति भाई परमानन्द जी के मकान पर कोई 20–22 स्त्री पुरुषों की एक सभा हुई। उसमें जात–पाँत तोड़ने के लिये एक संगठन बनाया गया, जिसका नाम "जात–पाँत' तोड़क मण्डल" रखा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के ही अन्तिम दशक में देश के अन्दर डा. अम्बेडकर का जन्म

---

1. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, भारतीय समाज व संस्कृति पृष्ठ – 275
2. पूर्वोक्त पृष्ठ–275

हुआ। उसके समय भारत, दलितों की गुलामी, शोषण, उत्पीड़न तथा अन्याय एवं जातिवाद जैसे गम्भीर अमानवीय कृत्यों से पूर्णतया अलिप्त था। 'दलित–मानव' मानव नहीं बल्कि पशु से भी बदतर स्थिति में जीवन यापन कर रहा था। सार्वजनिक तलाबों में या स्थलों से पानी पीने की मनाही, मन्दिर प्रवेश वर्जित, छुआछूत आदि दुष्कृत्य मानव इतिहास में कलंक के रूप में हिन्दू समाज के परकोटे में विद्यमान था। डा. अम्बेडकर कालीन दलित उत्पीड़न के कतिपय उदाहरण इस प्रकार है [1]–

दिल्ली के 'तेज' समाचार–पत्र के 4 सितम्बर 1927 के अंक में निम्नलिखित समाचार छपा है।

हरिजनों ने व्यकोम के शिव मन्दिर को उसके एकदम पास जाकर अपवित्र कर दिया। इस पर उस क्षेत्र के हिन्दुओं ने प्रचुर धन लगाकर मन्दिर को शुद्ध करने का फैसला किया है, जिससे वहाँ फिर पूजा भी हो सके।

'प्रताप' के संवाददाता ने ऐसा ही एक समाचार दिया, जो उसके दो सितम्बर 1932 के अंक प्रकाशित हुआ।

मेरठ, अगस्त 1932, जन्माष्टमी के दिन कुछ हरिजनों ने स्वर्ण हिन्दुओं के मन्दिर में प्रवेश करने की चेष्टा की थी। जगह–जगह दंगे और अंशाति के अलावा इसका कोई नतीजा नहीं निकला था। इस साल स्थानीय दलित संघ ने यह फैसला कर रखा था कि यदि मन्दिर के द्वार उनके लिये न खोले गये तो वे सत्याग्रह करेगे। जब हिन्दुओं को इस बात का पता चला तो उन्होंने हरिजनों की इस चाल को विफल करने के लिये योजनायें बनानी शुरू कर दी। अन्त में जन्माष्टमी की रात को हरिजनों ने जुलूस निकाला और मन्दिर में घुसने की कोशिश की। लेकिन पुजारियों ने उन्हें प्रवेश करने से रोक दिया और कहा, आप लोग यदि भगवान के दर्शन करना चाहते है, तो सड़क पर से करे इस पर मन्दिर के सामने भारी भीड़ जमा हो गई। पुजारियों ने मन्दिर में घुसने की कोशिश की और दोनों पक्षों के बीच झगड़ा शुरू हो गया और जमकर मार–पीट हुई।

हिन्दुओं के कुयें से पानी लेने पर हिन्दुओं ने कैसा व्यवहार किया, यह निम्नलिखित

---

1. बाबा साहब अम्बेडर सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड 9 पृष्ठ–65

घटनाओं से स्पष्ट होता है।''[1]

पहली घटना 'प्रताप' के 12 फरवरी 1923 के अंक में छपी है –

महाशय छेदी लाल जी ने खबर दी है कि एक चमार मूर्ति की पूजा करने के लिये जा रहा था। रास्ते में उसे प्यास लगी। उसने अपनी लोहे की छोटी डोलची कुयें में डालकर पानी पिया। इस पर एक सवर्ण हिन्दु ने उसे डांटा, खूब मारा–पीटा और एक कोठरी में बन्द कर दिया। जब यह घटना हो चुकी, तब डा. अम्बेडकर उधर से निकले और उन्होंने पूछा कि इस आदमी को कोठरी में बन्द क्यों कर रखा है। दीवान साहब ने बताया कि इस आदमी ने अपनी डोलची हमारे कुयें में डाल दी और यह हमारा धर्म भ्रष्ट करना चाहता है।

यह एक सच्चाई है कि दलितों पर अत्याचार करने में हिन्दू औरतें भी पीछे नहीं रहती, और जो अस्पृश्य हिन्दुओं के कुयें से पानी लेने का दुस्साहस करता है, उसे मारने–पीटने में वे मर्दो का साथ देती है। इस सम्बन्ध में 26 फरवरी 1932 में 'प्रताप' में छपी – 19 फरवरी 1932 को पुल बजुवा में दुखद घटना घटी। यह घटना तब घटी, जब महाशय रामलाल एक कुयें में पानी लेने गये। यह वहीं कुआं था, जिस पर 13 जनवरी 1932 को कुछ राजपूतों ने महाशय रामलाल और उनके एक साथी पंडित वंशीलाल की ठुकाई की थी। उस वक्त राजपूत औरतों का एक झुंड लाठी–डंडे लेकर वहाँ आ पहुँचा और महाशय की ऐसी पिटाई की, जिसका ब्यान नहीं किया जा सकता। राजपूत औरतों ने उन्हें इतना पीटा कि उनका शरीर लहूलुहान हो गया।

डा. अम्बेडकर ने ब्रिटिश सरकार पर पूर्वाग्रही दृष्टिकोण अपनाने का आरोप लगाया। डा. अम्बेडकर ने प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस के प्लेनरी सेंशन की 20 नवम्बर 1930 की बैठक में इंगित किया है कि ब्रिटिश सरकार की दो गम्भीर खामियाँ है। पहली है आन्तरिक कमजोरी जो सत्ता में बैठे लोगों की प्रकृति, उद्‌देश्य और हितों से पैदा होती है, ब्रिटिश सरकार की यह प्रवृत्ति उन्हें दलित वर्गो की समस्याओं के निदान करने से रोकती है बाहरी प्रतिरोध से उत्पन्न असमर्थता अथवा अकर्मण्यता एवं स्पष्ट उदासीनता सरकार की दूसरी खामी है। उन्होंने इंगित किया ''जब भारत सरकार को यह आभास है कि जमींदार जनता को निचोड़ रहे है और पूँजीपति श्रमिकों को जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी और उचित कार्य परिस्थिति नहीं दे रहे है, फिर भी वह इन बुराइयों को नहीं छू पा रही है। यह सरकार से इस बात से भयभीत है कि सामाजिक और जीवन

1. पूर्वोक्त पृष्ठ – 67

की संहिता में सुधार हस्तक्षेप प्रतिरोधकों को जन्म देगा।"[1] डा. अम्बेडकर ने कहा कि इसी कारण प्राचीनकाल से चली आ रही अन्यायपूर्ण व्यवस्था में ब्रिटिश काल में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ।

इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर मध्य युग फिर आधुनिक युग तक आते–आते न्याय की अवधारणा में व्यापक परिवर्तन हुये। जहाँ न्याय का परम्परागत स्वरूप के अन्तर्गत स्वकर्त्तव्यों का पालन ही न्याय का मूल आदर्श था। न्याय का स्रोत धर्मग्रन्थ एवं सामाजिक परम्परायें थी। यह परम्परायें आगे भी जारी रही। मध्य युग में जातिगत भेद–भाव छुआछूत एवं ऊँच–नीच की दुष्प्रवृत्तियाँ और कठोर हो गयी। समाज का निम्नतर समुदाय तंग आकर सुरक्षा मुस्लिम धर्म अपनाने लगा। ब्रिट्रिश शासन काल में भारत में यद्यपि समान नागरिक अधिकारों की शासकों ने पहल की परन्तु वह अपने हितों के कारण समाज के विकृतियों के समाधान में कोई ठोस रणनीति कायम नहीं कर पाये।

---

1. थामस मैथ्य, सावंतराम, अशोक भारती 'क्रान्ति प्रतीक डा. अम्बेडकर' पृष्ठ – 43

चतुर्थ अध्याय

हिन्दू धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में न्याय के प्रचलित स्वरुप पर डा० अम्बेडकर की प्रतिक्रिया एवं समीक्षा

हिन्दू धार्मिक एवं समाजिक व्यवस्था में न्याय के प्रचलित स्वरूप पर डा0 अम्बेडकर की प्रतिक्रिया एवं समीक्षा

डा0 अम्बेडकर ने भारत में न्याय के परम्परागत स्वरूप के विश्लेषण हेतु हिन्दू धर्म, हिन्दू धर्म शास्त्रों, सामाजिक संरचना–वर्ग, आश्रम व्यवस्था जाति एवं अस्पृश्यता का वैज्ञानिक विश्लेषण कर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने न्याय के प्रचलित पूर्वाग्रही एवम् विकृत मूल्यों को इन्हीं धार्मिक एवं सामाजिक संरचनाओं में निहित विभेदकारी नीतियों का परिणाम माना। क्योंकि भारत में सामाजिक जीवन का आन्तरिक प्रवाह भले ही समता, आस्तिकता और आध्यात्मिकता के साथ जोड़ा गया है । हर प्राणी में एक ही आत्मा की अनुभूति एवं उत्कृष्टता की बात अवश्य प्रचारित की गई हो और वेद, उपनिषद एवं गीता की दुहाई भी दी गई है, किन्तु समाज व्यवस्था का बाह्य स्वरूप जाति, छुआछूत ऊँच–नीच, निकृष्ट भेदभाव, शोषण तथा उत्पीड़न में परिवर्तित हो गया । जहां एक ओर त्याग, परोपकार, सत्य, अंहिसा, नैतिकता आदि के सामाजिक आदर्श उच्च माने गये, तो दूसरी ओर, भोग विलास झूठ, हिंसा, अनैतिकता आदि का व्यवहारिक रूप देखने को मिला। जब इन सभी मानव प्राणियों में समानता व्याप्त है तब फिर सामाजिक भेदभाव, ऊँच–नीच ब्राम्हण–अछूत की स्थिति कैसे विकसित की गई ?[1]

उक्त तथ्य को ही डा0 अम्बेडकर ने भली–भाँति समझा वह स्वयं हिन्दू धर्म की बुराइयों, जातिप्रथा एवं छुआ–छूत के शिकार हुये जातिगत भेदभाव और छुआछूत की पीडा का उनको व्यक्तिगत अनुभव था। उन्होंने जाना की यह स्थिति इतनी यथार्थ एवं तथ्यात्मक है कि उसका न केवल अध्ययन किया जाये अपितु गहराई से समीक्षा भी की जाये कि किस प्रकार उसके दुष्परिणामों ने भारत के धार्मिक, सामाजिक एवम् आर्थिक जीवन को भ्रष्ट, निष्कृष्ट और पतनोन्मुख बनाया।

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ –1–2

डा0 अम्बेडकर ने यहां के सामाजिक जीवन में प्रचलित न्याय के विभिन्न पक्षों का अनुसंधान एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया। प्रचलित न्याय की अवधारणा पर उनका समीक्षात्मक अध्ययन हिन्दु धर्म की मान्यताओं, विशिष्टताओं एवं सामाजिक संगठन के आदर्श एवं व्यवहार एवं आचरण के संदर्भ में है। डा0 अम्बेडकर ने न्याय की प्राचीन अवधारणा को अस्वीकार कर दिया क्योंकि प्राचीन समय से ही इस देश में शोषण, अत्याचार, अन्याय और असमानता पर आधारित मानवीय व्यवस्था की शुरूआत हुयी, वह प्राचीन से आधुनिक युग तक आते–आते विकृत होती गयी।

अतएव न्याय के प्रचलित मूल्यों की समीक्षा के लिये प्राचीन हिन्दू धर्म, धर्मशास्त्रों हिन्दु समाज संगठन के मूलाधारों – वर्ण व्यवस्था, जातिव्यवस्था, अस्पृश्यता आश्रम एवं संस्कार का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया क्योंकि इन्हीं के द्वारा न्याय के विकृत मूल्यों की नींव पड़ी। शनै–शनै यह गहरी होती गयी ।

अतः न्याय की प्रचलित अवधारणा पर उनकी प्रतिक्रिया एवं समीक्षा निम्न बिन्दुओं पर आधारित है –

1. हिन्दू धर्म एवं सामाजिक अभिशासन की दैवकृत व्यवस्था अर्थात हिन्दू सामाजिक संगठन के मूलाधारों – वर्ण व्यवस्था, जाति–व्यवस्था, आश्रम एवं संस्कार एवं अस्पृश्यता आदि की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण।
2. साथ ही हिन्दू धर्म की सामाजिक संरचना के मूलाधारों का न्याय के मूल तत्वों – स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व की कसौटी पर प्रामाणिक जांच ।
3. हिन्दू धर्मशास्त्रों की अकाट्यता का विरोध एवम् विभेदकारी नियमों का समीक्षात्मक अध्ययन।

हिन्दू धर्म :–

डा0 अम्बेडकर ने "धर्म को वैयक्तिक आत्माओं की आध्यात्मिक मोक्ष के एक साधन के रूप में नहीं देखा अपितु एक 'सामाजिक आदर्श' समझा जो मानव–मानव के बीच सम्यक् सम्बन्ध स्थापित करने का सशक्त माध्यम बने।"[1] उनके शब्दों में –

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 108

" Some people think that religion is not essential to society I do not hold this view. I consider the foundations of religion to be essential to life and practices of society."[1]

उनका दृढ़ विश्वास था कि भौतिक सुविधाओं के द्वारा मानवीय समस्याओ को हल नहीं किया जा सकता। धर्म को वह मानवीय गतिविधियों की प्रेरक शक्ति के रूप में मानते थे। उनके मत में "Religion instils hope in man and drives to activity" [2] वह धर्म को मानवीय सेवा का माध्यम मानते थे। डा0 अम्बेडकर के विचार में, धर्म एक सामाजिक शक्ति है और मनुष्य तथा समाज के लिये आवश्यक हैं । वह एडमण्ड बर्क से सहमत थे जिसने यह कहा, "सच्चा धर्म समाज की नींव है, वह आधार जिस पर समस्त सत्यनिष्ठ शासन आश्रित है, और उनकी स्वीकृति भी।"[3]

डा0 अम्बेडकर ने नियमों पर आधारित धर्म की आलोचना की और आदर्शो पर आधारित धर्म को पसन्द किया जो ''एक सच्चा धर्म होने का दावा कर सकता है।''[4]

उन्होने धर्म के चार आधारभूत लक्षण बताये –

1- "Religion is the sense of morality must therefore, remain the governing principle in every society."
2- Religion if it is to function must be in accord with reason which is merely another name for science.
3- Its moral code must recognise the fundemantal tenets of liberty equality and fraternity . Unless a religion recognises these three fundamental principles of social life . Religion will be doomed.
4- "Religion must not sanctify or ennoble poverty." [5]

उनके अनुसार धर्म की परम्परागत प्रथाओं में अनेक शताब्दियों में धीरे–धीरे वृद्धि हुयी है। मानव जाति के धार्मिक विचारों का इतिहास, जिसे धार्मिक संस्थाओं से साकार किया है, पृथ्वी के भौगोलिक इतिहास के समान ही है, जिसमें नवीन और प्राचीन को साथ–साथ, अथवा एक तह पर दूसरी तह के समान रखा गया है । इस सन्दर्भ में उन्होने

---

1. W. N. Kuber, Dr. Ambedkar : A Critical Study, Page No. 75
2. Keer - Ambedkar, Life and Mission, Page No. 499
3. Dr. Ambedkar, Annihilation of Caste, Page No. 74
4. Ibid, Page No. 74
5. Ambedkar, "Buddha and the Future of his religion" . Article, Paras - 17, 20

प्रो0 मैक्समूलर के विचारों को उघृत किया –

"हमने धर्म को चरणबद्ध छोटे–छोटे बच्चों की सरल प्रार्थनाओं से लेकर बड़े–बडे ऋषि–मुनियों की गहन तपस्या तक फलते फूलते देखा है। वेदों की अधिकांश ऋचाओं में हमें धर्म की बाल्यावस्था, तो ब्राह्मण ग्रन्थों में उनके यज्ञादि, पारिवारिक तथा नैतिक आदर्शों में व्यस्त यौवन परिलक्षित होता है। भारतीय ज्ञान की ऐतिहासिक प्रगति में जब से ब्राह्मण शास्त्रों की परिपक्वता तक पहुंचे, तभी पूर्णतः बाल सुलभ प्रार्थनाओं का त्याग करना आवश्यक था। भारतीय मेधा ऐतिहासिक प्रगति के साथ–साथ यज्ञ के खोखलेपन और पुरातन देवताओं की सही पहचान हो गई । तब उनको उपनिषदों के अधिक परिपूर्ण देवताओं से बदलना भी आवश्यक था, परन्तु ऐसा नहीं हो सका। भारत में प्रत्येक धार्मिक विचार, जिसे एक बार व्यक्त किया गया, उसे कायम रखा गया और एक पवित्र वसीयत मानकर सौंपा गया है, और साथ ही भारतीय राष्ट्र की बाल्यावस्था, यौवन तथा वृद्धावस्था इन तीनों अवस्थाओं के विचारों को प्रत्येक व्यक्ति की तीनों अवस्थाओं का स्थाई भाव बना दिया गया है। एक ही आचार संहिता, वेद, जिसमें न केवल धार्मिक विचारों के विभिन्न पहलुओं का समावेश है, बल्कि ऐसे सिद्धान्त भी हैं, जिन्हें परस्पर विरोधी कहा जा सकता है।"[1]

आदिम समाज में धर्म की संकल्पना में मनुष्य का हित सर्वोपरि था। उनके शब्दों में, "आदिम समाज के धर्म की मुख्य बात है मानवीय अस्तित्व की मूल वास्तविकता, जैसे कि जीवन, मृत्यु, जन्म, विवाह आदि जादू, टोना–टोटके ऐसी चीजें है जो आकस्मिक है। जादू–टोना, प्रतिबंध, प्रतीक, यह सब कुछ साध्य नहीं है, केवल साधन हैं इनका उद्देश्य जीवन की रक्षा के लिये और बुरी बातों से खतरों के बचाव के लिये किया गया । इस प्रकार से हमें यह समझना होगा कि आदिम समाज का धर्म, जीवन तथा उसकी सुरक्षा से सम्बन्धित था और जीवन की इस प्रक्रिया से ही असभ्य समाज के धर्म की उत्पत्ति हुई है।"[2]

लेकिन बाद में शनै–शनै कर्मकाण्डों, बहुदेववाद, वर्ण–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था आदि की बुराइयों ने धर्म के सरल स्वरूप को नष्ट कर दिया और इसमें कई विकृतियां पैदा

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 20
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 24

हो गई । अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की बुराइयों का स्पष्ट विवरण दिया –

1. It tends to deprive moral life of freedom and spontaneity and to reduce it to a more or less anxious and servile conformity to externally imposed rules.
2. There is no loyality to Ideas, There is only confirmity to commands.
3. The laws are iniguitous in that they are not the same for one class as for another. The laws are prescribed to be the same for all generations.
4. The laws are not made by certain persons called prophets or law-givers.
5. This code has been invested with the other charcter of finality and fixity. He concluded that this religion must be destroyed and there was nothing irreligious in working for the destruction of such a religion. He emphasised the people must be enabled to realise that what they are told was not religion, but that it was really law and its abolition or amendment must be urged . (1)

हिन्दूधर्म के बारें में उनके प्रमुख विचार :–

1. हिन्दू धर्म का दर्शन ऐसा है कि उसे मानव का धर्म नहीं कहा जा सकता है। इसलिये ही बाल्फोर की भाषा का उपयोग करते हुये हम कह सकते है कि यदि हिन्दू धर्म सर्व–साधारण लोगों के जीवन में गहरे प्रवेश करता है, लेकिन उन्हें सुरक्षा का कवच नहीं प्रदान करता । वस्तुतः उन लोंगों को विकलांग बनाता है।

2. हिन्दूधर्म में सामान्य मानवीय आत्माओं के लिये कोई पोषक तत्व नहीं है। साधारण मानवीय दुख का कोई समाधान नहीं हैं । साधारण मानवीय कमजोरी के लिये कोई सहायता नहीं है। कुल मिलाकर हिन्दू धर्म लोगों को अंधकार मे छोड़ देता है। इतने क्रूर अधर्म से अधिक क्रूर कार्य और क्या हो सकता है। वह, मनुष्य का ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध है, उसे ही भंग कर देता है।

3. हिन्दू धर्म का दर्शन ऐसा है कि वह महामानव (ब्राह्मण) के लिये स्वर्ग है, तो साधारण के लिये नर्क है।

4. हिन्दू धर्म में व्यक्ति को कोई स्थान नही है । हिन्दूधर्म की संरचना वर्ग–कल्पना के आधार पर है । एक व्यक्ति दूसरे से कैसा वर्ताव करे, इसकी शिक्षा हिन्दू धर्म में नहीं है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से कैसा व्यवहार करे, इसके बन्धन हिन्दू धर्म में है। जिस धर्म में व्यक्ति

---

1. Ambedkar - Annihilation of Caste, Page No. 73 - 74

को प्राधान्य नहीं, वह धर्म मुझे स्वीकार नहीं है। व्यक्ति का जीवन स्वतन्त्र होता है। उसका जन्म समाज की सेवा के लिये नहीं, बल्कि आत्मोन्नति के लिये है।

डा0 अम्बेडकर ने कहा कि – "मैं जानता हूँ कि हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में मेरे द्वारा कहे गये शब्दों पर चारों ओर से आक्रमण हो सकता है।"(1) अतः उन्होने हिन्दूधर्म के सन्दर्भ में अपने कथनों की प्रामाणिक जांच हेतु उन्होनें हिन्दू धर्म एंव उसकी दैवकृत सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण किया एवं न्याय, स्वतन्त्रता समानता एवं बन्धुत्व की कसौटी पर उसकी सामाजिक एंव धार्मिक विशिष्टताओं का समीक्षात्मक अध्ययन किया।

प्रचलित न्याय की अवधारणा पर उनका अध्ययन एवं प्रतिक्रिया निम्न बिन्दुओं पर आधारित है –

1. हिन्दूधर्म की दैवकृत सामाजिक व्यवस्था के मूलाधारों – वर्णव्यवस्था, जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति एवं न्याय की कसौटी पर इनका वैज्ञानिक विश्लेषण एवं समीक्षा ।

वर्ण–व्यवस्था : उत्पत्ति एवं स्वरूप :–

डा0 अम्बेडकर ने चार्तुवण्य वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत दैविक, सामाजिक, अभिशासन को स्वीकार नही किया, क्योंकि उसमें स्वतन्त्र व्यवसाय चुनने का कोई प्रावधान नहीं है। उसमें न तो आर्थिक स्वतन्त्रता है, और न ही आर्थिक सुरक्षा वह विभिन्न जातियों की स्तरीय अर्थात ऊँच–नीच पर आधारित एक कठोर व्यवस्था बन गई है जिसमें गम्भीर रूप की अनेक असमानतायें एवं पीड़ायें निहित है। चार्तुवर्ण्य वर्ण–व्यवस्था की जानकारी हमें ऋग्वेद मण्डल के 90वें मन्त्र 'पुरूष सूक्त' से मिलती है।

''जब देवों ने पुरूष का विभाजन किया तो उसे मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय) जंघा से वैश्य और शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुआ।''(1)

पुरूष सूक्त द्वारा स्वीकृत विधान ही चातु वर्णीय व्यवस्था है। यह ईश्वरीय आदेश ही भारतीय आर्यो के समाज का आदर्श माना गया, जिसने समस्त भारतीय आर्य जाति को एक विशेष सांचे में ढाल दिया। पुरूष सूक्त का समर्थन आपस्तम्ब धर्मसूत्र और वशिष्ठ धर्मसूत्र ने किया।

---

1. डा0 अम्बेडकर,, शूद्रों की खोज पृष्ठ – 10

मनु ने यद्यपि अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों का अनुसरण किया है तथापि उसने उनसे एक कद बढ़कर दूसरी व्यवस्था भी समाज को दी–''वेद ही धर्म का एकमात्र और अन्तिम आधार है।''[1]

डा0 अम्बेडकर ने पुरूष सूक्त का आलोचनात्मक वर्णन किया। उनके अनुसार सभी हिन्दू यह मानते है कि पुरूष सूक्त अपूर्ण है। निःसन्देह यह दावा उस समय किया गया होगा जब मानव मस्तिष्क विकास की आरम्भिक अवस्था मे था और उसमें (भविष्य के प्रति) दूरगामी परिणामों पर विचार करने की क्षमता न थी। यदि वर्गहीन समाज की रचना का विधान उपस्थित किया जाता तो निश्चय ही पुरूष–सूक्त अपूर्व ही नहीं अनूठा भी होता। पुरूष सूक्त ने क्या किया ? उसने समाज को जाति–भेद विधान दिया। क्या यह भेदभाव का विधान अपूर्व या अनूठा माना जा सकता है ?

डा0 अम्बेडकर ने पुरुष–सूक्त की सामाजिक विशेषताओं का विवेचन किया [2] –

1. सभी समाजों में जन–श्रेणियों का अस्तित्व है, किन्तु किसी ने भी वास्तविक स्वरूप को समाज के आदर्श के रूप में नहीं बदला। मात्र पुरूष–सूक्त ही ऐसा उदाहरण है जिसमें वर्ण भेद को समाज के आदर्श का दर्जा दिया गया है।
2. किसी समाज ने अपने वास्तविक वर्ग–भेद को वैधानिक स्वरूप प्रदान नहीं किया। यूनान का उदाहरण सामने है। प्लेटो जैसे महान विद्वान को वकालत करने के बावजूद भी वहां के लोगो ने वर्ग–भेद को एक वैधानिक सामाजिक संरचना का रूप देने की बात नहीं मानी। पुरूष सूक्त ही एक ऐसा उदाहरण है जिसने वर्ग भेद को संवैधानिक स्वरूप प्रदान किया है।
3. किसी भी समाज ने वर्ग–भेद को सामाजिक विधान न मानकर प्राकृतिक देन ही माना है। पुरूष–सूक्त इसमें (सबसे) आगे है। उसने वर्ग–भेद को समाज का विधान और प्राकृतिक तो माना ही है, उसे पवित्र और ईश्वरीय आदेश की संज्ञा से मण्डित कर स्थायित्व भी प्रदान किया है।
4. इतिहास साक्षी है कि किसी समाज ने जन–श्रेणियों की संख्या निश्चित नही की। रोम

---

1. मनुस्मृति–2–6
2. डा0 अम्बेडकर,, शूद्रों की खोज, पृष्ठ : 13 – 14

दो वर्गों में विभाजित था। मिस्र में तीन जन–श्रेणियां थीं। भारतीय ईरानी भी तीन जातियों– अथ्रवंस (पुरोहित), स्थयेस्तर (सैनिक) और वस्त्रम्फश्युत (कृषक) में सीमित थे।[1] किन्तु पुरुष सूक्त ने वर्ण–संख्या चार निश्चित की है जो न तो घट सकती हैं और न बढ़ सकती हैं।

5. प्रत्येक समाज में कोई जन–श्रेणी अपने महत्व के आधार पर समानुकूल आदर और स्थान प्राप्त कर सकती है। किसी ने भी श्रेष्ठता और हीनता को कोई मापदण्ड और बंधन निश्चित नहीं किया है। किन्तु पुरूष–सूक्त इस सम्बन्ध में अपूर्व है, क्योंकि उसने विभिन्न जन–श्रेणियों को सदा–सर्वदा के लिये एक स्थान पर बांध दिया है। असमानता के सिद्धान्त पर खड़ी चातुवर्णीय व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च हैं ब्राह्मण के नीचे किन्तु वैश्य और शूद्र के ऊपर क्षत्रिय का स्थान है। वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रिय के नीचे किन्तु शूद्र से ऊपर आता है। शूद्र सबसे नीचे है।

वर्ण व्यवस्था क्या न्यायपूर्ण है –

डा0 अम्बेडकर के अनुसार चार्तुवर्ण का सिद्धान्त प्रतिपादित करने में पुरूष–सूक्त ने दोहरी चाल चली है। प्रारम्भ में वह भारतीय आर्य समाज की वर्ण–व्यवस्था को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है। यह कपटपूर्ण चाल है क्योंकि यह आदर्श वास्तविकता से भिन्न नहीं है। वास्तविकता को आदर्श एवं आदर्श को वास्तविकता के आवरण में प्रस्तुत करना पुरूष–सूक्त की राजनैतिक कूटनीति है। इस प्रकार का छल, मेरा अपना विश्वास है, विश्व के किसी धर्म–ग्रन्थ में नहीं है। यह छल–कपट के सिवाय और क्या है। अन्याय और असमानता से युक्त वास्तविकता को आदर्श का रूप देना (एक वर्ग विशेष की) स्वार्थ सिद्धि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जब किसी व्यक्ति को किसी बात में लाभ दिखाई देता है, वह उसे आदर्श का रूप देने का प्रयत्न करता है। यह प्रवृत्ति अपराध–वृत्ति से कम नहीं है। इस प्रकार एक बार की निर्णीत असमानता सदा के लिये स्थायी हो जाती है। यह नैतिकता के विरूद्ध किया गया निर्णय है। किसी भी जाग्रत समाज ने इस प्रकार के किसी मत को न तो स्वीकार किया है और न मान्यता ही प्रदान की है। इसके विपरीत इतिहास साक्षी है कि आज तक व्यक्तियों और वर्गों के सम्बन्ध सुधार में जो प्रगति हुई है वह इस

भौतिक सत्य के आधार पर ही सम्भव हो सकी है– "अनुचित ढंग से निर्णीत मूल्यों का पुर्नमूल्यांकन कर उन्हें न्याय–संगत बनाया जाये।"

अतः इस दृष्टि से (पुरूष–सूक्त का) सिद्धान्त आशय की दृष्टि से अपराध–वृत्ति का और परिणाम के रूप में समाज विरोधी है। "पुरूष–सूक्त का प्रथम उद्देश्य वर्ण–विशेष को अनुचित ढंग से लाभ पहुंचाना और दूसरे को अन्याय पूर्ण एवं अनुचित रूप से दबाना रहा।"[1]

शूद्रों की स्थिति के सम्बन्ध में पुरूष–सूक्त ने बहुत ही अन्याय पूर्ण प्रावधान निर्धारित किये–पुरूष–सूक्त वर्णोत्पत्ति ईश्वरकृत बताता है। ऐसा सिद्धांत प्रतिपादित करना किसी भी धर्मग्रन्थ ने न्यायसंगत नहीं माना, यह (पुरूष–सूक्त का सिद्धान्त) विलक्षण है। भिन्न–भिन्न वर्गों की उत्पत्ति विधाता के भिन्न–भिन्न अंगों से होता तो और भी आश्चर्यजनक है शरीर के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का समीकरण संयोगमात्र नहीं है। यह जानबूझकर किया गया है। इस समीकरण के गर्भ में छिपा मूल उद्देश्य, ऐसा प्रतीत होता है, दो समस्याओं– (1) चारों वर्णों के कार्य (आजीविका के स्रोत) निश्चित करना तथा (2) पूर्वनिश्चित योजना के अन्तर्गत चारों वर्णो को श्रेणीबद्ध करने के लिये, एक सूत्र को खोज रहा है। विधाता के भिन्न–भिन्न वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धान्त को इस सूत्र से लाभ मिला हैं। शरीर का एक निश्चित भाग वर्ण की श्रेणी निश्चित करता हैं और श्रेणी उसका कार्य । ब्राह्मण की उत्पत्ति विधाता के मुख से बतायी गयी हैं। चूकिं मुख शरीर का एक सर्वोत्तम अंग है अतः ब्राह्मण चारों वर्णों में श्रेष्ठतम वर्ण है इसके आधार पर उसे योग्यता और ज्ञान (पठन–पाठन) का संरक्षण सौपा गया है। क्षत्रिय का जन्म विधाता की बांहों से हुआ कहा गया है। बाहें शरीर में मुख से नीचे आती है। अस्तु क्षत्रिय को बुद्धि के बाद काम युद्ध करना दिया गया हैं। वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रिय से जंघाओं से जन्मने के कारण नीचा है अस्तु उसे कृषि और व्यवसाय के काम में लगाया गया है। शूद्र की उत्पत्ति विधाता के पैरों से हुई है। यह शरीर का निम्नतम अंग है अतः शूद्र का स्थान चारों वर्णों में सबसे नीचे है और उसका काम दास–वृत्ति निश्चित किया गया है।[2]

---

1. डा0 अम्बेडकर, शूद्रों की खोज–पृष्ठ 20
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ 20–21

कुछ लोग कहा करते हैं कि चार्तुवर्ण व्यवस्था श्रम का विभाजन है। परन्तु यह बात निराधार है। वस्तुतः चार्तुवर्ण व्यवस्था का आधार भोगैश्वर्य की सुलभता, समाज पर प्रभुता और श्रेष्ठता, श्रम से बचना, आराम और लौकिक सुविधा का स्वार्थ है। यही कारण है कि इसे राष्ट्रीयता विघातक समझते हुये भी सवर्ण हिन्दू नेता इसका विध्वंस सहन नहीं कर पाते। धनी और निर्धन की विषमता मिटाकर सापेक्षिक समता लाने का राग अलापने वाला सोशलिस्ट हिन्दू भी वहां चार्तुवर्णी मर्यादा की रक्षा के लिये ऐड़ी–चोटी का जोर लगाता देखा जाता है। सवर्ण हिन्दू को मानों जन्म में ऊँचाई का पट्टा मिला हुआ है, जिसके भोग में वह ऐसा प्रसक्त है कि वह शूद्रों के अभाव–ग्रसित कष्टमय जीवन का अनुभव ही नहीं कर सकता। एक अहीर या चमार–मजदूर, ब्राह्मण–मजदूर के शाप से डर कर उसका पूजन करता एवं उसकी गाली, डींगे और बदतमीजी बरदाश्त करता है। ब्राह्मण और भंगी के बीच परम्परागत धार्मिक कुसंस्कारोंके कारण कल्पित उच्चता और पवित्रता की दीवार खड़ी है। खेद है, भारत में आज तक जितने सुधारक हुये, वे सब भी सवर्ण हिन्दुओं में ही पैदा हुये। यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था द्वारा होने वाली घोर हानि की वे अनुभूति नहीं कर सके।[1]

वर्ण व्यवस्था और जाति भेद वस्तुतः श्रम का नहीं, श्रमिकों का विभाजन है। यही कारण है कि यहां नीचे गिराई गई जाति का मनुष्य ऊपर वाली जाति का पेशा नहीं कर सकता। यहां भंगी हलवाई का काम नहीं कर सकता, परसूनी नहीं कर सकता, चाय और पान की दुकान नहीं र.ख सकता। पुरोहित नहीं बन सकता। ऐसा कोई सामाजिक कार्य नहीं , जिसमें भंगी से ब्राह्मण तक समान भाव से लग सकें। हिन्दुओं को एकता या एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधने वाली एक भी बात नहीं सब अपने को अलग–अलग अनुभव करते है। हिन्दू का जन्म से मरण–पर्यन्त, सारा जीवन अपने वर्ण और जाति की तंग चहारदीवारी के भीतर ही सीमित रहता है। एक जाति और एक वर्ण का मनुष्य दूसरी जाति और दूसरे वर्ण से घृणा और द्वेष रखता है।

पुरुष–सूक्त के अनुसार शूद्रों को चौथा वर्ण नहीं माना। डा0 अम्बेडकर ने शूद्रों की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसके तीन पक्ष है[2] –

---

1. भीमराव अम्बेडकर, जाति प्रथा का विनाश (लेख) उघृत–आज के प्रश्न–13–जाति का जहर, सम्पादक राजकिशोर, पृष्ठ – 14
2. डा0 अम्बेडकर, शूद्रों की खोज एवं डा0 अनिल गजभिये, डा0 एन0 जे0 बाधमारे, भारतरत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर विचार मंथन खण्ड–1।

1. शूद्र पूर्व में आर्य थे।

2. शूद्र क्षत्रिय वर्ण के थे।

3. शूद्र क्षत्रिय वर्ण में इतने प्रबल थे कि प्राचीन काल के प्रमुख और प्रबल आर्य जाति के राजाओं में अधिकांश राजा शूद्र थे।

1. महाभारत शान्तिपर्व के 60वां अध्याय श्लोक 38–40 में कहा गया कि "पैजवान यह शूद्र राजा था। पैजवान ने यज्ञ किया। ब्राम्हणों ने इसके यज्ञ में वेदोक्त मंत्रोच्चार किया और पैजवान से दक्षिणा प्राप्त की।" पैजवान का अन्य नाम सुदास था। वह दास या आर्य नहीं था। दास और आर्य दोनों उसके शत्रु थे। सुदास वैदिक आर्य था। सुदास राजा का राज्यभिषेक ब्राह्मण ऋषि वशिष्ठ ने किया था। ऋग्वेद के अनुसार (सातवां मंडल) सुदास दशराजन युद्ध का नायक था। उसने वैदिक ऋचा की रचना की थी। उसने अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किया था। उस समय पुरू, त्रित्सू और भारत ऐसी तीन टोलियां थी। इन में से सुदास भारत टोली का था। भारत शब्द के सन्दर्भ में डा0 अम्बेडकर का कथन है कि हिन्दुस्तान को भारत ये नाम महाभारत के दौष्यन्ती 'भारत' के कारण नहीं बल्कि वैदिक कालीन मनुपुत्र 'भारत' के कारण पड़ा। इसके लिये उन्होंनें भागवत पुराण का प्रमाण दिया है। इसमें कहा गया है 'स्वयंभू मनू को प्रियवंद नामक पुत्र था। प्रियवंद को अग्नीध्र, अग्नीध्र की नाभी, नाभी को ऋषभ नामक पुत्र था। ऋषभ को सौ पुत्र हुये, वे सब वेदाभ्यास में वज्ञ थे। उसमें 'भरत' यह सबसे बड़ा था। यह नारायण का परमभक्त था। उसी के नाम से इस सुन्दर भूमि को भरत भूमि यह नाम मिंला। इसी महान राजा के दैदित्यमान कुल में शूद्र सुदास का जन्म हुआ था । भारत आर्य था, इसलिये सुदास भी आर्य था, यह स्पष्ट है। शूद्र शब्द के बारे में डा0 अम्बेडकर का कथन है कि हिन्दुस्तानी मूलतः वन्य निवासियों को आर्यों के दास कहने के लिए शूद्र शब्द का प्रयोग होता है। शूद्र आर्य थे । शूद्र शब्द एक टोली का निर्देश करने वाला शब्द हैं इसमें शायद संशय है, किन्तु शूद्र आर्य और क्षत्रिय थे, ऐसा डा0 अम्बेडकर ने अपना दृढ़ मत व्यक्त किया।

वर्ण तीन है या चार :–

वर्णों की संख्या के बारे में डा0 अम्बेडकर का मत है कि एक जमाने में हिन्दू

आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ऐसे केवल तीन वर्ण थे । शूद्र क्षत्रिय थे उसका आधार वर्णों की संख्या तीन होना बताया है। ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द 15 बार, क्षत्रिय शब्द 9 बार है, शूद्र एक स्वतन्त्र वर्ण है, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है । शूद्र यदि अलग कोई वर्ण होता, तो ऋग्वेद में उसका उल्लेख अवश्य हुआ होता । शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राम्हण इन दो ग्रन्थों में भी 'शूद्र' चौथा वर्ण है। इसका कहीं उल्लेख नहीं है। अतः शूद्र क्षत्रिय वर्ण का ही एक हिस्सा था। पुरूष–सूक्त ऋग्वेद की एक ऋचा है जिसमें ब्राम्हणों ने बाद में अपने स्वार्थवश कुछ अंश सम्मिलित किये हैं विभिन्न वेदों में पुरूष सूक्त की संख्या विभिन्न है। जैसे सामवेद में पुरूष सूक्त के 5 श्लोक है, ऋग्वेद में 16 और वाजसनेयी–संहिता में 22 श्लोक है। केवल पुरूष सूक्त के आधार पर चार वर्ण थे, ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि ऋग्वेद में पुरूष सूक्त कुछ ही वर्षों में सम्मिलित किया गया है। इसलिये उन्होने वर्णों की संख्या के बार में अपना मत व्यक्त किया कि एक समय आर्य समाज में तीन वर्ण थे और शूद्र का समावेश क्षत्रिय वर्ण में होता था।

ब्राह्मण और शूद्र में संघर्ष :–

डा0 अम्बेडकर का सिद्धान्त है कि शूद्र क्षत्रिय थे, बाद में वे चौथा वर्ण बन गये। शूद्रों को चौथा वर्ण किसने और कैसे बनाया ? यह एक विचारणीय प्रश्न हैं । उसका डा0 अम्बेडकर ने उत्तर दिया कि प्राचीन समय में ब्राह्मण और शूद्रों में कठोर संघर्ष हुआ । फलस्वरूप शूद्रों की ऐसी अवनति हुई कि शूद्र राजा सुदास और ब्राह्मण ऋषि वशिष्ठ में घनघोर युद्ध हुआ था, इसका प्रमाण उपलब्ध है। कुछ पौराणिक कथायें हैं, जिससे सिद्ध है कि वशिष्ठ और विश्वामित्र में बैर था। ये बैर बाह्मण पुरोहित और क्षत्रिय पुरोहित के मध्य था। यही आगे चलकर निम्नलिखित मुद्दों पर परिवर्तित हुआ –

1. ब्राह्मण स्वयं के मतानुसार दान के बारे मे अपना अधिकार जताने लगे । दान स्वीकार करना ये केवल ब्राह्मणों का अधिकार था।
2. वेद पढ़ाना ब्राह्मणों का और वेदों का अभ्यास करना क्षत्रियों का काम था। क्षत्रियों को वेद पढ़ाने का अधिकार नहीं था।
3. यज्ञ में पुरोहित बनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था। इसका प्रमाण राजा त्रिशंकू की कथा है।

वशिष्ठ और विश्वामित्र में जो दुश्मनी थी, उसमें राजा सुदास का भी योगदान था । वशिष्ठ राजा सुदास का कुल पुरोहित था। सुदास का राज्याभिषेक वशिष्ठ ने सम्पन्न कराया था । दस राजाओं के युद्ध में वशिष्ठ ने सुदास को विजय हासिल करने के लिये मदद की थी। फिर सुदास ने विश्वामित्र को यज्ञ में पुरोहित बनाया। इससे दोनों ऋषियों में दुश्मनी बढ़ गई। सुदास ने वशिष्ठ पुत्र शक्ति को अग्नि में फेंक दिया था क्योंकि शक्ति ने विश्वामित्र को भाषण और चमत्कारों में पराजित किया गया था । वशिष्ठ ने भी सुदास को पराजित करने की प्रतिज्ञा की थी । इसका प्रमाण कौशितकी ब्राह्मण ग्रंथ तथा तैत्तिरीय संहिता में मिलता है। सुदास के अलावा पुरूरवस, नीमी और नहुष राजाओं ने भी ब्राम्हणों के साथ झगड़ा किया था । अर्थात ब्राह्मण और शूद्रों में संघर्ष हुआ था, ऐसा डा0 अम्बेडकर ने अपना मत व्यक्त किया है। ब्राह्मणों ने शूद्रों का उपनयन करना बन्द कर दिया । अर्थात् गायत्री मंत्र और वेदाध्ययन करने का शूद्रों का अधिकार समाप्त हो गया और 'शूद्र' को चौथे वर्ण में डाल दिया गया । वर्तमान काल में भारतीय न्यायालयों ने भी मराठे–क्षत्रिय है या शूद्र इसके बारे में विभिन्न निर्णय दिये । है डा0 अम्बेडकर ने कहा कि ब्राह्मणों ने उपनयन संस्कार रूपी शस्त्र से ही शूद्रों की शमशान भूमि कर डाली। शिवाजी महाराज ने अपना क्षत्रियत्व सिद्ध करने के लिये गंगाभट्ट पंडित को 70,000 होने दिये थे और अपना शूद्रत्व नष्ट किया था ऐसा इतिहासकारों का कथन है । डा0 अम्बेडकर ने यह सिद्ध किया है कि हिन्दू आर्य समाज में शूद्रों का द्वितीय वर्ण था अर्थात् वे क्षत्रिय थे किन्तु ब्राह्मणों ने उन्हें द्वितीय वर्ण से निष्कासित कर चौथे वर्ण में ढकेल दिया । इस कृत्य के लिये उन्होने शूद्रों के विरोध में निष्कासन तन्त्र के रूप मे उपनयन संस्कार न करने का प्रयोग किया । डा0 अम्बेडकर ने शूद्रों की उत्पत्ति और उनके पतन के कारणों को संक्षेप में इस प्रकार प्रतिपादित किया है –

1. शूद्र सूर्यवंशीय आर्य जातियों में एक कुल या वंश थे ।
2. भारतीय आर्य समाज में शूद्र का स्तर क्षत्रिय वर्ण का था।
3. एक समय आर्यो में केवल तीन वर्ण – ब्राम्हण क्षत्रिय और वैश्य ही थे। शूद्र अलग वर्ण न होकर क्षत्रिय वर्ण का ही अंग था ।

4. शूद्र राजाओं और ब्राह्मणों के मध्य निरन्तर संघर्ष हुआ जिसमें ब्राह्मणों को अत्याचार, उत्पीड़न और अपमान सहना पड़ा।

5. शूद्रों के अत्याचार उत्पीड़न से त्रस्त ब्राह्मणों ने द्वेष–वश उनका उपनयन बन्द कर दिया।

6. उपनयन (यज्ञोपवीत) के निरोध से शूद्रों का सामाजिक अपमान हुआ और वे अपने स्तर से च्युत हुये । उनका स्तर वैश्यों से भी निम्न हो गया। अन्तिम परिणति यह हुई कि वे समाज का चौथा वर्ण बन गये।[1]

जाति व्यवस्था : उत्पत्ति एवं स्वरूप :–

डा0 अम्बेंडकर ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा जाति–व्यवस्था की बुराईयों पर हमेशा प्रहार किया। उन्होंने 9 मई 1910 को कोलम्बिया विश्वविद्यालय में मानव वंश शास्त्र विभाग के अध्ययन मंडल के समझ एक शोध पत्र पढ़ा था। उस समय शोध पत्र का शीर्षक था 'कास्टस् इन इण्डिया देअर ओरिजन, एण्ड देअर मेकेनिज्म' । उन्होंने मि. सेनार्ट (फ्रेंचविद्वान) मि. नेसफील्ड, सर एच0 रिस्ले, डा0 केतकर के जाति व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया । फिर उन सभी व्याख्याओं का परीक्षण किया। डा0 केतलर के अनुसार, "As long as Caste in India does exist, Hindus will hardly intermarry or have any social Inter Course with outsiders and if Hindus migrate to other regions on earth, Indian Caste would become a world problem [2]

डा0 अम्बेडकर के मतानुसार डा0 केतलर ने भी अपने वर्णो में कुछ भ्रम उत्पन्न किया है। जाति के बाहर विवाह को मनाही और जाति में पैदा हुये लोगों की सदस्यता ये दो मुद्दे अलग नहीं है, वे एक ही सिक्के के दो पहलू है। जाति के बाहर विवाह को मना करने के उपरान्त सदस्यता जाति में जन्म लेने तक ही सीमित हो जाती है। जाति की इस विशेषता का परीक्षण करने के उपरान्त यह स्पष्ट है कि जाति के बाहर विवाह की मनाही यही जाति की सच्ची आत्मा है।[3]

---

1. डा0 अम्बेडकर – शूद्रों की खोज, पृष्ठ – 154
2. Dr. S. V. Ketkar, The History of caste in India, Page No. - 4
3. डा0 अनिल गजभिये, डा0 एन0 जे0 वाघमारे, – भारतरत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, खण्ड – 1, पृष्ठ –36

मि0 सेनार्ट का कहना है कि जाति, यह आनुवंशिकता के गठबंधन से बंधी हुई एक शाश्वत संस्था है। उसमें रूढ़ियों से चली आ रही एक स्वतन्त्र जाति पंचायत रहती हे। इस पंचायत का एक मुखिया होता है। पंचायत की बैठक किसी खास त्यौहार के दिन होती है। उसमें कुछ चुनिदां लोग सम्मिलित होते है। जाति किसी विशिष्ट धंधों से सम्बन्धित है। जाति में लोगों का व्यवहार रोटी–बेटी और सार्वजनिक उत्सवों से नियन्त्रित होता हैं । छूत की कुछ मर्यादायें हैं। परन्तु समाज के मुखिया को शासन करने का दण्ड देने का अधिकार है। जाति के बाहर करने का भी अधिकार है।[1]

डा0 अम्बेडकर ने डा0 सेनार्ट के मत का खण्डन करते हुये कहा कि,''जाति की सरंचना में 'छूत की संकल्पना' यह कोई खास विशेषता नहीं है। यह कल्पना ब्राह्मणी कर्मकांड से पैदा हुई है और शुद्धि–अशुद्धि की कल्पना का वह एक विशिष्ट रूप है। इसलिये किसी भी जाति की कार्य पद्धति में परिवर्तन न करते हुये छूत की कल्पना को निकाला जा सकता है। छूत की कल्पना केवल ब्राह्मण जाति में है अतः उन्हें सर्वोच्च स्थान का उपभोग करने का मौका मिलता है। अतः सम्पूर्ण जाति–व्यवस्था में छूत की कल्पना जोड़ दी गई है। क्योंकि उपाध्याय पद और शुद्ध–अशुद्ध कल्पना हाथ में हाथ लिये चलती है। अतः जब तक जाति–धर्म का आधार है तब तक छूत की कल्पना यह जाति की विशेषता हो सकती है। इस तरह से डा0 अम्बेडकर ने सेनार्ट के कथन का खण्डन किया है।

मि0 नेसफिल्ड के अनुसार, ''जाति, यह एक ऐसा लोक समूह है कि इसका अन्य लोक समूह से शादी–ब्याह, खान–पान के बारे में कोई परस्पर सम्बन्ध नही होता। इस समूह के व्यक्ति केवल अन्तर्गत गुट के व्यक्तियों से ही उपर्युक्त मर्यादा में सम्बन्ध में रखते है।''[2]

डा0 अम्बेडकर ने नेसफिल्ड के मत का खण्डन करते हुये कहा कि नेसफिल्ड ने कार्य और कारण में गफलत की है। जाति यह एक स्वयं मर्यादित संस्था है, और स्वभावतः उसके सदस्यों पर भोजनादि सामाजिक व्यवहार जाति–अन्तर्गत करने पड़ते है। इसका अर्थ यह हुआ कि जाति के बाहर भोजन की मनाही यह जानबूझकर लादी नही गई,

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 34
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 35

बल्कि वह जाति के स्वभाव धर्म का ही एक परिणाम है। इस फूट से जाति बाह्य–भोजनबन्दी निर्मित हुई। इसे धार्मिक आज्ञा का रूप प्राप्त हुआ।

सर एच0 रिस्ले के मतानुसार, ''जाति कुछ परिवार एवं परिवार समूह के इकट्ठा होने से बनती है। इसका कोई स्वतन्त्र नाम नही होता है। जाति किसी विशिष्ट धंधों से सम्बन्धित रहती है। किसी पुराण में वर्णित पुरूषों या देव देवता से इन जाति का उद्गम हुआ ऐसा लोगों का कहना है। परम्परागत उद्योग करने के लिये उसी जाति के लोगों की मान्यता रहती है। अन्य जाति के प्रमुखों की भी एक संघ जाति होती है। इसे भी वे मानते है।''[1] डा0 अम्बेडकर ने कहा कि रिस्ले ने कोई नया मुद्दा नहीं बताया

डा0 अम्बेडकर ने वर्ण और जाति के भेद को माना किन्तु जहाँ तक जाति प्रथा की उत्पत्ति का सवाल है। उन्होंने उसका मूलाधार वर्णव्यवस्था में ही पाया। वर्ण व्यवस्था की बहुत सी विशेषताये जाति–प्रथा में पायी जाती है। वर्ण और जाति के परस्पर सम्बन्ध में डा0 अम्बेडकर ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुये यह विश्लेषण दिया –

''यह उचित ही रहेगा कि शुरू में मैं यह बात याद दिलाऊ कि अन्य समाजों के समान भारतीय समाज भी चार वर्णों में विभाजित था, ये हैं – 1. ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग, 2. क्षत्रिय या सैनिक 3. वैश्य अथवा व्यापारिक वर्ग और 4. शूद्र अथवा शिल्पकार और श्रमिक वर्ग। इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि आरम्भ में यह अनिवार्य रूप से वर्ण विभाजन के अन्तर्गत व्यक्ति दक्षता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था और इसलिये वर्णों को व्यक्तियों के कार्य की परिवर्तनशीलता स्वीकार्य थी। हिन्दू इतिहास में किसी समय पुरोहित वर्ण ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया और इस तरह स्वयं सीमित प्रथा से जातियों का सूत्रपात हुआ। दूसरे वर्ग भी समाज विभाजन के सिद्धान्तानुसार अलग–अलग खेमों में बट गये। कुछ का संध्याबल अधिक था तथा कुछ का नगण्य। वैश्य और शूद्र वर्ग मौलिक रूप से वे तत्व है, जिनकी जातियों की अनगिनत शाखा, प्रशाखाये कालान्तर में ऊपरी है। क्योंकि सैनिक व्यवसाय के लोग असख्य समुदायों में सरलता से विभाजित नही हो सकते, इसलिये यह वर्ग सैनिकों और शासकों के लिये सुरक्षित हो गया।[2]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ– 35
2. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 23

डा0 अम्बेडकर ने आगे कहा कि, ''समाज का यह उप–वर्गीकरण स्वाभाविक है। किन्तु उपरोक्त विभाजन में अप्राकृतिक तत्व यह है कि इससे वर्णो परिवर्तनशीलता के मार्ग अवरूद्ध हो गये और वे संकुचित बनते चले गये, जिन्होने जातियों का रूप ले लिया। प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्हें अपने दायरे में रहने के लिये विवश किया गया और उन्होने सजातीय विवाह का नियम अपना लिया था उन्होने स्वेच्छा से ऐसा किया। मेरा कहना है कि इसका द्विपक्षीय उत्तर है–कुछ ने द्वार बन्द कर लिये और कुछ ने दूसरे के द्वार अपने लिये बन्द पाये। पहला पक्ष मनोवैज्ञानिक है और दूसरा चलाकी भरा, परन्तु ये दोनो अन्योन्याश्रित है और जाति सरंचना की सम्पूर्ण रीति–नीति में दोनों की व्याख्या जरूरी है।[1]

डा0 अम्बेडकर ने मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुये बताया कि ये उप विभाग या इच्छानुसार औद्योगिक, धार्मिक या और अन्य वर्ग................................ये सब वर्ग स्वयं मर्यादित या अन्तर्गत विवाह करने वाले वर्ग क्यों बने। डा0 अम्बेडकर ने कहा कि ब्राह्मणों के करने के कारण ऐसा हुआ। सजातीय विवाह या आत्म केन्द्रित रहना ही हिन्दू समाज का चलन था और क्योंकि उसकी शुरूआत ब्राम्हणों ने की थी, इसलिये गैर ब्राम्हण वर्गों अथवा जातियों ने भी बढ़ बढ़कर इसकी नकल की ओर वे सजातीय विवाह प्रथा को अपनाने लगे। यहाँ खरबूजे को दखकर खरबूजे की रंग बदलने वाली कहावत चरितार्थ होती हैं इसने सभी उप विभाजनों को प्रभावित किया। इस तरह जाति प्रथा का मार्ग प्रशस्त हुआ।[2]

नकल की प्रवृत्ति हर मनुष्य में मन में सुखरूप से वास करती है। इसका कारण हमारे मन में श्रद्धा है हमारे मन में कुछ अनुकूल एवं प्रतिकूल पूर्व ग्रह पहले से मौजूद विद्यमान होते है। 'गॅब्रेल ट्रेड' इस लेखक का मत डा0 अम्बेडकर ने उद्घृत कर बताया कि गॅब्रेल ट्रेड ने दो नियम बताये हैं वे हैं –

(क). अनुकरण प्रवाह श्रेष्ठ लोगों से कनिष्ठ लोगों का ओर बहता है। अवसर मिलने पर उमराव लोग उनके नेताओं, राजाओं और शासन कर्ताओं का कभी जगह अनुकरण करते है, तथा सामान्य लोग उमराव लोगों का अनुकरण करते हैं।

(ख). अति निकट संबधियों की सबसे अच्छी चीज का ज्यादा से ज्यादा अनुकरण होता है।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 23
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 24

डा0 अम्बेडकर के अनुसार कुछ जातियों की संरचना नकल से हुयी है। उन्होंने कहा कि यह देखना जरूरी है कि हिन्दू समाज में नकल करके जातियाँ बनाने की परिस्थितियाँ है कि नहीं। इस नियम के अनुसार नकल करने की गुजांइश इस प्रकार है –

1. जिस स्रोत से नकल की गई है, उसकी समुदाय में प्रतिष्ठा होनी चाहिये और
2. समुदाय के सदस्यों के प्रति–दिन और अनेक बार सम्पर्क होने चाहिये [1]

निःसंदेह यह परिस्थिति भारत में थी ऐसा बताकर डा0 अम्बेडकर ने विश्लेषण किया है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण आधा देव नहीं बल्कि भूदेव था। वह कोई एक प्रथा शुरू करता है और अन्यों को भी वैसे ही बनाता है। उसका अधिकार निःशंक है। यह आशीर्वाद और कल्याण का स्रोत है और इस तरह धर्म ग्रथों ने जिसे पवित्र बना दिया और पुरोहित प्रेमियों ने जिसे पूज्य बना दिया है। वह देवधारी मनुष्य अपने व्यक्तिगत गुणों से, शरण आये हुये मानव पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। ऐसा प्राणी केवल अनुकरणीय ही नहीं बल्कि और ज्यादा योग्यताधारी हो जाता है। वह अनुकरणीय तो होता ही है।

यान्त्रिक अवधारणा :–

डा0 अम्बेडकर ने इस पर यांत्रिक भाष्य प्रस्तुत करते हुये कहा कि जिन वर्गों के लिये अन्यों ने प्रवेश के दरवाजे बन्द कर दिये, उनके प्रवेश के दरवाजे अपने आप बन्द हो गये थे । इसे ही जाति के उगम की यान्त्रिक प्रक्रिया कहते हैं।

डा0 अम्बेडकर ने स्पष्ट रूप से कहा कि जाति एक वचन नहीं बहुवचन है। अकेली जाति ऐसी कोई वस्तु नहीं है। ब्राह्मण वर्ग स्वयं को जाति का रूप वे रहे थे, और उनमें ही एक जाति का उद्‌भव हुआ। स्वयं को एक मर्यादा में बन्द करते समय ब्राह्मणों ने शेष लोगों को अपनी मर्यादा के बाहर बन्द कर दिया।

डा0 अम्बेडकर ने कहा कि हिन्दु, मुस्लिम, ज्यू, ईसाई पारसी आदि विभिन्न धर्मो का एक गुट मिल कर 'भारत' बना है। यदि हिन्दुओं के लिये कोई रूकावटें डाल दे, तो शेष जाति विहीन लोग रह जाते हैं। सभी लोग अपने–अपने वर्ग के दरवाजे बन्द किये बैठे हैं। जाति के नियम बड़े कठोर हैं। जाति में रहकर कोई नियम भंग कर सकता है। यदि

1. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 25

करेगा तो वह जाति के बाहर हो जायेगा और बाहर गये लोगों की एक नई जाति पैदा हो जायेगी। इसी तरह से बहिष्कृत लोगों की नई जाति पैदा हो गई।

यान्त्रिक प्रक्रिया में नये–नये वर्ग जाति संस्था को आह्वान देते है और अन्य जाति का निर्माण होता है –

डा० अम्बेडकर के इन विचारों को संक्षेप में इस तरह से प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. जाति के बारे में अनेक शोधकर्ताओं के मन में भ्रम है अतः अनेकों ने भूलें की है।
2. पाश्चात्य विद्वानों ने जाति–व्यवस्था में वर्ण (रंग) को व्यर्थ ही महत्व दिया है।
3. वर्ण के बारे में उनके मन में पहले से ही वर्ण द्वेष की कल्पना है। अतः जाति–व्यवस्था का वही मार्ग खोजा गया है।
4. जाति श्रद्धा पर आधारित है।
5. हिन्दू समाज रचना संयुक्त है किन्तु उसमें सांस्कृतिक एकता नहीं है।
6. जाति एक बड़े सांस्कृतिक एकता के समाज का आंशिक टुकड़ा है।
7. जाति का प्रारम्भ करने वाली भी प्रथम एक जाति है।
8. अनुकरण और बहिष्कार के माध्यम से वर्ग का रूपान्तरण जाति में हुआ है। अन्त में डा० अम्बेडकर ने स्पष्ट रूप से कहा कि – 'जाति का सिद्धान्त प्रतिपादित करने की मेरी जैसी आंकाक्षा है, यदि किसी ने यह सिद्ध कर दिया कि इसका समर्थन असम्भव है, या किसी बुद्धिवादी दृष्टिकोण से मेरा किसी से इस सम्बन्ध में मतभेद हो जाये तो मैं मेरे का त्याग कर सकता हूँ।'(1)

डा० अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था के बुनियादी नियम :–

उनके अनुसार जाति के चार बुनियादी नियंम हैं अर्थात इस प्रकार कहा जा सकता है कि वह एक सेवा समाज समूह हैं जिसकी हिन्दू धर्म में आस्था हो।

1. विवाह के सम्बन्ध में यह नियम है कि विवाह केवल अन्तर्जातीय होना चाहिये। विभिन्न जातियों के बीच विवाह नहीं हो सकते। यह वह सबसे बड़ा तथा सर्वाधिक बुनियादी आधार

---

1. डा० अनिल गजभिये, डा० एन० जे० वाघमारे – भारत रत्न डा० बाबा साहब अम्बेडकर, विचार मंथन, खण्ड –1, पृष्ठ – 44 – 47

है, जिस पर जाति का समूचा ताना–बाना और ढांचा टिका हुआ है।

2. खान–पान के सम्बन्ध में नियम है कि कोई व्यक्ति जाति से बाहर के किसी व्यक्ति से न तो भोजन ले सकता है और न ही उसके साथ बैठकर भोजन कर सकता है इसका अर्थ है कि जो लोग आपस में शादी कर सकते हैं, केवल वे ही साथ बैठकर भोजन भी कर सकते है। जो आपस में शादी नहीं कर सकते, वे एक–दूसरे के साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते । दूसरे शब्दों में, जाति एक अंतर्जातीय इकाई भी है और एक सांप्रदायिक इकाई भी।

3. व्यवसाय के सम्बन्ध में नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति का परम्परागत व्यवसाय ही करेगा और यदि जाति का कोई व्यवसाय नहीं है तो उसे अपने पिता का व्यवसाय करना होगा।

जहां तक किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का सम्बन्ध है, वह निश्चित और वंशानुगत होती है। वह स्थायी होती है, क्योंकि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण उसकी जाति की सामाजिक स्थिति के अनुसार होता है। वह वंशानुगत है, क्योंकि हिन्दू पर उसके माता पिता की जाति का ठप्पा लगा होता है । हिन्दू अपनी सामाजिक स्थिति नहीं बदल सकता, क्योंकि वह अपनी जाति नहीं बदल सकता । हिन्दू जन्म से हिन्दू होता है, और मरने पर भी वह उसी जाति का रहता है, जिसमें उसका जन्म हुआ था । अगर कोई हिन्दू अपनी जाति से च्युत हो जाता है, तो वह अपनी सामाजिक स्थिति से भी च्युत हो जाता है। वह नई या कोई बेहतर अथवा भिन्न सामाजिक स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता ।

जाति के सम्बन्ध में एक समान नाम का क्या महत्व है ? इसका महत्व स्पष्ट हो जायेगा, यदि हम दो प्रश्न करें। वे अति संगत भी है और जाति नामक इस संस्था का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये उनका सही उत्तर जरूरी है। समाज में वर्ग या तो संगठित होते है या फिर असंगठित होते है। जब वर्ग की सदस्यता और वर्ग में शामिल होने या उनसे अलग होने की प्रक्रिया निश्चित सामाजिक नियम बन जाती है और वर्ग के अन्य सदस्यों के सन्दर्भ में उनमें कतिपय कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का समावेश हो जाता है तो वर्ग एक संगठित वर्ग बन जाता है। प्रत्येक वर्ग एक स्वैच्छिक वर्ग होता है और उसमें सब सदस्य शामिल होते हैं तो उन्हे इस बात का पूरा–पूरा ज्ञान होता है कि वे क्या कर रहे हैं

और संगठन के लक्ष्य क्या है दूसरी ओर ऐसे वर्ग होते हैं, जिसमें कोई व्यक्ति शामिल तो हो जाता है, पर अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग नहीं करता और ऐसे सामाजिक विनियमों तथा परम्पराओं का दास हो जाता है, जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता।[1]

जाति व्यवस्था का न्याय की कसौटी पर मूल्यांकन :–

डा0 अम्बेडकर के अनुसार न्याय का दूसरा सरल नाम स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व है और हिन्दू धर्म को परखने के लिये मैं न्याय का इसी अर्थ में एक कसौटी के रूप में प्रयोग करूंगा।[2] क्या हिन्दू धर्म न्याय के प्रमुख तत्व समानता को स्वीकार करता हैं ? नही ! क्योंकि जाति व्यवस्था असमानता का सबसे बड़ा उदाहरण है।

जाति व्यवस्था की एक विचित्र विशेषता यह है कि विभिन्न जातियां एक समान स्तर पर नहीं खडी हैं। यह वह व्यवस्था है जिसमें विभिन्न जातियों का स्थान एक दूसरे के ऊपर ऊर्धावाकर क्रम में निश्चित किया गया है । .... मनु की इस योजना में ब्राह्मण का स्थान प्रथम श्रेणी पर है। उसके नीचे है क्षत्रिय, क्षत्रिय के नीचे है वैश्य, वैश्य के नीचे है शूद्र और शूद्र के नीचे हैं अतिशूद्र। क्रमिक श्रेणी की यह व्यवस्था असमानता के सिद्धान्त का लागू करने का एक दूसरा सीधा तरीका है, ताकि सही रूप में यह कहा जा सके कि हिन्दू धर्म समानता के सिद्धान्त को मान्यता नहीं देता । सामाजिक प्रतिष्ठा की यह असमानता राजदरबार के समारोह में चलने वाले दरबार के अधिकारियों की श्रेणी में दिखाई देने वाली असमानता के समान नहीं है।- समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा हर समय, हर स्थान पर तथा सभी कार्यों में पालन की जाने वाली सामाजिक सम्बन्धों की यह स्थायी व्यवस्था है।[3]

डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू समाज की आलोचना करते हुये यह भी कहा है कि "हिन्दुओं की जीवन पद्धति बन्धुभाव पैदा नहीं करती। जैसे सिख और मुसलमान अपने जाति बांधवों को भाई–भाई मानता हैं, वैसे एक हिन्दू दूसरे हिन्दू को भाई कभी नहीं मानता।" संगठन के बिना हिन्दू समाज दुर्बल और लाचार है। हिन्दू अपने आपको सहनशील

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड –10, पृष्ठ – 55–56
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड –6, पृष्ठ – 43
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 43–44

मानते है जो उनकी सबसे बड़ी भूल है । हिन्दुओं में जाति व्यवस्था के कारण ही उदासीनता की भावना पैदा हुयी है। हिन्दू समाज में जाति के विपरीत बर्ताव करने वालों को जातिबाह्य कर दिया जाता है । बहिष्कार से बहिष्कृत व्यक्ति का सामाजिक सहजीवन नष्ट होता है, फलस्वरूप बहिष्कार से मृत्यु अच्छी है ऐसा वह सोचता है। ऐसी परिस्थिति होने से हिन्दू व्यक्ति जाति का बन्धन तोड़कर स्वतन्त्रता का उद्घोष नहीं कर सकता। जाति यह एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा किसी भी सुधार को समाप्त किया जाता है –

1. जाति का हिन्दुओं के नैतिक आचरण पर दुष्परिणाम हुआ है। 2. जाति के कारण सामाजिक चेतना मृतप्राय हो चुकी है। 3. जाति के कारण दान धर्म की वृत्ति समाप्त हो चुकी है। 4. जाति प्रथा से लोक मत भी व्यक्त नही होता है हिन्दुओं में हिन्दू लोग माने प्रत्येक जाति .... केवल अपने जाति के प्रति उत्तरदायी है। 5. वह केवल अपने ही जाति के प्रति ईमानदार है।[1]

डा0 अम्बेडकर ने जाति को एक विनाशकारी तन्त्र माना जिससे व्यक्ति समाज तथा देश सबका नाश हुआ है। जाति से हर स्तर के व्यक्ति को नुकसान हुआ है इस स्थिति को स्पष्ट करते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा है – These casts are anti-national in the first place because they bring about seperation in social life. They are anti-national also becasuse they generate of jelousy and antipathy between caste and caste.[2]

अस्पृश्यता उत्पत्ति एवं स्वरूप :–

जाति–प्रथा के अन्तर्गत चार प्रमुख वर्ण या जातियां – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र है। इन चारों के अतिरिक्त एक 'पंचम वर्ण' भी है जिसके सदस्यों को परम्परागत रूप में अस्पृश्य या अछूत जाति कहा जाता था, पर आज उन्हें 'हरिजन' या 'अनूसूचित जाति' कहते है। 1991 की जनगणना के अनुसार इसकी कुल संख्या 10,18,63,040 अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या का 12 प्रतिशत लोग अनुसूचित जातियों के है। इन तथाकथित अछूत जातियों के प्रति उच्च जातियों के सदस्यों द्वारा अपनाये गये छुआछूत की भावना व भेदभाव

1. डा0 अनिल गजभिये, डा0 एन0 जे0 वाघमारे – भारत रत्न, डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर, विचार मंथन, खण्ड –1, पृष्ठ –40
2. Speech in constituent assembly on 25-11-1949

पूर्ण व्यवहार को ही अस्पृश्यता कहा जाता हैं ।

अस्पृश्यता उस परम्परागत मनोभाव तथा व्यवहार–प्रतिमान का द्योतक हैं जिसके अनुसार पंचम वर्ण के सदस्य अछूत या न छूने योग्य हैं और इसलिये उनसे एक समाजिक दूरी बनाये रखना न केवल उच्च जातियों का कार्य है अपितु अस्पृश्य जातियों का भी कर्तव्य है कि वे उच्च जाति के सदस्यों से दूर रहें और उन्हें न छुऐं। 'अस्पृश्यता' नाम से ही स्पष्ट है कि यह छुआ–छूत की भावना भेदभाव पर आधारित है यह भेदभाव लोगों के व्यवहारें में प्रकट होता है । यह माना जाता था कि पंचम वर्ण के लोग निकृष्ट व अपवित्र होते है। अतः उन्हें छूना मना था और छू जाने पर नहाना अनिवार्य था साथ ही, चूकि वे अछूत थे इसलिये उनके साथ उठना –बैठना, खाना–पीना या सामाजिक सम्बन्ध रखने का प्रश्न ही नहीं उठता था और न ही उन्हें मन्दिर में प्रवेश तक का अधिकार दिया जाता था क्योंकि अछूत अपवित्र होने के कारण मन्दिर जैसे पवित्र स्थान में प्रवेश पाने का अधिकारी हो ही नहीं सकते। जहां उच्च जाति के लोग रहते थे वहां वे रह नहीं सकते थे, जैसी पोशाक उच्च जाति के सदस्य पहनते थे वैसी पोशाक उनके लिए वर्जित थी, जिस तालाब, कुआँ या नदी को उच्च जाति के लोग व्यवहार करते थे उन्हें अछूत लोग छू भी नही सकते थे, इत्यादि। तथाकथित अछूत जातियों के प्रति समस्त मनोभाव तथा व्यवहार प्रतिमान को ही अस्पृश्यता कहा जाता है।[1]

शूद्र पूर्व में कौन थे ? इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध डा0 अम्बेडकर ने 1948 में (The untouchables who were they and why they became untouchables) प्रकाशित किया था जो कि 'अस्पृश्य कौन थे, और वे कैसे अस्पृश्य बने' के नाम से जाना जाता हैं । इस ग्रन्थ की भूमिका में डा0 अम्बेडकर ने लिखा है कि शूद्रों के अतिरिक्त हिन्दू सभ्यता ने तीन और सामाजिक वर्गों को जन्म दिया है, जिनकी ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिये, उतना नहीं दिया गया। वे तीन सामाजिक वर्ग है –

1. जरायाम–पेशा जातियां, जिनकी जनसंख्या लगभग दो करोड़ है ;
2. आदिवासी जातियां, जिनकी जनसंख्या लगभग डेढ़ करोड़ है ;

---

1. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, भारतीय समाज व संस्कृति, पृष्ठ – 330

3. अछूत जातियां, जिनकी जन संख्या लगभग पांच करोड़ है ;

नोट : सम्पादक के अनुसार अब यह साढ़े आठ करोड़ संख्या से बढ़कर 12 करोड़ हो गई है।

इन वर्गो का अस्तित्व एक जुगुप्सा का विषय है। यदि हिन्दू सभ्यता को इन वर्गों के जनक के रूप में देखा जाये, तो वह सभ्यता ही नहीं कहला सकती। यह तो मानवता को दबाये तथा गुलाम बनाये रखने के लिए शैतान का षंडयन्त्र है इसका ठीक नामकरण 'शैतानियत' होना चाहिये। उस सभ्यता को हम और क्या नाम दें, जिसने ऐसे लोगों की एक बड़ी संख्या को जन्म दिया हो जिन्हे यह शिक्षा दी जाती है कि चोरी–चकारी करके जीविका चलाना जीवकोपार्जन का मान्य 'स्वधर्म' है। दूसरी बड़ी संख्या सभ्यता के बीचों–बीच अपनी आरम्भिक बर्बर अवस्था बनाये रखने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दी गई है, और एक तीसरी बड़ी संख्या है जिसे सामाजिक व्यवहार से परे की चीज समझा पाया है। और जिसके स्पर्श–मात्र से आदमी (अपवित्र) हो जाता है।[1]

कहा जाता है वेदकालीन समाज में किसी भी वर्ण के लिये 'अस्पृश्य का व्यवहार नहीं था वैसे उपनिषदकाल में चाण्डाल आदि का उल्लेख है, जिन्हें कालान्तर में अस्पृश्य माना जाने लगा। अस्पृश्यता एक मानसिक धारणा है जो स्मृतिकाल से अधिक प्रचलित हो गई वस्तुतः अस्पृश्यता की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं किन्तु स्मृतिकाल में अत्यंत निकृष्ट काम करने वालों को अस्पृश्य कहा गया जिनको देखना, छूना तथा उनका साया भी सवर्ण लोगों को अपवित्र कर देता था। अस्पृश्यों का एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया कि अन्य लोगों ने इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखा, उन्हें स्पर्श करने के अयोग्य माना गया ।

निस्संदेह अस्पृश्यता हमारी समाज व्यवस्था की एक निकृष्ट बुराई है। इसकी उत्पत्ति के बारे में डा0 अम्बेडकर ने अपने ग्रन्थ 'अछूत कौन और कैसे ?' में इन तथ्यों की खोज की – 1. हिन्दू एवं अछूतों में कोई नस्ल–भेद नहीं है। 2. अस्पृश्यता से पहले उनके बीच केवल सामुदायिक एवं बिखरेपन की भिन्नता थी। केवल बिखरे लोग ही अस्पृश्य बनें; 3. जिस प्रकार अस्पृश्यता का कोई नसली आधार नहीं है, उसी प्रकार कोई व्यावसायिक (पेशागत) आधार भी नहीं है ; और 4. केवल दो तथ्यों के कारण अस्पृश्यता

1. डा0 अम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे ? पृष्ठ – 5

का प्रादुर्भाव हुआ – क. ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों के रूप में बिखरे लोगों के प्रति घृणा की भावना और ख. गोमांस का बिखरे लोगों द्वारा उपभोग करते रहना ।[1]

हिन्दुओं में अस्पृश्यता का उद्‌गम एवं उनके निवास का प्रश्न :–

मनु ने जन्म, मृत्यु और मासिक धर्म इन्हें अपवित्रता का जनक माना हैं सूतक को कठोरता से पालन होता था। मनु के अनुसार ब्राह्मण सदैव पवित्र है लेकिन ब्राह्मण को भी शुद्धता के नियमों का पालन करना अनिवार्य था। शुद्धिकरण की अलग–अलग विधियाँ बताई गई थी। आचमन, स्नान और गोमूत्र के छिड़काव के प्रयोग करने की आज्ञा दी गई थी ।

आरम्भिक समाज जिस अपवित्रता को मानता था, वह थोड़े समय रहती थी और खाने–पीने आदि प्राकृतिक कृत्यों के अथवा जीवन में जन्म, मृत्यु, मासिक धर्म आदि के जो असाधारण अवसर होते है, उन्हीं पर पैदा होती थी । अपवित्रता का समय बीत जाने पर और पवित्र बना देने वाला संस्कार हो चुकने पर आदमी का अपवित्रता नष्ट हो चुकने पर आदमी की अपवित्रता नष्ट हो जाती थी और वह फिर पवित्र तथा समाज में मिलने जुलने योग्य हो जाता था ।

वर्तमान में इसमें 429 (चार सौ उन्तीस) अस्पृश्य जातियां सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत देश में आज 5–6 करोड़ आदमी ऐसे है जिनके स्पर्श – मात्र से हिन्दू 'अपवित्र' हो जाते है। छः करोड़ आदमियों का अछूतपन जन्म मृत्यु आदि के अछूपन में सर्वथा भिन्न हैं। यह अस्थायी है जो हिन्दू उनका स्पर्श करते है, वे स्नानादि के द्वारा पवित्र हो जा सकते है, किन्तु ऐसी कोई चीज नहीं जो अछूत को पवित्र बना सके । वे अपवित्र बने रहते हैं। वे अपवित्र ही बने रहकर मर भी जाते हैं; और वे जिन बच्चों को जन्म देते है; वे बच्चे भी अपवित्रता का टीका माथे पर लगाये जन्म ग्रहण करते है। यह एक स्थायी वंशानुगत कलंक है, जो किसी तरह धुल नहीं सकता।

हिन्दुओं का अछूतपन एक अनहोनी घटना है। संसार के किसी दूसरे हिस्से में मानवता ने आज तक कभी इसका अनुभव नहीं किया। किसी दूसरे समाज में इस जैसी

---

1. डा0 बी0 आर0 अम्बेडकर : द अनटचेबिल्स (अमृत बुक कम्पनी, नई दिल्ली, 1948), अध्याय – 15, 16

कोई चीज नहीं है न आरम्भिक समाज में न प्राचीन समाज में और न वर्तमान समाज में अछूतपन के अध्ययन से जो अनेक समस्यायें पैदा होती है और जिसके हल करने की आवश्यकता है, उनका समावेश इन दो प्रश्नों में हो जाता है :–

1. अछूत गांव से बाहर क्यों रहते हैं ?
2. उनकी अपवित्रता स्थायी और अमिट कैसे बन गई ?[1]

डा० अम्बेडकर ने कहा कि अछूतों के गांव के बाहर रहने के प्रश्न पर पहले कभी किसी ने विचार ही नहीं किया । इसलिये स्वभावतः इस बारे में किसी का कुछ भी सिद्धान्त नही है हालांकि हिन्दू शास्त्रों की एक दृष्टि अवश्य है। यदि कोई उसे ही सिद्धान्त का दर्जा देना चाहे, तो भले ही दे ले। शास्त्र कहते है कि 'अन्त्यजों' को गांव के बाहर रहना चाहिये, उनकी बस्ती गांव के बाहर होनी चाहिये। मनु का कथन है – ''चाण्डालों और श्वपाकों का निवास गांव के बाहर होगा । उन्हें अपपात्र बना देना होगा। उसकी सम्पत्ति कुत्ते और गधे होगें।'' (10,15) ''उन्हें मुर्दों की उतारन पहनने होगें, फूटे बर्तनों में भोजन करना होगा, उनके गहने काले लोहे के होगें और उन्हे सदैव जगह–जगह घूमते रहना होगा।'' (10,52) अब जिस बात पर विचार किया जा सकता है वह यही है कि –
1. जो लोग अछूत कहलाते है वे 'अछूत' कहलाना आरम्भ होने से पहले एकदम शुरू से ही गांव के बाहर रहते थे और बाद में अछूत बना दिये जाने के कारण उन्होने बाहर ही रहना जारी रक्खा। लेकिन इससे एक बहुत ही कठिन प्रश्न पैदा होता है। वे गांव के बाहर क्यों रहते थे ? 2. उन्हें ऐसा करने के लिए किसने मजबूर किया ? इसका उत्तर यही है कि समाज शास्त्र के विद्यार्थी को संसार भर में आरम्भिक समाज के वर्तमान रूप धारण कर लेने के सम्बन्ध मे जिन बातों की जानकारी है, उनका ख्याल करके यह मानना स्वाभाविक लगता है कि 'अछूत आरम्भ से ही गांव के बाहर रहते आये हैं।[2]

प्रारम्भिक समाज 'घुमन्तु समाज' था किन्तु वह घुमन्तू, घुम्मकड़पन के स्वभाव विशेष के कारण नहीं था। इसका कारण यही था कि प्रारम्भिक समाज का धन पशु थे, और पशु घुमन्तू थे। पशु नई चारागाहों की खोज में घूमते थे । प्रारम्भिक समाज अपने पशुप्रेम

---

1. डा० अम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे ? पृष्ठ – 39–41
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 42–45

के कारण जहां–जहां उसके पशु उसे ले जाते, वहां वहां उनके पीछे–पीछे जाता था। प्रारम्भिक समाज का निवास जब स्थिर हो गया अर्थात जब वह एक जगह बस गया, तो उसे एक नये प्रकार के धन का पता लगा । यह नये प्रकार का धन 'भूमि' थी। यह उस समय हुआ जब प्रारम्भिक समाज ने खेती करने और खेत जोतने की कला सीख ली, और जब उसका धन पशुओं से 'भूमि' में परिवर्तित हो गया तो वह एक जगह स्थिर हो गया। इस परिवर्तन के साथ–साथ प्रारम्भिक समाज भी स्थिर होकर एक जगह बस गया।[1]

घुमन्तू समाज जब स्थायी हो रहा था, तब दो समस्याओं का सामना करना पड़ा प्रथम समस्या स्थायी जातियों के समक्ष तथा दूसरी पराजित हुये अन्यत्र बिखरे हुये लोगों के सामने थी। स्थायी जातियों को घुमन्तूओं को अपने निवास एवं स्वसुरक्षा की समस्या थी इस घुमन्तू समाज ने एक ही समय स्थायी जीवन स्वीकार नहीं किया था । कुछ स्थायी हो गये थे, और कुछ भटक रहे थें । इन टोलियों में आपस में युद्ध भी हुआ करते थे। युद्ध के कारण थे पशुधन की चोरी, स्त्रियों का भागना, दूसरे टोलियों के बाड़े में बाड़ में अपने पशुओं को चारा खाने के लिये घुसाना। स्थायी टोलियों पर घुमन्तू टोलियाँ हमला किया करती थी क्योंकि स्थायी टोलियों के पास घुमन्तू टोलियों की तुलना में दुगनी सम्पत्ति थी। पशु थे अनाज था और स्थायी टोलियाँ स्वसुरक्षा में कमजोर भी थी । इस तरह से पराजित टोलियाँ सदैव यहां वहां भटकती रहीं। उन्हें स्वसुरक्षा की समस्या ने सदैव घेर रखा था। जो स्थायी टोलियां थी उन्हें भी घुमन्तू टोलियों से सुरक्षा करने हेतु और निगरानी हेतु कुछ आदमियों की आवश्यकता थी और पराजित टोलियों के लोगों को आश्रय स्थान और जीवन–यापन के साधनों की आवश्यकता थी । इन दोनों समूहों ने आपस में करार कर अपनी समस्यायें हल की होंगी। इसके अन्तर्गत स्थायी समाज की सुरक्षा की जिम्मेदारी धूमन्तू समाज द्वारा की गई और इसके बदले में उन्हें अनाज और आश्रय स्थायी समाज ने दिया। इस आदान–प्रदान में आश्रय की समस्या उत्पनन हुई कि घुमन्तुओं को यहां रहने के लिये स्थान दिया जाय? अपनी जाति बिरादरी में या बिरादरी से बाहर ? तब तय हुआ कि ये घुमन्तू स्थायी समाज के रक्त के नहीं हैं। इसलिये उन्हें गांव के बाहर रहने के लिये जगह दी जायें ताकि ये गांव की सुरक्षा भी कर सके।

---

1. डा0 अम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे ? पृष्ठ – 47

आदिम हिन्दू समाज का जब निर्माण हुआ तब भी इसी प्रक्रिया द्वारा हिन्दू स्थायी समाज गांव में और घुमन्तू हिन्दू समाज गांव के बाहर रहने लगा। स्थायी समाज में गांव बसाये, ग्राम जातियाँ निर्माण की औरं टूटे हुये लोग गांव के बाहर रहने लगे क्योंकि वे अलग टोली के थे। अलग रक्त के थे। डा0 अम्बेडकर के मतानुसार अस्पृश्य लोग वही टूटे हुये घुमन्तू लोग है, जिन्हे गांव के बाहर रहने के लिये आश्रय मिला था।[1]

अछूतपन का मूल–नस्लों की भिन्नता –

डा0 अम्बेडकर ने मि0 स्टेनले राईस के इस मत का खण्डन किया जिसके अनुसार अस्पृश्यता की उत्पत्ति नस्ल भेद को बताया गया। उनके मत के अनुसार अछूतपन दो बातों से उत्पन्न हुआ है – नस्ल और पेशा। श्री राईस के नस्ल सिद्धान्त में दो बातें हैं–

1. अछूत अनार्य है, अद्रविड़ है, मूल–वासी हैं
2. वे द्रविणों द्वारा पराजित हुये और अंधीन बनाये गये।

इस मत पर विचार करते है, तो भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण, उसकी विजय और उससे उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थायें सभी प्रश्न सामने आते है। श्री राइस के मतानुसार भारत पर दो आक्रमण हुये है। पहला आक्रमण द्रविणों का है। उन्होने अद्रविण आदिम – वासियों की वर्तमान अछूतों के पूर्व पुरूषों को जीता और उन्हें 'अछूत' बनाया। दूसरा है, भारत पर आर्यों का आक्रमण। आर्यो ने द्रविड़ों को जीता। वह यह नहीं बताते कि विजयी आर्यों ने विजित द्रविड़ों के साथ कैसा व्यवहार किया ? यदि उन्हें उत्तर देने के लिये मजबूर किया जाये, तो शायद वे कहे कि आर्यो ने उन्हें 'शूद्र' बना दिया। यह तो एक बनी बनाई श्रंखला हाथ लग गई। द्रविड़ों ने आक्रमण किया और मूल वासियों को 'अछूत' बनाया, आर्यो ने आक्रमण किया और द्रविड़ों को 'शूद्र' बनाया। यह मत यान्त्रिक मत है।[2]

डा0 अम्बेडकर के मतानुसार आर्य, द्रविड़, दास और नाग क्या एक ही नस्ल के चार नाम है ? या चार भिन्न नस्लें हैं इसके लिये प्राचीन इतिहास का अध्ययन आवश्यक है।

---

1. डा0 अनिल गजभिये, डा0 एन0 जे0 बाघमारे – भारत रत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर विचार मन्थन खण्ड 1 पृष्ठ – 61
2. डा0 अम्बेडकर, अछूत क्यों और कैसे पृष्ठ 67 – 68

यदि हम आर्यों से आरम्भ करे तो यह निर्विवाद है कि यह एक ही तरह के लोग नहीं थे दो हिस्सों में विभक्त थे। दोनों की भिन्न संस्कृतियां थीं एक को श्रृक–वेदीय आर्य और दूसरे थी अर्थव–वेदीय आर्य। इसी प्रकार दास और नाग दोनों को एक मानना ऐतिहासिक गलती है क्योंकि दास नागों का दूसरा नाम है 'दास' भारतीय ईरानी शब्द 'दाहक' का संस्कृत रुप है। नागों के राजा का नाम 'दाहक' था, इसलिये आर्यों ने नागों के राजा के नाम पर सभी नागों को सामान्य रूप से 'दास' कहना आरम्भ किया।

द्रविड़ कौन है? क्या वे नागों से भिन्न है? अथवा क्या ये एक ही नस्ल के लोगों के दो भिन्न नाम हैं? प्रचलित मत है कि द्रविड़ और नाग दो भिन्न नस्लें थी यह मत लोगों को अनोखा लगेगा। किन्तु तो भी बात सही है कि द्रविड़ और नाग केवल दो भिन्न नाम है, नस्ल एक ही है।

इस प्रकार 'दास' वे ही हैं जो नाग है, और नाग वे ही है जो द्रविड़ है। दूसरे शब्दों में हम भारत को नसलों के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि अधिक से अधिक दो नस्लें ही रही हैं – आर्य और नाग। स्पष्ट ही है कि श्री राइस का मत निराधार सिद्ध होता है। यह मत भारत में तीन नस्लों को स्वीकार करता है, जबकि वास्तव में दो ही नस्लें रही है।

डा0 अम्बेडकर ने भारत की नस्लगत बनावट के अध्ययन के लिये कुल और गोत्र को महत्वपूर्ण माना। उनके अनुसार यदि भिन्न भिन्न जातियों में एक ही कुल और गोत्र मिल जाये, तो यह कहना सम्भव होगा कि यद्यपि सामाजिक दृष्टि से जातियां भिन्न–भिन्न है किन्तु नस्ल के हिसाब से एक ही हैं। इस प्रकार के दो अध्ययन हुये हैं। एक महाराष्ट्र में श्री रिस्ले द्वारा और पंजाब में हूरोज द्वारा। दोनों अध्ययनों का जो परिणाम हुआ है, उससे इस सिद्धान्त का एकदम खण्डन हो जाता है कि अछूत आर्यो अथवा द्रविणों से भिन्न नस्ल के है। महाराष्ट्र की मुख्य आबादी मराठों की हैं। महार महाराष्ट्र के अछूत हैं। इन दोनों के नस्ली अध्ययन से पता चलता है कि दोनों एक ही कुल के है। वास्तव में एक रूपता इतनी अधिक है कि मराठों में शायद ही कोई एक भी ऐसा कुल हो जो महारों में न हो। और महारों में भी शायद ही कोई ऐसा कुल हो जो मराठों में न हो। इसी प्रकार पंजाब में एक बड़ी जनसंख्या जाटों की हैं। मजहबी सिक्ख 'अछूत' गिने जाते है उनमें अधिकांश चमार है नस्ली खोज से प्रकट होता है कि दोनों के गोत्र समान है यह सब बाते सही होने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि अछूत भिन्न 'नस्ल' के

हैं। उनके अनुसार यदि इन चिन्हों, कुलों तथा गोत्रों का कुछ भी अर्थ है, तो इतना अर्थ तो होना ही चाहिये कि जिनका एक भी चिन्ह है, वे सम्बन्धी होगें। यदि वे एक ही रक्त के रहे, तो भिन्न नस्ल के नहीं हो सकतें इसलिये अछूतपन के नस्ली आधार का सिद्धान्त त्याज्य है।

अछूपन का आधार – पेशा –

डा0 अम्बेडकर के मत में श्री राइस के अनुसार 'अछूतपन' का मूल्य उनके गन्दे और घृणित पेशों में है यह मत कुछ ठीक सा जंचता है। लेकिन इसे अछूतपन की उत्पत्ति की सच्ची व्याख्या स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयां है। अछूत जिन गन्दे और घृणित पेशे को करते है, वे सभी मानव–समाजों में समान है। हर समाज में ऐसे लोग है जो इन पेशों को करते है। संसार के दूसरे देशों में ऐसे लोगों के साथ 'अछूतपन' का व्यवहार क्यों नहीं हुआ ?[1]

नारद स्मृति का उदाहरण देकर डा0 अम्बेडकर ने बताया कि आर्यों में कभी अस्वच्छ व्यवसाय का निषेध नहीं माना गया। आर्य दासों से अस्वच्छ कार्य करवाते थे। लेकिन ये दास कौन थे ? वे आर्य थे या अनार्य थे ? आर्यों में गुलामी प्रथा थी। फिर एक आर्य भी दूसरे आर्य का गुलाम हो सकता है, चाहे वह क्षत्रिय हो या वैश्य या ब्राह्मण। लेकिन जब चर्तुवर्ण व्यवस्था इस देश में विधि का रूप लेने लगी तब इस दास प्रथा में परिवर्तन हुआ। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा नामक भाष्य में कहा है कि, ''ब्राह्मण या अन्य वर्णों में दास प्रथा अनुलोम क्रम में रहेगी। क्षत्रिय और अन्य सभी ब्राह्मण के दास बनेंगे। वैश्य और शूद्र क्षत्रिय के दास बन सकते है। शूद्र वैश्य का दास बन सकता है। इस तरह से यह दास प्रथा अनुलोम क्रम के अनुसार लागू होती है प्रतिलोम क्रम में नहीं।

डा0 अम्बेडकर ने स्मृति, श्रुति और अन्य कई शास्त्रों के गहन अध्ययन के पश्चात यह सिद्ध किया है कि, अनुलोम क्रम से दास प्रथा में जो परिवर्तन आया। उसने दास प्रथा की पुनर्रचना की। आर्य लोग चाहे किसी भी वर्ण के हों अस्वच्छ कार्य करते थे। जैसे संडास सफाई का कार्य भी घृणास्पद नहीं माना जाता था। उन्होने सवाल किया है कि यदि आर्यों को गन्दे काम करने से घृणा नहीं होती थी, तो फिर अस्पृश्यता का मूल कारण अस्वच्छ कार्य है यह कैसे कहा जा सकता है ? राइस के सिद्धान्त की डा0 अम्बेडकर ने इस तरह से धज्जियां उड़ाई हैं।[1]

1. डा0 अम्बेडकर, अछूत क्यों और कैसे पृष्ठ 89
2. अनिल गजभिये, डा0 एन0 जे0 बाघमारे, भारत रत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर विचार मन्थन खण्ड 1 पृष्ठ 66

अस्पृश्यता की नई अवधारणा :–

डा0 अम्बेडकर के अनुसार केवल दो तथ्यों के कारण अस्पृश्यता का प्रादुर्भाव हुआ। क. ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों के रूप में बिखरे लोगों के प्रति घृणा की भावना और ख. गोमांस का बिखरे लोगों द्वारा उपभोग करते रहना।[1]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार जब अछूत अछूत न थे जब छितरे हुये आदमी थे तब यह प्रश्न उठता है कि ब्राह्मणों ने इन छितरे हुये आदमियों के धार्मिक रीति–रिवाजों के अवसर पर पौरोहित्य करने से इन्कार क्यों कर दिया ? क्या यह बात है कि खुद ब्राह्मणों ने पौरोहित्य करने से इन्कार किया ? अथवा यह बात है कि इन छितरे हुये आदमी ने ब्राह्मणों को निमंत्रित करने से इनकार किया ? ब्राह्मणों ने छितरे हुये आदमियों को 'अपवित्र' क्यों माना ? इस परस्पर घृणा का क्या कारण है?[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार इनके बीच परस्पर घृणा का मूल कारण यह है कि ये छितरे हुये आदमी बौद्ध थे इसलिये वे ब्राह्मणों का आदर नहीं करते थे, उन्हें पुरोहित नहीं बनाते थे और उन्हें अपवित्र समझते थे। दूसरी ओर ब्राह्मण छितरे हुये व्यक्तियों को पसन्द नही करते थे; क्योंकि वे बौद्ध थे। उनके विरुद्ध घृणा का प्रचार करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि छितरे हुये आदमी 'अछूत' समझे जाने लगे।[3]

उन्होने आगे कहा कि हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ये छितरे हुये आदमी बौद्व थे। किन्तु किसी प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है जबकि उस समय अधिकांश हिन्दू बौद्ध ही थे। अतः हम मान लेते है कि वे सभी बौद्ध ही थे।

उनके अनुसार यह बात के प्रमाण नहीं है कि हिन्दुओं के मन में बौद्धों के विरूद्ध घृणा का भाव विद्यमान था और यह घृणा का भाव खुद ब्राह्मणो का पैदा किया हुआ था।

नीलकंठ ने अपने 'प्रायश्चित मयूख' में मनु का एक श्लोंक उदधृत किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है –

"यदि कोई आदमी किसी बौद्ध को पाशुपत पुष्प को, लोकायत को, नास्तिक को ,अथवा किसी महापात की को स्पर्श करेगा तो वह स्नान करने से ही शुद्ध हो सकेगा।" इस तर्क

1. बी0 आर0 अम्बेडकर : द अण्टचेबिल्स (अमृत बुक कम्पनी, नई दिल्ली, 1948), अध्याय 15 एवं 16
2. डा0 अम्बेडकर अछूत कौन और कैसे पृष्ठ 99 – 100
3. पूर्वोक्त पृष्ठ 100

से इस परिणाम पर पहुंचा जा सकता है कि अछूतपन के मूल कारणों में से एक कारण वह घृणा है, जो ब्राह्मणों ने बौद्धों के प्रति पैदा की।

अछूतपन का एक और कारण–गोमांस खाना –

डा0 अम्बेडकर के अनुसार अछूतपन का एक प्रधान कारण गोमांस खाना भी है। इस नये सिद्धान्त का हिन्दूशास्त्र भी समर्थन करते हैं। व्यासस्मृति में निम्नलिख्ति श्लोक है जो अन्य व्यजों– अन्त्यजों की श्रेणी में गिनी हुई जातियों के नाम और उनके ऐसा होने के कारण बताते है। चर्मकार, भट्टट, भिल्ल, रजक (धोबी), पुंस्कर, नट, ब्रात्य, चांडाल, दास, सोपाक तथा कोलिक और दूसरे सब जो गोमांस खाते है अन्त्यज कहलाते है।[1]

डा0अम्बेडकर ने अपने मत की पुष्टि के लिये गोमांस भक्षण अस्पृश्यता के कारणों में से एक है, इसके स्पष्टीकरण के लिये भिन्न प्रश्नों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है–

1. क्या हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया ?
2. हिन्दुओं ने गोमांस भक्षण क्यों छोड़ा ?
3. ब्राह्मण शाकाहारी कब बने ?
4. गोमांसाहार से 'अछूतपन' की उत्पत्ति क्यों हुई ? और
5. 'अछूतपन' की उत्पत्ति कब हुई ?

1. क्या हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया ?

डा0 अम्बेडकर ने कहा कि प्राचीन काल में हिन्दू ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण भी मांस खाते थे और गोमांस भी खाते थे। उन्होने कहा ऋग्वेद में दो तरह के प्रमाण हैं – एक ओर उसे अघन्य कहा गया वही दूसरी ओर ऋग्वेद में आर्य गाय की हत्या कर उसका मांस खाते थे।

ऋग्वेद में इन्द्र का कथन है कि वे एक के लिए 15–20 बैल पकाते है ऋग्वेद का ही कथन है कि "अग्निदेवता के लिये घोड़ों, वृषभों, बैलों, बांझ गौओं तथा मेढ़ों की बलि दी जाती है।"[2]

आगे उन्होने कहा कि ग्रहसूत्र में मधुपर्क नाम के पदार्थ की चर्चा है माधौ गृह सूत्र के अनुसार – "वेद की आज्ञा है कि मधुपर्क बिना मांस के नहीं पकना चाहिये। या भोज्य पदार्थ

1. पूर्वोक्त पृष्ठ 106–108
2. पूर्वोक्त पृष्ठ 111

ब्राम्हण, आचार्य, दुल्हा, स्नातक आदि को प्रस्तुत करता हैं

माधौगृह सूत्र एवम् बाबायन गृंह सूत्र के अनुसार यदि गौ को छोड़ दिया जाये तो बकरी या मेढे की मांस की बलि दी जा सकती है।[1]

अब ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ दिया ?

खान–पान के आधार पर हिन्दुओं के तीन वर्ग थे–शाकाहारी, मांसाहारी किन्तु गौमांस नहीं खाते और तीसरा गौमांस भी खाते है। इसी वर्गीकरण से मेल खाता हुआ हिन्दू समाज का वर्गीकरण है – 1. ब्राह्मण 2. अब्राह्मण 3. अछूत। उनके मत में यह व्यवस्था चार्तुवर्ण व्यवस्था के विपरीत है किन्तु वस्तु–स्थिति से मेल खाती है। ये वर्गीकरण गोमांस भक्षण से सम्बन्धित है ऐसा डा0 अम्बेडकर का मत है।

मांस भक्षण का निषेध करने वाले अशोक राजा ने शिलालेखों मे मांस भक्षण की निषेधाज्ञा दी है। मनुस्मृति में भी खाद्य पशु और अखाद्य पशुओं की प्रदीर्घ सूची दी है। मनु ने गोहत्या बन्दी नहीं की थी। कुछ प्रसंगों में तो गोमांस भक्षण को आवश्यक बताया था फिर गैर ब्राम्हणों ने गोमांस भक्षण बन्द क्यों किया ? इस पर डा0 अम्बेडकर का तर्क है कि समाज के उच्च वर्ग के लोगों का अनुकरण निम्न वर्ग के लोग किया करते थे। ब्राह्मणों का गैर–ब्राह्मणों ने भी अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया था। फ्रेंच लेखक ग्रबेल तार्व के कथन का उदाहरण देकर बाबा साहब ने यह स्पष्ट किया है कि गैर ब्राम्हणों ने गो पूजा आरम्भ की और गौ मांस भक्षण बन्द कर दिया। यह प्रथा ब्राह्मण वर्ग के अनुकरण करने की पद्धति के कारण आरम्भ हुई।[2]

ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने ?

ब्राह्मण और बौद्धों में संघर्ष यह भारतीय इतिहास का निर्णायक प्रसंग है, ये संघर्ष चार सौ वर्ष तक जारी रहा। बौद्ध धर्मीय शाकाहारी थे। इसलिये उन्हें नीचा दिखाने के लिये ब्राह्मणों ने भी मांसाहार छोड़ दिया, और प्रतिष्ठा अर्जित की। प्राणि हत्या करना बन्द कर ब्राह्मणों ने अपने व्यवहार में सुधार किया। बौद्ध धर्म के अहिंसा सिद्धान्त का ब्राह्मणों ने पालन करना आरम्भ किया। ब्राह्मणों का यह सब करना आरम्भ करने का उद्देश्य जनता के मन में जो बौद्धों के प्रति आदर और प्रतिष्ठा का भाव था, उससे मुक्त करना। इस उद्देश्य से बोद्धों को वे पराजित करना

1. पूर्वोक्त पृष्ठ 111
2. अनिल गजभिये, डा0 एन0 जे0 बाघमारे,–भारत रत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर विचार मन्थन खण्ड 1 पृष्ठ 69

चाहते थे। इसलिये ब्राह्मणों ने शाकाहार का अवलंब किया। यह बात डा0 अम्बेडकर में सप्रमाण बताई है कि, ब्राह्मण धर्म के रक्षणार्थ हिन्दू राजाओं ने गो पूजा की प्रथा प्रारम्भ की और गोहत्या प्रतिबंधक कानून बनाये। जब ब्राह्मणों और गेर ब्राह्मणों ने गोमांस भक्षण बन्द कर दिया तब टूटे हुये लोगों ने गोमांस भक्षण बन्द नहीं किया था। इसलिये स्थायी और टूटे हुये लोगों में एक दूरी पैदा हुई। गोमांस भक्षण यह कृत्य धर्मभ्रष्टता का एक लक्षण माना गया। टूटे हुये लोगों को गोमांस भक्षण के अपराध मानकार उन्हें समाज से बहिष्कृत किया गया।[1]

अस्पृश्यता का उद्‌गम काल –

अस्पृश्यता के उद्‌गमकाल के बारे में डा0 अम्बेडकर का मत है कि उसका एक निश्चित तिथि बताना असंभव है। अस्पृश्यता यह एक सामाजिक मनोविज्ञान का विषय है। एक गुट द्धारा दूसरे गुट के बारे में मन में व्याप्त सामाजिक घृणा है। यह घृणा सामाजिक मनोविज्ञान की है। यह प्रथा व्यवहारिक बनने में काफी समय लगा होगा। विभिन्न शास्त्रों, धर्मग्रन्थों के आधार से यह कहा जा सकता है कि मनुकाल में अपवित्रता की भावना थी किन्तु अस्पृशता नहीं थी। मनुस्मृति की रचना ई0 सं0 पूर्व 165 माना जाये तो यह स्पष्ट है कि ई0 सं0 के दूसरे शतक तक अस्पृश्यता नहीं थी।

चीनी मुसाफिर फाहियान ई0 सं0 400 में भारत भ्रमण हेतु आया था। उसने अपने सफरनामें में भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुये सामाजिक अस्पृश्यता के प्रसंग चित्रित किये हैं। वाण भट्‌ट के उपन्यास में भी 'चांडाल' के सम्बन्ध मे कई प्रसंग वर्णित है। किन्तु इसी अधार पर 'अस्पृश्यता' का काल निश्चित नहीं हो सकता।

दूसरा चीनी मुसाफिर ह्वेन सांग ई0 सं0 629 में भारत आया। वह भारत मे 16 वर्ष तक रहा। उसने पूरे भारत की सामाजिक स्थिति का वर्णन लिखा है। उसमें चांडालों का वर्णन है। इन्ही आधारों पर डा0 अम्बेडकर का निष्कर्ष है कि भारत में ई0 सं0 600 के दरमियान अस्पृश्यता का उद्‌गम हुआ न कि ई0 सं0 200 में। इसलिये उन्होने मध्यम मार्ग के सिद्धान्त के अनुसार ई0 सं0 400 अस्पृश्यता का जन्म काल माना है क्योंकि इसी काल में बौद्ध धर्म और ब्राह्मणवाद के बीच संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप अस्पृश्यता का उद्‌गम हुआ।[2]

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ 70
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ 71

अस्पृश्यता एंव अन्याय –

अस्पृश्यता के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज में करोड़ों की संख्या में अस्पृश्य स्त्री–पुरूष पैदा हो गये, जिन्हें देखना, छूना तथा उनकी छाया में आना पाप समझा गया। उन्हें अपवित्र और पशुओं से बद्तर माना गया है। उनके साथ कोई सामाजिक आचार–विचार सम्भव नहीं था और न ही उन्हें उन पूजा–अर्चना के स्थानों व मन्दिरों में जाने दिया जाता था जहां उनका रचयिता ईश्वर बैठता है। पंडा–पुजारियों ने अस्पृश्यों को तमाम मानवीय स्थितियों से अलग दूर रखा ताकि वे समाज में प्रदूषण नहीं फैला सके। आज भी ऐसे क्षेत्र–गांव है जहां सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्यों का अस्तित्व है। डा0 अम्बेडकर ने तो यह निरीक्षण किया कि ''अस्पृश्यता की स्थिति के लिये लज्जित होने की बजाय, हिन्दू लोग उसकी सुरक्षा करते है। उसका सुरक्षा का बिन्दु यह है कि हिन्दुओं ने कभी भी दासता को नहीं माना जिस प्रकार के अन्य राष्ट्रों ने उसे स्वीकार किया और उस दृष्टि से अस्पृश्यता दासता से बुरी नहीं है।'' यह बात लाला लाजपत राय ने अपने ग्रन्थ ''अनहैपी इण्डिया'' में कही। (1)

लेकिन डा0 अम्बेडकर के अनुसार अस्पृश्यता दासता से कहीं अधिक बद्तर एवं पीड़ादायक है। दासता एवं अस्पृश्ता में इतना अन्तर है कि अस्पृश्यता परतंत्र समाज व्यवस्था का निकृष्ट अंग है। उन्होंने कहा ''दासता कभी अनिवार्य नहीं रही। लेकिन अस्पश्यता अनिवार्य है। एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी को दास बनाने की अनुमति होती है। उस पर कोई बाध्यता नहीं है यदि वह ऐसा करना नहीं चाहे। किन्तु एक अस्पृश्य के समक्ष ऐसा विकल्प नहीं है। एक बार यदि वह अस्पृश्य पैदा हो गया, तो उस पर अस्पृश्य होने की सभी अयोग्यतायें थोप दी जाती है। दासता का कानून उत्थान की अनुमति देता है। एक बार दास हमेशा दास रहे, ऐसा दास को भाग्य नहीं था अस्पृश्यता में ऐसा कोई बचाव नहीं है। एक बार अस्पृश्य हमेशा के लिये अस्पृश्य होना अनिवार्य है। दूसरा अन्तर यह है कि अस्पृश्यता अप्रत्यक्ष होती है और इसलिये दासता से भी बद्तर है। खुले एवं प्रत्यक्ष रूप से किसी आदमी को स्वतंत्रता से वंचित करना दास बनाने का रूप पसंद करने योग्य है। इससे दास अपनी दासता के प्रति सचेत हो जाता है और दासता के प्रति सचेत होना, स्वतंत्रता के लिये संघर्ष में प्रथम और अत्याधिक महत्वपूर्ण

---

1. डा0 बाबासाहेब अम्बेडकर–राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज़ खण्ड 5, (महाराष्ट्र सरकार प्रकाशन बम्बई 1989) पृष्ठ–15

पग है। किन्तु यदि कोई आदमी अपनी स्वतंत्रता से अप्रत्यक्ष ढंग से वंचित कर दिया जाता है तो उसे अपनी दासता की कोई चेतना नहीं होती। अस्पृश्यता दासता का एक अप्रत्यक्ष रूप है .... अस्पृश्यता अस्पृश्यों को उनकी दासता के प्रति सचेत बनाये बिना, दास ही बनाना है। यह दासता है, हालांकि अस्पृश्ता कहते हैं। यह यथार्थ है, किन्तु अप्रत्यक्ष है। यह स्थायी है, क्योंकि वह अचेतन है। इन दो व्यवस्थाओं में, किसी सन्देह से परे अस्पृश्यता कही बद्तर है। (1)

डा0 अम्बेडकर की दृष्टि से ''दासता और अस्पृश्यता दोनों ही स्वतंत्र समाज व्यवस्था नहीं है।'' उन्होंने प्रश्न किया : ''क्या दासता अथवा अस्पृश्यता के अन्तर्गत शिक्षा, सद्गुण, आनन्द, संस्कृति और धन सम्पत्ति सम्भव है ?'' यदि इस मापदण्ड से देखें तो ''दासता में शिक्षा, सदगुण, आनन्द, संस्कृति या धन सम्पत्ति के लिये गुंजाइश है। दासता की भांति, अस्पृश्यता में एक अस्वतंत्र समाज व्यवस्था के ये लाभ कतई नहीं है। उसमें एक स्वतंत्र समाज–व्यवस्था के सभी अलाभ है।'' (2)

डा0 अम्बेडकर को हिन्दू धर्म में सबसे अधिक अपमान जनक बात अस्पृश्यता ही लगी है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता ही वह अवगुण है जिसने समाज में करोड़ों दलितों को नीच, संस्कारहीन, अशिक्षित और मर्यादाहीन बनाकर रख दिया है। डा0 अम्बेडकर ने अस्पृश्यता की तुलना जहर के उस एक बून्द से की है जिससे घड़ा भर दूध विषमय बन जाता है। अस्पृश्यता सामाजिक अपराध है ऐसा डा0 अम्बेडकर का मानना है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि हिन्दू धर्म से पृथक अस्पृश्यता की और अस्पृश्यता से पृथक हिन्दू धर्म में कोई जगह नहीं है।(3)

संस्कार एवं आश्रम :–

हिन्दुओं ने अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करके पूर्णता की ओर ले जाने के लिये अनेक संस्थागत व्यवस्थाओं (Institutional arrangements) को अपनाया है। उन्हीं में से संस्कार एवं आश्रम प्रमुख है। भारतीय समाज में वैदिक काल से ही वर्ण, आश्रम तथा संस्कारों का महत्व माना गया है। वर्ण का प्रारम्भिक और कालान्तर में उसके विकृत रूप के बावजूद भी आश्रम और संस्कार की निरन्तरता बनी रही। आज आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व तथा महत्व प्रायः समाप्त हो गया

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ 16
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ 16
3. बुद्धशरण हंस, डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 9

है, किन्तु संस्कारों का चलन अब भी बहुत है । हिन्दू समाज अथवा अन्य कोई ईसाई, मुस्लिम या बौद्ध समाज सभी से जन्म से लेकर मरणोपरान्त अनेक संस्कार किये जाते है, भले ही उनमें से बहुत से निरर्थक तथा अहितकारी सिद्ध हो चुके है। संस्कार हीन आदमी तथा समाज की कल्पना संभव नहीं है। संस्कारों के साथ व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जुड़ी होती है। हिन्दू समाज में संस्कारहीन व्यक्ति को पशु के समान समझा जाता है। [1]

संस्कार शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। संस्कार का शाब्दिक अर्थ शुद्धि, सुधार या सफाई है। अतः हम कह सकते है कि जीवन को परिशुद्ध करने के लिये समुचित ढंग से लिये गये कार्य–पद्धति को ही संस्कार कहते हैं। इसी शाब्दिक अर्थ के आधार पर ही हिन्दू संस्कार से आत्मा का परिशुद्धन समझते है। संस्कार वे कृत्य हैं जो परम्परागत रूप में जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दूओं में आवश्यक होते है क्योंकि इनके बिना जीवन की परिशुद्धि तथा आत्मा की उन्नति सम्भव नहीं है। [2] वर्ण व्यवस्था के साथ अनेक संस्कार जुड़े हुये हैं। कहा जाता है कि संस्कारों से ही आदमी महान बनता है। भारतीय समाज में जन्म, उपनयन, विवाह, संतान आदि के लगभग चालीस से ऊपर संस्कार है जिनका मूल उद्देश्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के स्तर को ऊपर उठाना है। वर्ण व्यवस्था के इतिहास में यह पाया जाता है कि प्रत्येक वर्ण के संस्कार अलग–अलग थे । इन्हीं के साथ उनके कर्तव्य तथा अधिकार जुड़े हुये थे। हिन्दू समाज में शूद्र–अछूतों की उत्पत्ति तथा अवनति को उनके लिये कुछ संस्कारों के निषेध के साथ जोड़ा जाता है। [3]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार आर्य अपने अनुष्ठानों को संस्कार कहते थे। गौतम धर्मसूत्र (3,14–24) में निम्नलिखित 40 संस्कारों का वर्णन है :–'गर्भादान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्न प्राशन, चौल, उपनयन, चार वेद–व्रत, संवर्तन, विवाह, (देव पितृ, मनुष्य, भूत और ब्रह्म के लिय) पांच दैनिक महायज्ञ सात पालयज्ञ (अस्तक, पर्वनास्थालिमिक, श्राद्ध, श्रावणी, अग्रहायणी, चैत्री, अस्वयुजी) सात हविर्यज्ञ (अग्नियाधेय, अग्निहोतृ, दर्शपूर्ण मास अग्रायण, चातुर्मास निरूद्धपासुबद्ध तथा सौतुर्माण, सात सोमयज्ञ (अग्निस्तोम, अत्याग्निस्तोम, उक्तत्थ्य, सुदासिन, वाजपेय, अतिरत्र और अखोर्यम) तथा मृतक। कालान्तर में संस्कार सिमटकर मात्र 15 रह गये। [4]

संस्कारों के सम्बन्ध में कोई विचित्रता नहीं है । प्रत्येक समाज संस्कारों को स्वीकार करता

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ –41
2. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, भारतीय समाज व संस्कृति, पृष्ठ – 81
3. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 41–42
4. डा0 अम्बेडकर, शूद्रों की खोज, पृष्ठ – 128

है। ईसाइयों में भी संस्कार होते हैं किन्तु वे सामाजिक न होकर धार्मिक होते हैं। भारतीय आर्यों में भी प्रारम्भ में संस्कार विशुद्ध धार्मिक होते थे। पूर्व मीमांसा के रचनाकार जैमिनी के मतानुसार संस्कारों से दुष्कर्मों का क्षय और सदगुणों का उदय होता है। उपनयन अन्य संस्कारों की भांति धार्मिक था। शूद्रों का उपनयन बन्द कर देने से इसके महत्व में अभूतपूर्व परिवर्तन आया जो सामाजिक महत्व का विषय बन गया। परिणामस्वरूप यज्ञोपवीत, उपनयन धारण करना श्रेष्ठता और कुलीनता का द्योतक माना जाने लगा था। इसका दूरगामी फल यह निकला कि जहां इसके शूद्र, ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को अपने से श्रेष्ठ मानने को बाध्य हुये वहां उक्त तीनों वर्ण शूद्रों को अपने से हेय मानने लगे और इस प्रकार उपनयन विरोध से शूद्रों का पतन प्रारम्भ हुआ।

पूर्व मीमांसा के अन्य नियम के अनुसार यज्ञ वैदिक मंत्रों से ही हो सकता है– कथन का तात्पर्य यह है कि यज्ञकर्ता वेदपाठी होना ही चाहिये। साथ ही वेदाध्य वही कर सकता है जिसका उपनयन हो गया हो । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वेदों के अध्ययन और ज्ञान के लिये उपनयन ही एक मात्र मार्ग है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उपनयन मात्र नाम का ही संस्कार नहीं है। इससे सम्पत्ति और विद्या अध्ययन के महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हे कि प्राचीन आर्यो में उपनयन का कितना महत्व था। उपनयन से उसे सामाजिक प्रतिष्ठा और वैयक्तिक अधिकार प्राप्त होते थे। ब्राह्मणों ने शूद्रों का उपनयन का अधिकार छीनकर उन्हें ज्ञानार्जन और सम्पत्ति संचय व अर्जन के अयोग्य ठहरा दिया और इसका नतीजा यह हुआ कि वे धीरे–धीरे मूर्ख और निर्धन होते चले गये।

ब्राह्मणों ने शूद्रों के विरूद्ध 'उपनयन–निरोध' को एक भीषण शस्त्र के रूप में प्रयोग कर उन्हें गर्त में ढकेल दिया और शमशान तुल्य बना डाला।(1)

आश्रम व्यवस्था :–

मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मूलतः शूद्र के रूप में जन्म लेते है।। उसके पश्चात 'संस्कारात द्विज उच्यते' अर्थात धार्मिक संस्कारों द्वारा वह 'द्विज' बनता है, अर्थात् जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुछ संस्कारों को पूरा करते हैं तभी वे द्विज कहलाते है।(2)

भारतीय संस्कृति में प्राचीन से ही दीर्घ जीवन की कामना की जाती रही है और इस दीर्घ जीवन की कामना, जैसा कि डा0 के0 एम0 कपाड़िया का कथन है "मुक्ति प्राप्त करने की भावना से असम्बद्ध नहीं है और भारतीय मुनियों ने अपने पुरूषार्थ के सिद्धान्त में इन दोनों में सामंजस्य स्थापित

1. डा0 अम्बेडकर, शूद्रों की खोज, पृष्ठ – 128 – 129
2. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, भारतीय समाज व संस्कृति, पृष्ठ – 45

किया है।"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार मानव–जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। 'मोक्ष' या मुक्ति की प्राप्ति मानव जीवन का परम और चरम लक्ष्य है, अर्थ और काम उस लक्ष्य तक पहुंचने का साधन है और पथ पर मानव को सही दिशा में परिचालित करने के लिये 'धर्म' एक सहारा है। संक्षेप में यही पुरूषार्थ का सिद्धान्त है जो कि हिन्दू आश्रम–व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन को चार आश्रमों – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास – बांटा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में धर्म का ज्ञान होता है, गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम सम्बन्धी उद्देश्यों की प्राप्ति होती है, वानप्रस्थ में अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिये आवश्यक तैयारी की जाती है और सन्यास में मोक्ष की प्राप्ति या परमगति को प्राप्त करना व्यक्ति के लिये सम्भव होता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि आश्रम–व्यवस्था वह साधन या योजना है जिसके द्वारा पुरूषार्थ या जीवन के मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति सरल व सम्भव है।

डा0 अम्बेडकर के अनुसार आश्रम–सिद्धान्त हिन्दुत्व की एक खास विशेषता है। दूसरे किसी भी अन्य धर्म की शिक्षाओं में इस सिद्धान्त ने कोई स्थान पाया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आश्रम सिद्धान्त के अनुसार, जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। ये चार अवस्थायें है– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। ब्रह्मचर्य अवस्था में मनुष्य अविवाहित होता है और अपना सब समय शिक्षा तथा अध्ययन में व्यतीत करता है। इस अवस्था के समाप्त होने के बाद वह गृहस्थ में प्रवेश करता है भौतिक सुखों की ओर ध्यान देता है। उसके बाद वह तीसरी अवस्था में प्रवेश करता है और वानप्रस्थ कहलाता है। वानप्रस्थी के रूप में वह जगंल में जाकर साधु के रूप में जीवन व्यतीत करता है। परन्तु वह अपने परिवार से सम्बन्ध–विच्छेद नहीं करता अथवा सम्पत्ति से अपना अधिकार भी नहीं त्यागता। उसके बाद चौथी और अन्तिम अवस्था आती है। वह है सन्यास की अवस्था, जिसका मतलब है ईश्वर की खोज में संसार का सम्पूर्ण त्याग करना। ब्रह्मचारी और गृहस्थ अवस्थायें एक प्रकार से स्वाभाविक अवस्थायें हैं। अन्तिम दो अवस्थाओं के बारे में केवल सिफारिश की जाती है। उसके बारे में कोई बन्धन नहीं है। इस सम्बन्ध मनु ने जो कुछ कहा है, वह निम्न प्रकार है –

6.1 द्विज व्यक्ति, जो नियमानुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत कर चुका है, दृढ़ संकल्प करते हुये तथा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करते हुये जंगल में जाकर (नीचे दिये गये नियमों का पालन करते हुये) रह सकता है।

6.2 जब एक गृहस्थी देखे कि उसकी त्वचा झुर्रियों से भरने लगी है, उसके बाल सफेद होने लग जायें और वह अपने पुत्रों के पुत्र देख लें, तब उसे जंगल में जाकर रहना चाहिये।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ 45

6.3 काश्तकारी से उत्पन्न अन्न का त्याग करते हुये, अपनी सभी वस्तुओं का त्याग करते हुये, तथा अपनी पत्नी को पुत्रों के हवाले करके अथवा उसे साथ लेकर वह जंगल में चला जाये।

6.33 परन्तु इस प्रकार अपने नैसर्गिक जीवन का तीसरा हिस्सा जंगल में गुजार कर अपने का त्याग करते हुये वह साधु के रूप में जीवन व्यतीत. करें।

इन नियमों में सम्मिलित असमानता यद्यपि पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है, परन्तु देखा जा सकता है। यह वास्तविक है इस प्रकार यह सभी संस्कार और आश्रम व्यवस्था केवल द्विज जन्मे लोगों तक ही lhfer gS 'kwnzksa dks bulso´pr j[kk x;k gS[1]

<u>दैविक सत्ता के स्रोत – हिन्दू धर्मग्रन्थों की अकाट्यता का विरोध एवं न्याय की स्थिति एवं स्वरूप में सम्बन्ध में डा0 अम्बेडकर की प्रतिक्रिया एवं समीक्षा :–</u>

दैविक सत्ता के स्रोत के रूप में, धर्म ग्रन्थों की अकाट्यता का विचार भी डा0 अम्बेडकर ने स्वीकार नहीं किया । इस आधार पर कि वह धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों के स्वतंत्र अन्वेषण तथा परीक्षा की विधि को लोगों द्वारा अपनाये जाने से रोकता है। उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रन्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्मशास्त्रों ने जाति भेद, वर्णभेद, व्यवहार में अस्पृश्यता इत्यादि जैसी बुराईयों को निरन्तर समाज में बढ़ाया है।

हिन्दू धर्म वर्ण व्यवस्था पर आधारित धर्म है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था की खुली वकालत की गयी है। हिन्दू धर्म ग्रन्थ चाहे वेद हो, रामायण हो, महाभारत हो, स्मृतियां हो, पुराण हो या गीता हो सबमें वर्ण व्यवस्था की मान्यता दी गयी है। वर्ण व्यवस्था शोषण का शासन, ऊँच और नीच पर आधारित व्यवस्था है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में शोषण और शासन के दांवपेंच भरे पड़े हैं। गलत शास्त्र तथा शास्त्रों के गलत सिद्धान्त पर विश्वास करना देश और समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक है भारतीय जनता शास्त्रों को पवित्र मानकर आंख मूंदकर शास्त्रों के गलत सिद्धान्तों, अमानवीय धर्म परम्पराओं को मानती चली आ रही है। इसलिये डा0 अम्बेडकर ने कहा – "इसका वास्तविक समाधान यह है कि शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास को तोड़ा जाय। यदि आप लोगों के विश्वासों तथा मतों को प्रभावित करने के लिये शास्त्रों की सत्ता को निरन्तर बनाये रखे हैं तो आप अपनी सफलता की कामना कैसे कर सकते है।[2]

---

1. बाबा साहेब, डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 54 – 55
2. बुद्ध शरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 165

द्विजों द्वारा रचित हिन्दू धर्म शास्त्रों को उन्होंने अन्याय एवं असमानता पर माना। यद्यपि उन्होंने वेद, उपनिषद, महाभारत, स्मृतियों एवं गीता, रामायण का विश्लेषण पर अध्ययन किया परन्तु यहां पर हिन्दू सामाजिक जीवन के मूल ग्रन्थ मनुस्मृति एवं गीता के सन्दर्भ में उनकी प्रतिक्रिया एवं समीक्षा को प्रस्तुत किया गया है –

मनुस्मृति :–

मौर्य सम्राट अशोक ने जब बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया। निश्चय ही ब्राह्मणवाद के लिये बहुत बड़ा आघात था। इससे ब्राह्मणों को राज्य का संरक्षण मिलना बन्द हो गया। अशोक साम्राज्य में उन्हें गांव या अधीनस्थों का दर्जा दिया जाने लगा और उनकी उपेक्षा की जाने लगी। निश्चय ही कहा जा सकता है कि यह दमन इस छोटे से कारण से हुआ कि अशोक ने सभी प्रकार के पशुओं की बलि पर रोक लगा दी थी, जो ब्राह्मणवाद का मूल आधार थी। ब्राह्मणों को न केवल राज्य का संरक्षण मिलना बन्द हुआ, बल्कि उनका व्यवसाय भी छिन गया। यह व्यवसाय था यज्ञ–कर्म कराना और उसके बदले शुल्क लेना, जो कभी–कभी बहुत अधिक होता था। इस प्रकार लगभग 140 वर्षों तक मौर्य साम्राज्य रहा, ब्राह्मण, दलित और दलित वर्गों की तरह रहे।[1]

बेचारे ब्राह्मणों के पास बौद्ध साम्राज्य के विरूद्ध विद्रोह करने के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं था। यही विशेष कारण था जिससे पुष्यमित्र ने मौर्य साम्राज्य के विरूद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया। पुष्यमित्र सुड़ गोत्र का था। सुड़ लोग सामवेदी ब्राह्मण होते थे पुष्यमित्र ने अपने राज्यारोपण के बाद बौद्धों और बौद्ध धर्म के विरूद्ध जोर–शोर से और कटुतापूर्वक उन्हें सताने का आन्दोलन छेड़ दिया था।[2] दूसरे ब्राह्मण धर्म के पुर्नरूद्धार हेतु अश्वमेघ यज्ञ और ब्राह्मण पुर्नरूद्धार मूलक ग्रन्थों की रचना करवायी। इनमें मनुस्मृति प्रमुख है। और इसके शासन काल में मनुस्मृति की विधि संहिता के रूप में अपनाये जाने की घोषणा की।

मनुस्मृति के रचयिता एवं रचनाकार :–

मनुस्मृति को ईश्वरीय कृति कहा गया है। यह कहा जाता है कि इसे स्वयंभू (अर्थात् ब्रह्मा) ने मनु को सुनाया और बाद में मनु ने इसे मनुष्यों को बताया यह दावा स्वयं स्मृति में किया गया है। यह आश्चर्यजनक बात है किसी ने भी इस दावे के आधारों की जांच करने की चिन्ता नहीं की। इसका फल यह हुआ कि भारत के इतिहास में मनुस्मृति की विशेषता, स्थान और महत्व का मूल्याकंन करने में

---

1. बाबा साहेब, डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 7, पृष्ठ – 148–149
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 149–150

कोई भी सफल नहीं हो सका है। हालांकि हिन्दू समाज एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रांति से होकर गुजरा था और मनुस्मृति इसका अभिलेख है, तो भी यह बात भारत के इतिहासकारों पर भी लागू होती है। लेकिन यह भी सत्य है कि मनुस्मृति ने अपने कृतिकार के विषय में जो दावा किया है, वह बिल्कुल झूठा है और इस झूठे दावे के कारण जो आस्थायें उपजी है। वह कोई तर्कसंगत नहीं है। [1]

लगभग चौथी शताब्दी में नारदस्मृति के लेखक को मनुस्मृति के लेखक का नाम ज्ञात था। नारद के अनुसार सुमति भार्गव नाम के एक व्यक्ति थे जिन्होंने मनु संहिता की रचना की। सुमति भार्गव कोई काल्पनिक नाम नहीं है। अवश्य ही यह कोई ऐतिहासिक व्यक्ति रहा होगा। इसका कारण यह है कि मनुस्मृति के महान टीकाकार मेधातिथे का मत था कि यह मनु निश्चय ही कोई 'व्यक्ति' था। इस प्रकार मनु नाम सुमति भार्गव का छद्म नाम था और वह ही इसके वास्तविक रचयिता थे।[2]

सुमति भार्गव ने इस संहिता की रचना ईसा पूर्व 170 और ईसा पूर्व 150 के मध्यकाल में की और इसका नाम जान बूझकर मनुस्मृति रखा।-अब यदि इस तथ्य पर ध्यान दे कि पुष्यमित्र ने ब्राह्मणवाद की क्रांति ईसा पूर्व 185 में प्रारम्भ की थी, तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पुष्यमित्र ने मनुस्मृति नामक जिस संहिता को लागू किया, वह मोर्यों के बौद्ध राज्य के विरूद्ध ब्राह्मणवाद की क्रान्ति के सिद्धान्तों का मूर्तरूप थी और यह कि मनुस्मृति ब्राह्मणवाद की अनेक संस्थाओं की उत्स थी।[3]

शुंगकाल में मनुस्मृति को प्रवर्तित करने के पीछे कुछ प्रमुख कारण थे – (1) मनुस्मृति में जिस व्यवस्था का प्रतिवादन किया गया है वह भी ब्राह्मण पुर्नरूद्धार मूलक है। इस व्यवस्था में सर्वत्र प्रेदप्रामाण्य, ब्राह्मण–श्रेष्ठता, वर्णाश्रम–धर्म, यजन–याजन आदि को प्रतिष्ठित करने की प्रबल चेष्टा दिखाई देती है। अतः मनुस्मृति का प्रमुख लक्ष्य ब्राह्मणवाद की स्थापना था। (2) ब्राह्मणवाद की स्थापना के पीछे प्रमुख कारण यही था कि मौर्य साम्राज्य में विशेषकर अशोक के शासनकाल में ब्राह्मण निम्न श्रेणी में आ गये थे। (3) मनुस्मृति ने शूद्रों और स्त्री क़े बारे में बहुत ही कठोर असंवेदनशील व्यवस्थायें निर्धारित की । क्योंकि इसके पीछे यह कारण था कि बौद्ध धर्म के अभ्युदय ने शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति में महान परिवर्तन ला दिया । बौद्ध शासन में शूद्र सम्पत्ति, विद्या अर्जित कर सकता था और यह तक कि वह राजा भी बन सकता था। यदि वह समाज में सर्वोच्च स्थान तक पहुंच सकता था, जो कि वैदिक शासन में ब्राह्मण के अधिकार में होता था। बौद्ध भिक्ष–व्यवस्था वैदिक ब्राह्मण व्यवस्था का प्रतिरूप थी। ये दोनों ही व्यवस्थायें अपने–अपने धर्म की व्यवस्थाओं में पद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से एक–दूसरे के

---

1. बाबा साहेब, डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 7, पृष्ठ – 150–151
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 151
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 151

समान थी। वैदिक शासन में शूद्र ब्राह्मण बनने की कभी आंकाक्षा नहीं कर सकता था, जो ब्राह्मण को प्राप्त थी। वेदों के ब्राह्मणवाद में शूद्रों का प्रवेश वर्जित था लेकिन भिक्षुओं के बौद्ध धर्म के द्वार शूद्रों के लिये खुले हुये थे। बहुत से शूद्रों ने जो वैदिक शासन में ब्राह्मण नहीं बन सके, बौद्ध धर्म में भिक्षु बने और उन्होंने ब्राह्मण के समान पद प्राप्त किया। इसी प्रकार के परिवर्तन स्त्रियों के सम्बन्ध में भी मिलते हैं। बौद्ध धर्म के अधीन उसे स्वतंत्र स्थान मिला। विवाह हो जाने पर भी उसका स्थान स्वतंत्र रहा। बौद्ध धर्म में विवाह एक संविदा था। बौद्ध धर्म के अनुसार वह सम्पत्ति अर्जित कर सकती थी । वह विद्या अर्जित कर सकती थी और जो सबसे विलक्षण बात थी, वह यह कि बौद्ध धर्म में भिक्षुणी बन सकती थी और उसी पद और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकती थी, जो ब्राह्मण को प्राप्त थी। शूद्रों और स्त्रियों को ऊँचा स्थान दिलाने में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि बौद्ध धर्म के विरोधी इसे शूद्र धर्म (अर्थात निम्न वर्ग के लोगों का धर्म) कहते थे।[1]

निःसंदेह इस सबसे ब्राह्मणों को बड़ी खीज होती होगी । इससे ब्राह्मणों को कितनी अधिक खीज हुई यह उनके उस बर्बर व्यवहार से स्पष्ट है, जो उन्होंने बौद्ध धर्म पर विजय पाने के बाद शूद्रों और स्त्रियों की उस उच्च स्थिति को पूर्ण ध्वस्त करने के लिये अपनाया जहां ये बौद्ध धर्म के जीवनदायी सिद्धान्तों के आधार पर क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारण प्रतिष्ठित हुये थे।

इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर अगर हम शूद्रों के बारे में मनु के बनाये गये नियमों पर विचार करे तब इनकी अन्यायपूर्णता, अमानवीयता और निर्दयता को देखकर कंपकपी आ जाती है। डा0 अम्बेडकर ने उनमें से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये –

मनु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग गृहस्थों से कहता है :

4.61 वह उस देश में न रहे, जहां के शासक शूद्र हैं। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उस देश को छोड़कर चले जाये जहां शूद्र शासक है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि अगर शूद्र शासक बन जाये तब उसे मार डालना चाहिये। शूद्र को न केवल राजा होने के अयोग्य समझना चाहिये, बल्कि उसे आदर के भी योग्य नहीं समझना चहिये। मनु नियम बनाते हैं :

मनु इस बात पर बल देता है कि शूद्र नीच रहेगा, पद के अयोग्य, अशिक्षित, सम्पत्ति रहित और निन्दित व्यक्ति रहेगा, उसे और उसकी सम्पत्ति का बलपूर्वक उपयोग किया जा सकेगा।

प्राचीन काल में वेदों के अध्ययन का तात्पर्य विद्या था। मनु घोषित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को वेदों के अध्ययन करने का अधिकार नहीं है और यह अधिकार कुछ लोगों को ही प्राप्त है।

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 197–198

मनु शूद्रों को वेदों के अध्ययन करने का अधिकार नहीं देता। वह यह विशेषाधिकार केवल तीन उच्च वर्णों को देता है। वह शूद्रों को अध्ययन करने से वंचित ही नहीं करता बल्कि उन व्यक्तियों के विरूद्ध दंड की व्यवस्था भी करता है जो शूद्रों को वेदों का अध्ययन करने में सहायता करेगा। (1)

मनु के बाद के स्मृतिकार तो वेदों का अध्यन करने पर शूद्रों के साथ किये जाने वाले निर्दय व्यवहार में उनसे भी आगे निकल गये। उदाहरण के लिये कात्यायन का यह नियम है कि शूद्र किसी को वेद पढ़ते हुये सुन लेता है या वेद के एक शब्द का भी उच्चारण करने का साहस करता है, राजा उसकी जिह्वा को चिरवा देगा और उसके कानों में पिघलता हुआ जस्ता डलवायेगा।

सम्पत्ति के विषय में मनु कोई दया का व्यवहार नहीं करता। मनु संहिता के अनुसार :

10.129 किसी भी शूद्र को सम्पत्ति का संग्रह नहीं करना चाहिये, चाहे वह इसके लिये कितना ही समर्थ क्यों न हो क्योंकि जो शूद्र धन का संग्रह कर लेता है, उसे इसका मद हो जाता है और वह अपने उद्धत या उपेक्षापूर्ण व्यवहार से ब्राम्हणों को कष्ट पहुंचाता है।

मनु ने यह निश्चित करने के बाद कि शूद्र का जन्म दास बनने के लिये हुआ है, तद्नुसार अपने नियम बनाये जिससे उसे नीच बने रहने के लिये बाध्य किया जा सके। बौद्ध शासन में शूद्र न्यायाधीश, पुजारी और यहां तक की राजा बनने की इच्छा कर सकता था जो उच्चतम पद था और यहां तक पहुंचने की उसकी इच्छा हो सकती थी। इसकी तुलना उस आदर्श से कीजिये जो मनु शूद्र के सम्मुख प्रस्तुत करता है तो आपको ब्राह्मणवाद के अन्तर्गत उसके लिये नियत किये गये भाग्य का अंदाजा लग जायेगा।

10.123 शूद्र का उत्तम कर्म केवल ब्राम्हणों की सेवा करना कहा गया है, क्योंकि इसके अतिरिक्त वह जो कुछ करता है, उसका उसे कुछ भी फल नहीं मिलता ।

मनु जितना शूद्र के प्रति कठोर है, स्त्रियों के प्रति वह उससे कम कठोर नहीं हैं । वह स्त्रियों के बारे में ऊँची धारणा नहीं रखता । मनु के अनुसार स्त्रियां किसी भी परिथिति में स्वतन्त्र नहीं है। मनु के मतानुसार –

9.2 स्त्रियों को उनके परिवारों के पुरूषों द्वारा दिन रात अधीन रखा जाना चाहिये और यदि वे अपने को विषयों में आसक्त करें तो उन्हें अपने नियन्त्रण में अवश्य रखें ।

5.147 लड़की को, नवयुवती को या वृद्धा को भी अपने घर में कोई काम स्वतंत्रतापूर्वक नहीं करना चाहिये ।

ब्राह्मणवाद अपनी विजय के बाद मुख्य रूप से जिस कार्य में जुट गया, वह था वर्ण को

---

1. पूर्वोक्त

जाति में बदलने का कार्य, जो बड़ा ही विशाल और स्वार्थपूर्ण था । ब्राह्मणवाद ने वर्ण को जाति में बदल दिया, इसका आशय यह है कि इसने पद और व्यवसाय को वंशानुगत बना दिया। इसके लिये निम्न तरीका अपनाया –

प्राचीन समय में गुरूकुल पद्धति थी। सभी बच्चे इसी गुरूकुल में शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाते थे। शिक्षा की अवधि बारह वर्ष होती थी। जब तक कोई बालक गुरूकुल में रहता था, वह ब्रह्मचारी कहलाता था। जब शिक्षा की अवधि पूरी हो जाती जिसमें आचार्य प्रत्येक विद्यार्थी का वर्ण निश्चित करते थे और उसे संसार में अपने वर्ण के कर्तव्य को पूरा करने के लिये वापिस भेज देते थे। ब्राह्मणवाद उस पद्धति से असंतुष्ट था । इस पद्धति के अधीन इस बात की पूरी सम्भावना बनी रही थी कि आचार्य ब्राम्हण के बालक को केवल शूद्र होने के योग्य घोषित कर दे। स्वाभाविक है कि ब्राम्हणवाद इस परिणाम की सम्भावना को दूर करने के बारे में अधिक चिन्तित था। वह वर्ण को वंशानुगत बनाना चाहता था। वह वर्ण को वंशानुगत बनाकर ही ब्राम्हण के बालक को शूद्र घोषित किये जाने से बचा सकता था। ब्राम्हणवाद ने तीन सबसे अधिक बुनियादी परिवर्तन किये – सबसे पहले गुरूकुल–पद्धति को खत्म कर दिया। इस पद्धति में गुरूकुल वह स्थान था, जहां बालक को प्रशिक्षण दिया जाता और जहां प्रशिक्षण की अवधि के पूरे होने पर गुरू उसके वर्ण का निर्धारण करता था । मनु को गुरूकुलों के बारें में पर्याप्त जानकारी थी और वह गुरूवास अर्थात् गुरू के अधीन गुरूकुल में प्रशिक्षण और निवास का उल्लेख करता है। लेकिन वह उपनयन के सम्बन्ध में गुरू का अप्रत्यक्ष रूप से भी उल्लेख न कर उपनयन कराने के सक्षम अधिकारी के रूप में गुरू की सत्ता को समाप्त कर देता है। गुरू के स्थान पर मनु बालक के पिता द्वारा अपने घर पर उपनयन करने की अनुमति देता है। प्राचीन काल में उपनयन दीक्षांत समारोह जैसा होता था, जो गुरू अपने गुरूकुल के विद्यार्थियों को उपाधियां प्रदान करने के लिये आयोजित करता था और उसमें किसी वर्ण विशेष के कर्तव्यों में दक्षता प्राप्त करने के प्रमाण–पत्र दिये जाते थे। मनु के नियमों में उपनयन का अर्थ और इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था का प्रयोजन बिल्कुल बदल गया। तीसरे उपनयन के साथ प्रशिक्षण का सम्बन्ध पूरी तरह उलट दिया गया। प्राचीन प्रणाली में प्रशिक्षण उपनयन के पहले था। ब्राह्मणवाद में उपनयन का स्थान प्रशिक्षण से पहले हो गया।[1]

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर ने मनुस्मृति के समीक्षात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट किया कि मनुस्मृति का मुख्य प्रयोजन ब्राह्मणवाद की स्थापना था।

---

1. बाबा साहेब, डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 7, पृष्ठ – 172

प्रतिक्रान्ति की दार्शनिक पुष्टि कृष्ण और उनकी गीता :–

प्राचीन भारत के साहित्य में भगवतगीता का क्या स्थान है ? क्या यह हिन्दूधर्म का उसी प्रकार का एक धर्म ग्रन्थ है, जिस प्रकार ईसाई धर्म का बाइबिल है। हिन्दू इसे अपना धर्म ग्रन्थ मानते हैं अगर यह धर्म ग्रन्थ है, तब यह वस्तुतः क्या शिक्षा देता है ? यह किस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है ? इन प्रश्नों पर व्यापक प्रतिक्रिया एवं समीक्षा डा0 अम्बेडकर ने प्रस्तुत की।[1]

डा0 अम्बेडकर भगवतगीता को ईश्वरीय वाणी नहीं मानते। उनके अनुसार भगवत गीता न तो धर्म ग्रन्थ है और न दर्शन का ग्रन्थ है । भगवत गीता ने दार्शनिक आधार पर धर्म के कतिपय सिद्धान्तों की पुष्टि की। उनके अनुसार भगवत गीता में सर्वप्रथम चातुर्वर्ण्य की दार्शनिक पुष्टि है। निस्देह भगवत गीता में बताया गया है कि चातुर्वर्ण्य ईश्वर का सृजन है और इसलिये यह अति पवित्र है। परन्तु गीता में यह इस कारण वैद्य नहीं बताया गया है । इसके लिये दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया गया है तथा उसे मनुष्य के स्वाभाविक और जन्मजात गुणों के साथ जोड़ दिया गया है। भगवत गीता में कहा गया है कि पुरूष के वर्ग का निर्धारण मनमाने ढंग से नही हुआ है। परन्तु उसका निर्धारण मनुष्य के स्वाभाविक और जन्मजात गुणों के आधार पर किया जाता है।[2]

गीता में जिन सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है, वे प्रतिक्रिया के सिद्धान्त है तो प्रतिक्रान्ति की बाइबिल, अर्थात जैमिनि कृत पूर्व मीमांसा में वर्णित है। भगवतगीता का उद्देश्य कर्म बनाम ज्ञान विषय पर कोई सामान्य या दार्शनिक चर्चा करना नही है। वास्तव में गीता का सम्बन्ध विशेष विषय से है सामान्य विषय से नहीं है। कर्मयोग अथवा कर्म के बारे में गीता का आशय उन सिद्धान्तों से है , जो जैमिनि के कर्म–काण्ड में दिये गये हैं और ज्ञान योग अथवा ज्ञान का आशय उन सिद्धान्तों से है, जो बादरायण के ब्रह्म सूत्र में दिये गये है। गीता में कर्म की चर्चा का आशय कर्म या अकर्म, निवृत्तिवाद या प्रवृत्तिवाद से नही है, सामान्य अर्थ में इस चर्चा का आशय धार्मिक अनुष्ठान तथा उनके पालन से है, और जिसने भी गीता को पढ़ा है, वह इस बात से इंकार नही करेगा।[3]

बौद्ध धर्म के तेजी से बढ़ते प्रभाव से जैमिनि के प्रति क्रान्ति सिद्धान्त डगमगा उठे थे और वे चकना चूर हो जाते, यदि उन्हें भगवत गीता का समर्थन न प्राप्त होता, और जो उन्हें भगवत गीता से मिला भी था, भगवत गीता द्वारा दिये गये प्रतिक्रान्तिवादी क्षत्रिय का कर्तव्य हत्या करना है, एक

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 252
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 257
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 258

बचकानी बात है।[1] चातुर्वण्य के सिद्धान्त की पुष्टि तथा व्यवहार में उसका अनुपालन ही भगवत गीता की मूल भावना प्रतीत होती है। कृष्ण यह कहकार संतुष्ट नहीं होते कि चातुर्वर्ष्य गुण–कर्म पर आधारित है और वह इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और दो आदेश देते है । पहला आदेश अध्याय 2, श्लोक 26 में दिया गया है। कृष्ण कहते हैं ; ज्ञानी व्यक्ति को प्रतिवाद कर अज्ञानी व्यक्ति के मन में संन्देह उत्पन्न नहीं कना चाहिये जो कर्मकांड का अनुसरण करता हो जिसमें निश्चय ही चातुर्वर्ण्य के नियम भी सम्मिलित है। अर्थात हमें लागों को उत्तेजित नहीं करना चाहिये कि कहीं वे कर्मकांड के सिद्धान्त और उसमें शामिल अन्य वातों के विरोध में न उठ खड़े हों । दूसरा आदेश भगवत गीता के अध्याय 18, 41–48 में दिया गया है इसमें कृष्ण ने कहा है कि प्रत्येक को अपने वर्ण के लिये निर्धारित कर्तव्य करना चाहिये और उन्हें अन्य कोई कर्तव्य नहीं करना चाहिये तथा वह उन लोगों को चेतावनी देते है, जो उनकी पूजा करते है तथा उनके भक्त हैं कि ये लोग भक्ति करने से ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगें, बल्कि इसके लिये उन्हें भक्ति के साथ उन कर्तव्यों को भीं करना होगा, जो उनके वर्ण के लिये निर्धारित हैं। संक्षेप में शूद्र चाहे जितना ही महान भक्त क्यों न हो, यदि उसने शूद्र के कर्तवय का उल्लंघन किया है, अर्थात उसने उच्च वर्गों के लोगों की सेवा में जीवन–यापन नहीं किया है तो, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। डा0 अम्बेडकर ने कहा कि दूसरी स्थापना यह है कि भगवत गीता का मुख्य आशय जैमिनी को नया समर्थन देना था और इसके कम से कम अंश जो जैमिनी के सिद्धान्तों की दार्शनिक आधार पर पुष्टि करते है, वे जैमिनी की पूर्व–मीमांसा के बाद और जब जैमिनी के सिद्धान्त कार्यान्वित हो चुके थे, तब लिखे गये थे। साथ ही उन्होंने कहा कि बौद्ध धर्म के क्रान्तिकारी और तार्किक विचारों के प्रसार के फलस्वरूप भगवतगीता के द्वारा प्रतिक्रान्ति के सिद्धान्तों की दार्शनिक आधार पर पुष्टि की जानी आवश्यक हो गई थी।[2]

डा0 अम्बेडकर ने धार्मिक सामाजिक इतिहास का अध्ययन करके जो शोध प्रस्तुत किये थे वे अभिनव है। धर्म ग्रंथों के आदेशों की समीक्षा की, ये ओदश किस तरह देश और समाज के अंधःपतन का कारण बने इसकी समीक्षा की । उन्होने कहा कि "यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों के प्रति मैने वह आदर प्रकट नहीं किया, जो धार्मिक पुस्तकों के प्रति होना चाहिये। धार्मिक पुस्तकों के प्रति श्रद्धा कराई नहीं जा सकती। यह श्रद्धा तो सामाजिक स्थितियों से स्वयं उत्पन्न होती है अथवा हटती है। धर्म ग्रन्थों के प्रति ब्राम्हणों की श्रद्धा तो स्वाभाविक है, परन्तु गैर ब्राम्हणों के लिये

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 260
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 261

यह अस्वाभाविक है। यह भेदभाव सरलता से समझा जा सकता हैं।[1]

उन्होनें इन धर्म ग्रन्थों को धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों, भोगवाद, कर्मकाण्ड, जाति–प्रथा बनाने एवं वर्णव्यवस्था आदि को मजबूत बनाने का श्रेय दिया है।

इस तरह डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म, हिन्दू सामाजिक जीवन–वर्ण, जाति, आश्रम, संस्कार, आचार–विचार एवं अस्पृश्यता आदि का यथार्थवादी चित्रण किया और उन्होंने पाया कि इन सभी के मूल में असमानता का सोपानात्मक स्तर एवं वर्ग विशिष्टता है। हिन्दू धर्म के सामाजिक व नैतिक नियम असमानता एवं अन्याय पर आधारित है । उनके अनुसार हिन्दुत्व का दर्शन न्याय और उपयोगिता की कसौटी को किसी प्रकार से सन्तुष्ट नहीं करता। हिन्दू धर्म की रूचि सर्व साधारण लोगों में नहीं है । हिन्दू धर्म की रूचि पूरे समाज में नहीं है । उसकी रूचि एक वर्ग के हित में केन्द्रित है और उसके दर्शन का सम्बन्ध भी केवल उस वर्ग के अधिकारों की रक्षा और समर्थन करने से है । इसलिये ही हिन्दू धर्म के दर्शन में सामान्य मनुष्य तथा उसके साथ–साथ सम्पूर्ण समाज के हितों को महा मानवों (ब्राह्मणों) के वर्ग हितों के लिये नकारा गया है, दबाया गया है और उनकी बलि चढ़ाई गई है। ऐसे धर्म का मनुष्य के लिये क्या महत्व है ?[2]

डा0 अम्बेडकर ने चातुर्य–वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत दैविक सामाजिक अभिशासन को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसमें स्वतंत्र व्यवसाय चुनने का कोई प्रावधान नहीं है। उसमें न तो आर्थिक स्वतंत्रता है, और न ही आर्थिक सुरक्षा । वह विभिन्न जातियों की स्तरीय अर्थात ऊंच–नीच पर आधारित एक कठोर व्यवस्था बन गयी है। जिसमें गम्भीर रूप की अनेक असमानतायें एवं पीड़ायें निहित हैं । वस्तुतः इस व्यवस्था ने मनुष्य को शक्तिहीन बना दिया है विशेषकर शूद्र–दलितों तथा स्त्रियों को । वह मनुष्य को नपुंसक बनाने की व्यवस्था है।[3]

स्वतंत्रता समाज के लिये आवश्यक होती है । यह मनुष्य के मूलभूत विकास के लिए आवश्यक हैं। विचरण की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कार्य करने की स्वतंत्रता, नागरिक स्वतंत्रता के अनिवार्य अंग हैं। यह मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक, राजनीतिक सभी प्रकार की उन्नति के लिये आवश्यक हैं। जहां इनका अभाव होता है वहां पर यथास्थिति रूढ़ हो जाती है । डा0 अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू समाज व्यवस्था इन सभी स्वतंत्रताओं को अस्वीकारती है।

हिन्दू धर्म व्यवसाय की स्वतंत्रता को नकारता है । मनु की योजना में प्रत्येक मनुष्य के लिये

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 8
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ –101
3. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 115–116

उसके जन्म के पहले ही व्यवसाय निश्चित कर दिया गया है। हिन्दू धर्म में इसके चयन का कोई अवसर नहीं है। जो व्यवसाय पूर्व निश्चित किये जाते हैं, उनका मनुष्य की योग्यता और पसंद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

ठीक यही बात राजनैतिक स्वतंत्रता के बारे में कही जा सकती है । हिन्दू समाज व्यवस्था में लोगों द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से बनी प्रतिनिधि सरकार की आवश्यकता को कोई मान्यता नहीं दी जाती। प्रतिनिधि सरकार इस सिद्धान्त पर आधारित होती है कि लोगों पर कानून का राज्य हो और कानून लोगों के प्रतिनिधियों द्वारा ही बनाया जा सकता है । समाज व्यवस्था में इस प्रतिपाद्य विषय के प्रथम भाग को ही मान्यता प्रदान की है, जिसके अनुसार लोगों के ऊपर कानून का राज्य होगा लेकिन यह इस प्रतिपाद्य विषय के दूसरे भाग की उपेक्षा करती है। जिसके अनुसार नियम (कानून) लोगों द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा ही बनाये जा सकते हैं । हिन्दू समाज व्यवस्था का सिद्धान्त यह है कि जिस कानून के द्वारा लोग शासित होते हैं, वह कानून पहले से ही बना हुआ है और वह वेदों में उपलब्ध है। किसी को भी इस कानून में संशोधन का अधिकार नहीं है। ऐसा होने के कारण लोगों द्वारा चुनी गयी प्रतिनिधि सभा अनावश्यक हो जाती है । राजनीतिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता होती है, जिसमें कानून बनाने की स्वतंत्रता होती है और सरकार को बनाने या बदलने का कोई तात्पर्य नहीं है, जिसके लिये हिन्दू समाज व्यवस्था में स्थान ही नहीं है।[2]

हिन्दू समाज व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ईश्वर ने मानव को अपने शरीर के भिन्न–भिन्न हिस्सों को पैदा किया है, अतः पाल या पवित्र स्थानों की यात्रा करने वाले पादरियों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों का इसमें कोई स्थान् नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय का भाई नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से पैदा हुआ है, जबकि क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं से पैदा हुआ है। क्षत्रिय, वैश्य का भाई नहीं है क्योंकि क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं तथा वैश्य उसकी जंघा से पैदा हुआ है। चूंकि कोई किसी का भाई नहीं है, अंतः किसी का रक्षक नहीं है।

इस सिद्धान्त ने, कि भिन्न–भिन्न वर्ण ईश्वर के भिन्न–भिन्न अंगों से पैदा हुये है, इस विश्वास को पैदा किया है कि यह ईश्वरीय इच्छा है कि वे सभी वर्ण अलग–अलग रहें तथा अपनी अलग–अलग पहचान बनाये रखें । इसी विश्वास ने हिन्दुओं में अलग–अलग रहने तथा अपनी अलग–अलग पहचान बनाये रखी । इसी विश्वास ने हिन्दुओं में अलग–अलग रहने तथा अपने शेष साथी

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ –60
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 145–146

हिन्दुओं से भिन्न, विशिष्ट पहचान बनाये रखने की भावनाओं को बल दिया है।[1]

बंधुत्व मानव के उस गुण का नाम है, जिसके अनुसार वह समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ प्यार–सम्मान का भाव रखता है और उनके साथ एकरस होने की इछा रखता है। इस *कथन* का स्पष्ट उल्लेख पाल ने किया कि – "कौमों के सभी इंसानों का खून एक समान है । उनमें से न तो किसी का खून यहूदी है और न यूनानी है, न कोई बंधक है और न कोई स्वतंत्र है न कोई पुरूष है और न कोई स्त्री है। वे सभी प्रभु ईसा की दृष्टि में एक समान है। यही भाव बंधुत्व का मूल है। बंधुत्व से सामाजिकता मजबूत होती है और इससे प्रत्येक व्यक्ति में एक ऐसा प्रभावशाली लगाव पैदा होता है, जिसके माध्यम से वह व्यावहारिक रूप से दूसरों के कल्याण के बारे में सोचता है। [2]

इस तरह डा० अम्बेडकर ने निष्क्रिय हिन्दु के दर्शन के सम्पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण करने के बाद यह उद्घोषणा की कि हिन्दू धर्म न्याय के मूलतत्वों – समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व के विरोधी है। धर्म द्वारा निर्धारित सामाजिक जीवन में सर्वत्र अन्याय एवं असमानता ने शूद्र एवं दलितों को पशु–तुल्य बना दिया। हिन्दू धर्म द्वारा स्थापित दैविक, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक न्याय तथा उपयोगिता के प्रतिकूल है। उनके शब्दों में "........... हिन्दू धर्म समता का शत्रु, स्वतंत्रता के प्रतिकूल और भ्रातृत्व का विरोधी है।"[3]

डा० अम्बेडकर ने मध्ययुगीन न्याय की अवधारणा को भी इसी जातिगत–भेदभाव, अत्याचार, छुआछूत पर आधारित माना । क्योंकि जमींदारों और सामन्तों में शोषक प्रवृत्तियां व्यापक रूप में व्याप्त थीं। साधु सन्तों ने इन बुराइयों के प्रति अपने ही ढंग से आवाजें बुलन्दी की, किन्तु अपने सद्प्रयासों के बावजूद वे इन बुराइयों का अन्त नहीं कर पाये। सामाजिक तथा अन्य लौकिक मानवीय सम्बन्ध उनकी इच्छाओं तथा शिक्षाओं के अनुकूल विकसित नहीं हो पाये, क्योंकि सामन्तवाद और जातिवाद ने सामाजिक स्थिति को चारों ओर दूषित कर रखा था । इसलिये साधु–सन्तों और अन्य धार्मिक सम्प्रदायों जैसे सिख धर्म एवं कबीर पंथ ने आदमी को ईश्वर के समक्ष उपस्थित कर सभी मानव प्राणियों की आध्यात्मिक समता की घोषणा की ताकि समाज में वह एक व्यावहारिक सिद्धान्त बन सके, लेकिन यह विचार अधिक कारगर सिद्ध नहीं हो पाया, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म ने पहले से दैविक, सामाजिक असमानता को मान्यता दे रखी थी। [4]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 129
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 126
3. डा० बाबा साहेब अम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड – 3, पृष्ठ – 66
4. डा० डी० आर० जाटव – डा० अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 93–94

मनुष्य और समाज की मध्ययुगीन अवधारणा को भी डा0 अम्बेडकर ने नहीं माना, क्योंकि यह ईश्वरवादी अवधारणा की ही एक उपशाखा थी। वस्तुतः डा0 अम्बेडकर की बुद्धि ने आदमी को ईश्वर की कृपा पर छोड़ना न्याय संगत नहीं समझा।[1]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार ब्रिटिश काल में भी प्रशासनिक निर्णय धार्मिक पूर्वाग्रह से लिये जाते थे। "धार्मिक पूर्वाग्रह इतना प्रबल है कि अस्पृश्यों को पुलिस बल में नौकरी नहीं दी जाती, अनेकानेक सरकारी कार्यालयों में अस्पृश्यों के लिये नौकरी पाना सम्भव नहीं है ....।"[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार समान् न्याय का अधिकार तभी कारगर सिद्ध होता जब इसे सभी जातियों एवं धर्मों पर समान रूप से लागू किया जाता है। परन्तु वर्तमान में प्रशासनिक निर्णय हिन्दुओं की स्थापित व्यवस्था के पक्ष में लिये जाते हैं। जैसे कि भारत की राजधनी से लेकर गांवों तक पूरे प्रशासन पर हिन्दू कुंडली मारे बैठा है । हिन्दू सर्वशक्तिमान की तरह है, जो प्रशासन की शाख पर बैठा है और कोने–कोने में हाथ फैलाये हुये है। कहीं ऐसा सुराख नहीं है, जिसमें से घुसकर कोई पुरानी व्यवस्था का विरोधी गुजर सके। कोई भी विभाग हो, राजस्व, पुलिस या न्याय, जहां भी देखिये, हिन्दू जमे हुये हैं। यदि स्थापित व्यवस्था जबसे चली आ रही है, तो इसका कारण है कि इसे सरकार के हिन्दू अधिकारियों का अच्छा समर्थ प्राप्त है । हिन्दू अधिकारी अपनी योग्यता के आधार पर ही शासन नहीं कर रहे हैं। वे लोगों पर उनकी जाति–कुजाति को ध्यान में रखकर प्रशासन कर रहे हैं। उनका सिद्धान्त सभी के लिये एक जैसा न्याय देना नहीं है। स्थापित व्यवस्था के अनुरूप न्याय उनका आदर्श है।[3]

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर ने प्रचलित न्याय की अवधारणा को धार्मिक पूर्वाग्रहों, रूढ़िवादी मान्यताओं एवं असमानता पर आधारित माना जो प्राचीन काल से आज तक जड़ीभूत हो गया है।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 94
2. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड़्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 35
3. पूर्वोक्त, खण्ड – 9, पृष्ठ – 164–165

पंचम अध्याय

डा० अम्बेडकर की न्याय अवधारणा

1. सामाजिक न्याय
2. धार्मिक न्याय
3. आर्थिक न्याय
4. राजनीतिक न्याय

डा0 अम्बेडकर की न्याय की अवधारणा

भारत में विशेषकर हिन्दू समाज में विद्यमान अन्याय, शोषण और उत्पीडन ने डा0 अम्बेडकर को न्याय के स्वरूप और विषय चिन्तन करने के लिये प्रेरित किया। क्योंकि जहाँ अन्याय होगा वही न्याय की धारणा उद्भूत होगी। वह भारत के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्रों में सदियों से व्याप्त अन्यायपूर्ण वातावरण को नही सहन कर पाये। उन्होने जीवन पर्यन्त ऐसी सभी सामाजिक व्यवस्थाओं का विरोध किया जो मानव जीवन में अन्याय, हिंसा को बढ़ावा देती है। वह हमेशा मानवीय, गरिमा, भ्रातृत्व, समानता, सामाजिक, आर्थिक, न्याय के लिये प्रयासरत रहे। डा0 अम्बेडकर की सम्पूर्ण विचारधारा मानव उत्थान की हिमायती है। चाहे वह उत्थान सामाजिक तथा राजनीतिक हो अथवा आर्थिक, नैतिक या धार्मिक। किन्तु यह उत्थान स्वयं आदमी का ही दायित्व होगा, न कि किसी देवी–देवता का। आदमी को अपनी स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व की सुरक्षा करते हुये, सहयोग, सद्भाव और सहभागिता को लेकर चलना चाहिये। उसे उदार एवं लोकतान्त्रिक होना चाहिये ताकि आदमी वैयक्तिक तनाव और सामाजिक कलह से मुक्त होकर प्रगति के पथ पर निर्भय होकर चल सके। डा0 अम्बेडकर ने न्याय के लिये मानव–मूल्यों स्वतन्त्रता, समता, करूणा, मैत्री, शान्ति, परोपंकारिंता और बंधुत्व को अत्यधिक महत्व दिया।[1]

डा0 अम्बेडकर ने न्याय की सामान्य धारणा प्रो0 बर्गवान से सहमत होते हुये दी है। उन्होनें कहा प्रो0 बर्गवान से अंच्छी न्याय की व्याख्या और किसी ने नहीं दी जैसाकि उनके अनुसार "न्याय का सिद्धान्त एक सारभूत सिद्धान्त है और उसमें लगभग उन सभी सिद्धान्तों का समावेश है, जो नैतिक व्यवस्था का आधार बने है। न्याय ने सदा ही समानता तथा (कार्य के अनुरूप) 'क्षतिपूर्ति' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। निष्पक्षता से समानता उभरी है। नियम और नियमन, न्यायपूर्ण और नीतिपरायणता, ये मूल्य के रूप में समानता से जुड़े हुये है। यदि सभी मनुष्य समान है, तब वे सभी एक समान तत्व के है और यह समान तत्व उन्हे समान है,

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाज शास्त्रीय विचार – पृष्ठ – 10, 11

तब वे सभी एक समान तत्व के हैं और यह समान तत्व उन्हें समान मौलिक अधिकार तथा समान स्वतन्त्रता के योग्य बनाता है।''[1]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार न्याय का दूसरा सरल नाम है स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व ।[2] स्वतन्त्रता स्वतन्त्र समाज के लिये अनिवार्य है। उन्होने स्वतन्त्रता को व्यक्तित्व के विकास की प्राथमिक आवश्यकता बताया । उनके अनुसार स्वतन्त्रता दो रूपों में अभिव्यक्त होती है। प्रथम नागरिक स्वतन्त्रता के रूप में दूसरी राजनीतिक स्वतन्त्रता के रूप में। नागरिक स्वतन्त्रता मौलिक स्वतन्त्रता है। क्योंकि इसमें विचार अभिव्यक्ति विश्वास और कार्य करने की स्वतन्त्रता निहित है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के द्वारा ही व्यक्ति कानून बनाने तथा सरकार को बनाने अथवा बदलने में भागीदार होता है।[3] अतएव स्वतन्त्रता को वह व्यक्ति के बौद्धिक, नैतिक, राजनैतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की उन्नति के लिये आवश्यक मानते है।

समानता क्यों परमावश्यक है ? इस सम्बन्ध में उन्होने प्रो0 बियर्ड की परिभाषा उदृत की है ''समानता एक निरर्थक शब्द है, किन्तु इसका कोई विकल्प भी नही है। समानता का अर्थ,ठीक वैसा ही है अर्थात् माप, तोल, गुण, धर्म और कर्म में समान यह एक ऐसा शब्द है जो भौतिक शास्त्र तथा गणित मे तो चल सकता है, लेकिन मानव के साथ उपयोग में लाने पर सटीक अर्थ नहीं देता। जिन सिद्धान्तों ने इस विषय का सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, उसका विचार है कि मानव–समाज में मौटे तौर से तो मूल प्रवृत्तियाँ एक जैसी होती है, किन्तु जब इन प्रवृत्तियों का विस्तार होता है, तब उनमें पूरी तरह भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है। उस समय उनकी सार्वभैमिकता विलीन हो जाती है। क्यों इन लक्षणों को मौलिक गुण, जैविक आवश्यकता अथवा अवशिष्ट कहा जाये या कोई अन्य छोटा मोटा नाम दिया जाये। कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि उनका अस्तित्व होता है। शारीरिक शक्ति, कला–कौशल, भौतिक, सम्पत्ति या मानसिक क्षमता में असमानताये, स्वाभाविक हैं। लेकिन इस विषय पर बल देने की आवश्यकता है। अंत में यह तथ्य सामने आता है कि मूलभूत लक्षण सभी मानवों में विद्यमान होते

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय खण्ड – 6, पृष्ठ – 43
2. पूर्वोक्त – पृष्ठ – 43
3. पूर्वोक्त – पृष्ठ – 126–127

हैं। उनकी प्रकृति तथा अभिव्यक्तियों को 'नैतिक समानता' कहा जा सकता है।[1]

नैतिक समानता का अर्थ है आचार–विचार की समानता। यह एक विश्वास है, अधिकारों की ऐसी मान्यता है, जिसका आदर किया जाना चाहिये। इसको वैसे तो प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, जैसे गणित के प्रश्न हलकर दिये जाते है। इसे शारीरिक शक्ति, प्रतिभा, उद्योग तथा सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताओं के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। यह इस बात का निषेध करती है कि मात्र शारीरिक रूप से बलिष्ठता के आधार पर कोई निर्बलो को मारे खाए या सताये। इसी प्रकार नैतिक समानता के अनुसार प्रतिभा तथा सम्पत्ति के मामले में भी कोई छूट नहीं दी जा सकती।[2]

आदमी की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने के लिये, समानता की भूमिका परिलक्षित की जाती है। समानता आदमी को आदमी, समूह को समूह और समुदाय को समुदाय के साथ बॉधती है। भाई चारे से सामाजिकता मजबूत होती है और इससे प्रत्येक व्यक्ति में एक ऐसा प्रभावशाली लगाव पैदा होता है, जिसके माध्यम से वह व्यावहारिक रूप से दूसरो के कल्याण के बारे में सोचता है।[3]

समानता लोगों की एकता के सूत्र में बाधने का एक मुद्दा है। इस प्रकार न्याय की प्रक्रिया में एक आदर्श दूसरे की सम्पूर्ति करता है, उसे सम्पूर्ण बनने की दिशा में सहयोग देता है। यदि उन्हें उदार वृष्टि से समझा जाये और उनके अनुरूप व्यवहार किया जाये तो वे न्याय की धारणा को व्यावहारिक बना सकने में सक्षम सिद्ध होगे।[4]

डा0 अम्बेडकर ने वर्णव्यवस्था के विचार, प्लेटो के न्यायदर्शन, नीत्शे के विचार दैविक कानून, मार्क्सवादी सिद्धान्तों को नकार दिया। वर्ण व्यवस्था द्वारा निर्धारित सामाजिक न्याय को उन्होने ब्राह्मणवादी वर्चस्व का षड़यन्त्र माना। प्लेटो के न्यायदर्शन को भी उन्होने नकार दिया। प्लेटो की रिपब्लिक में कार्य विशेषीकरण एवं वर्ग विभाजन की न्यायिक स्थिति जाति एवं वर्ण व्यवस्था का स्वरूप धारण कर लेती है जो राज्य में एकता के स्थान पर विषमता उत्पन्न

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ 124–125
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ 125
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ 126
4. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 67

करती है। एक ओर तो वह कहता है कि समाज का कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के कार्यो में हस्तक्षेप नहीं करेगा, किन्तु दूसरी ओर उसने अपने शासक वर्ग को राज्य पर निरकुंश शासन करने का सम्पूर्ण अधिकार दिया है जो दूसरे वर्गो के कार्य में घोर हस्तक्षेप कहा जा सकता है। शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिये यदि शासक वर्ग उत्पादक वर्ग के कार्यो में हस्तक्षेप करता है तो यह न्याय के सिद्धान्त के विरूद्ध होना चाहिये, किन्तु यदि वह ऐसा नही करता है तो आदर्श राज्य में शासन व्यवस्था सुचारू रूप से नही चल सकेगी।[1] नीत्शे ने तो समस्त न्याय को अतिमानव (सुपर मेन) की कृपा व इच्छा का विषय मान लिया। जो कुछ अतिमानव अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कहता है, वही शुभ, उचित और न्याय है। डा0 अम्बेडकर के शब्दों में "नीत्शे का दर्शन है सत्तालोलुपता हिंसावृत्ति, आध्यात्मिकता का परित्याग, महामानव के हित में सामान्य जन की दासता और अद्योगति। उसके दोषपूर्ण दर्शन ने उसके अपने ही समय के लोगों के दिलो दिमाग में जुगुप्सा तथा भय उत्पन्न किया था।"[2]

सामाजिक न्याय की मार्क्सवादी धारणा भारत के पद दलित, कमजोर तथा पिछड़े वर्गो के सन्दर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण लगती है। इस धारणा ने शोषित वर्गो के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों की अच्छे ढंग से वकालत की है। लेकिन डा0 अम्बेडकर ने इस धारणा को भारतीय सामाजिक स्थिति में उपयुक्त नहीं पाया। यद्यपि मार्क्सवादी न्याय की धारणा में, सामाजिक न्याय के आर्थिक एवं लौकिक पक्षों पर अधिक बल दिया है, पर उसमें सार्वभौम प्रमाणीकरण की कमी है।[3]

डा0 अम्बेडकर ने गांधीवादी विचारधारा को भी नकार दिया क्योंकि गांधीवाद वर्णभेद को भूतकाल के इतिहास की ही वस्तु नही मानता, प्रत्युत इसे आधुनिक आवश्यकता भी समझता है। वर्गसरंचना गाँधीवाद का एक आधारभूत सिद्धान्त है।[4]

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर की न्याय अवधारणा स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की त्रयी में समाविष्ट है। जो सामाजिक जीवन में जाति–पाँत, स्त्री–पुरूष, ऊँच–नीच की भावना को

---

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास, पृष्ठ – 60
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड – 6, पृष्ठ–148
3. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ–73
4. बुद्धशरण हंस – अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 22

समाप्त कर बन्धुत्व की स्थापना से जुड़ी है। धार्मिक जीवन में पूर्वाग्रहों, रूढ़िवादी मान्यताओं को समाप्त कर धर्म के सेवामय रूप को स्थापित करने पर जोर देती है। आर्थिक जीवन में असमानता अन्याय को समाप्त करने एवं राजनीतिक जीवन में सार्वजनिक नीतियों के निर्धारण के लिए सबकी समान सहभागिता की पक्षधर है।

सामाजिक न्याय :—

''अम्बेडकर के समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुता के सिद्धान्त बुद्धवाद से प्रभावित है। अम्बेडकर ने इसे अपने सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का एक बड़ा आधार माना।[1]

डा0 अम्बेडकर सामाजिक अनुचिन्तक थे। इन्होने जाति वर्ण, अस्पृश्यता एवं रूढ़िगत मान्यताओं में जकड़े समाज का गहराई से अध्ययन किया। डा0 अम्बेडकर की मान्यता है कि वर्णाश्रम धर्म ने ही जाति—पाँति, छुआ—छूत, दासता, धर्मान्धता, अशिक्षा, भेदभाव आदि की बुराइयाँ पैदा की जिन्होने मानव व्यक्तित्व की गरिमा तथा सम्मान को नष्ट किया। अतः वह ऐसे समाज के निर्माण के प्रति सचेष्ट थे जहाँ शोषण, अत्याचार, अन्याय, असमानता, छूआछूत, जातिवाद न हो। भारतीय सामाजिक जीवन में दलित पीड़ित अछूतो को अन्याय एवं शोषण से बचाने हेतु उन्होने सामाजिक जीवन में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की स्थापना पर जोर दिया। उन्होने इस अन्याय से मुक्ति हेतु सामाजिक जन—जागरण पर जोर दिया, "Social Conscience is the only safeguard of all rights, fundamental ar non fundamental."[2] डा0 अम्बेडकर ने वर्णाश्रम धर्म को सामाजिक न्याय की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा माना। इसमें प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिये, कर्तव्य निर्धारित एवं वितरित करते समय, सामाजिक असमानता को एक अधिकृत सिद्धान्त मान लिया। वर्णश्रम व्यवस्था में सर्वोत्तम और पवित्र प्रतिष्ठा केवल एक ही वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों को प्रदान की गई। अन्य तीनों वर्णो के लोगों को उनसे हीन माना गया। सबसे अधिक अधिकार ब्राह्मणों को दिये गये और सबसे निम्न स्तर पर शूद्रों को रखा गया यह कहते हुये कि ये लोग जन्म से अयोग्य और अक्षम होते है। अतः उन्हें इन तीनों वर्णो के लोगों की सेवा ही करनी चाहिये। प्रत्येक चीज को, चाहे वह धर्म हो या नैतिकता, कानून हो या राज्य ब्राह्मण वर्ग के हितो

---

1. G. S. Lokhande, Bhimrao Ramji Ambedkar : A Study in Social Democracy (New Delhi, Sterling Publishers Pvt. Ltd. 1977) Page No. 22
2. Ambedkar, Ranade, Gandhi & Jinnah, Page No. - 35

की सुरक्षा की दृष्टि से ही परिभाषित किया गया।[1] डा0 अम्बेडकर के अनुसार, वर्ण व्यवस्था में स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के आदर्शो के लिये कोई स्थान नहीं है। उसमे सामाजिक असमानता का पोषण और मानव व्यक्तित्व की गरिमा का पतन होता है। उसमे उन लोगों, विशेषकर–शूद्र–दलितों की आर्थिक सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है जो ब्राह्ाण वर्ग से निम्न स्तर पर आते है। वर्ण–व्यवस्था में स्तरीय चरित्र मिलता है और सामाजिक असमानता को समाज का अधिकृत आदर्श माना गया है। इसलिये डा0 अम्बेडकर ने वर्णाश्रम धर्म के सम्पूर्ण सामाजिक न्याय का जो सार तत्व है, वर्णाश्रम धर्म उसका प्रतिरोधी है।[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिये भले ही वर्ण विभाजन को अपेक्षित समझाा गया, किन्तु कालान्तर में उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप और आदर्श नही रह पाया। उसका आधार रंग, चयन अथवा गुण माना गया, किन्तु वह जन्मानुसार व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं योग्यता में आबद्ध हो गई। जन्म से ही ब्राह्ाण भले ही मूर्ख हो, जन्म से ही क्षत्रिय भले ही डरपोक हो, जन्म से ही वैश्य भले ही भीख मांगता हो, और शूद्र भी जन्म से ही, भले ही वह निपुण सबल और कमाऊ पुत्र क्यों न हो। अतः गुण–कर्म की दृष्टि से वर्णो के आदर्श, कर्तव्य तथा अधिकार सुरक्षित नही रह पाये, क्योंकि सारी सत्ता, दिव्यता और कुशलता ब्राह्मण वर्ण में ही मानी गई जिनका उसके द्वारा दुरूपयोग किया गया। फलतः सारा भारतीय समाज वर्ण विभाजन के स्थान पर जाति विभाजन की स्थिति में आ गया।[3]

इस तरह डा0 अम्बेडकर वर्ण व्यवस्था को ही जाति का मूलाधार मानते है। जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज की पारस्परिक कलह, घृणा और भिन्नता के भावों से ऐसा जर्जित बना रखा है कि हिन्दू एक जाति या एक राष्ट्र के रूप में संगठित नही हो सकते।[4] जाति का हिन्दुओं की आचार पद्धति पर प्रभाव अति शोचनीय है। जाति ने लोक भावना की हत्या कर दी है। जाति ने जन कल्याण की भावना को नष्ट कर दिया है। जाति ने जनमत को असम्भव बना दिया है। एक हिन्दू की जनता उसकी जाति है। उसकी जिम्मेदारी केवल उसकी जाति तक ही है। उसकी

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 69
2. राईटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृष्ठ – 25–29
3. Dr. Ambedkar - Annihilation of caste, Page No. 43
4. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार पृष्ठ – 22

भावना केवल उसकी जाति तक ही सिमटी है। सद्‌गुण जातिगत बन गये है और नैतिकता जाति–बंधन तक सिमट गई है। योग्य के लिये कोई सद्‌भावना नही है। श्रेष्ठ गुणवान की प्रशंसा नही। जरूरतमन्द के लिये कोई उदारता नही। इस प्रकार की पीड़ाओं के लिये कोई उत्तरदायित्व नही, उदारता है परन्तु यह जाति से प्रारम्भ होती है और समाप्त जाति से ही होती है।[1] अतएव डा0 अम्बेडकर आदर्श समाज की स्थापना के लिये वर्ग और जाति दोनों को समाप्त करना चाहते है। हिन्दु सामाजिक ढ़ाचे में सुधार के लिये वह जाति प्रथा समाप्त करना आवश्यक मानते है।

जाति–भेद का उन्मूलन :–[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार कुछ सुधारकों का मत है कि उपजातियों को जो हजारों की संख्या में है, घटाकर चार वर्णो में कर देना चाहिये। इनका ख्याल है कि जिन उपजातियों में रस्म–रिवाज जिस वर्ण या प्रमुख जाति से मिलते हो, उसको उसमे मिला देना आसान तरीका है। मेरी समझ में यह कल्पना ही गलत है, क्योंकि पहले तो प्रमुख वर्णो में ही सदृशता नही है। जैसे कि उत्तरी और मध्य भारत के ब्राह्मण अधिकतर 'रसोइए' और 'पानी पांडे' तथा कश्मीर और बंगाल के ब्राह्मण प्रायः मांसाहारी है, इनकी अपेक्षा बम्बई और मद्रास के ब्राह्मणों का खान–पान और सामाजिक स्थिति बहुत ऊँची है। इनका यह भेद कैसे मिटेगा ? इसी तरह उत्तर भारत, बिहार और बगांल के कायस्थ योग्यता में दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के समकक्ष है तथा निरामिषता की दृष्टि से गुजराती, मारवाड़ी और जैनी दक्षिणी ब्राह्मणों के समतुल्य है। ऐसी दशा में किसको किस वर्ण में ठूंसा जायेगा? फिर आधुनिक समाज के इंजीनियर, डाक्टर, प्रोफेसर, लैक्चरर, शायर, एडिटर, लेखक, कलाकार, टैक्नीशियन, वैज्ञानिक, इत्यादि जिनमें सभी उपजातियों के लोग है– इन सबको किस वर्ग में घुसेड़ा जायेगा ? क्षणभर के लिये मान भी लिया जाये कि हजारो उपजातियाँ चार वर्गो में ठूँस दी गई है। तब भी चार का जाति–भेद बना रहा और यह प्रमुख जाति भेद प्रबल होकर क्या और अधिक अनिष्टकारी न हो पायेगा ? फिर उपजातियों के टूटने के साथ ही क्या इनके द्वारा होने वाले सामाजिक काम बन्द हो जायेगे इसलिये यह ख्याल गलत ही नही, अनिष्टकारी और असम्भव भी है।

---

1. डा0 भीमराव अम्बेडकर लेख – जाति प्रथा का विनाश, पृष्ठ – 15 उद्घृत – आज के प्रश्न – 13 जाति का जहर – सम्पादक, राजकिशोर ।
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 23

डा0 अम्बेडकर के अनुसार कुछ लोगों का मत है कि अन्तर्जातीय सहभोज होने चाहिये। इससे जाति भेद मिटेगा। मेरे विचार में यह उपाय भी अपर्याप्त है, क्योकि सहभोज अर्से से हो रहे है। इसका जाति–भेद मिटने पर कोई असर नहीं हुआ।

डा0 अम्बेडकर के मत में जाति–भेद मिटाने का वास्तविक उपाय अन्तरजातीय और अन्तर–वर्णीय विवाह हो सकते है। केवल रक्त मिश्रण ही स्वजन, आत्मीय और मित्र होने का भाव पैदा कर सकता है। जब तक यह आत्मीयता, बन्धुता और मित्रता का भाव प्रधान नही होता, जब तक जाति भेद द्वारा उत्पन्न किया हुआ मित्रता का दुर्भाव दूर नही होगा। जाति भेद मिटाकर हिन्दूओं के सामाजिक जीवन को तेजस्वी बनाने का यही एक सही उपाय है।[1]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार जाति–भेद, वर्णभेद, अधिकार भेद, अस्पृश्यता इत्यादि बुराइयो को मिटाने का मौलिक उपाय हिन्दूशास्त्रों का विरोध और उनके विरूद्ध घृणा का प्रचार करना है। व्याकरण और तर्क द्वारा शास्त्रों का अर्थ बदलना उपयुक्त नही। हममे यह कहने का साहस होना चाहिये कि सारी खराबी की जड़ हिन्दू धर्म ग्रन्थ है, जिन्होने जाति भेद और वर्ग भेद की पवित्रता का प्रचार किया।[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार "जाति प्रथा के समाप्त होने पर ही अस्पृश्यता का अन्त होगा। जाति प्रथा को समाप्त किये बिना अस्पृश्यता के विनाश की आशा करना बालू की भीत बनाना है। यह विचार कि जाति प्रथा और अस्पृश्यता, दोनों अलग–अलग है, एक दिवा–स्वप्न है। दोनो एक ही है और इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अस्पृश्यता, जाति–प्रथा का ही परिणाम है।"[3]

स्त्री–पुरूष समानता :–

न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हेतु डा0 अम्बेडकर स्त्रियों के उत्थान के प्रबल समर्थक थे । प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक भारतीय नारी की सामाजिक यात्रा पर दृष्टिपात करे तो ज्ञात होता है कि नारी को अनेकानेक सामाजिक बन्धनों, निर्योग्यताओं ने नारी के स्वतन्त्र विकास को प्रभावित किया। सामान्यतः यह कहा जाता है कि भारतीय समाज में नारी की सामाजिक

---

1. डा0 भीमराव अम्बेडकर लेख – जाति प्रथा का विनाश, पृष्ठ – 24 उद्घृत जाति का जहर – सम्पादक, राजकिशोर
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 24
3. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड – 9, पृष्ठ 158–159

स्थिति सम्मानपूर्वक रही। उसे शक्ति के साकार रूप में माना गया और स्त्रियों की लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा के रूप में पूजा–अर्चना की जाती रही। नारी को पुरूष का सहयोगी अथवा अर्द्धांगिनी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया । कालान्तर में कहा जाता है, यह सामाजिक स्थिति बदलती गई और पुरूष इनके मान–सम्मान तथा अधिकारों को छीनता गया। फलतः उनकी स्थिति में गिरावट व अवनति आती गई। नारी वर्ग के लिंये सर्वाधिक प्रतिकूल स्थिति उस समय आई जब मनु–स्मृति को सामाजिक एवं विधिक मान्यता मिली।(1)

मनु ने नारी के लिये वेदाध्ययन धार्मिक कार्यो का एवं सम्पत्ति का अधिकार निषिद्ध किया। डा0 अम्बेडकर के अनुसार– मनु से पहले नारी स्वतन्त्र थी और पुरूष की समान भागीदार थी। मनु ने उसे पदावनत क्यों किया ?(2)

उपर्युक्त उद्धरण तो एक ऐसा संकेत देता है जिससे डा0 अम्बेडकर का तात्पर्य है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति कुछ भी रही हो, किन्तु मनुस्मृति के पश्चात् उनकी ऐसी अवनति तथा दुर्गति हुई कि वे स्वतन्त्र भारत में अभी तक बराबरी का मान सम्मान प्राप्त नहीं कर पायी है। नारी उत्थान में डा0 अम्बेडकर की बहुत रूचि थी। यही कारण है कि उन्होने अपने भाषणों, लेखों और ग्रन्थों में बाल–विवाह, विधवा पुनर्विवाह, स्त्रियों की सम्पत्ति में हिस्सेदारी, स्त्रियों की शिक्षा तथा स्वतन्त्रता, उनके प्रति मान सम्मान का व्यवहार जैसे मुद्दों को उठाया और चाहा कि हमारे यहाँ के सामाजिक एवं विधिक नियमों को बदला जाये ताकि स्त्री–पुरूषों को समान स्तर, अवसर और अधिकार सुलभ हों। डा0 अम्बेडकर का उद्देश्य मात्र प्राचीन समाज व्यवस्था का परिमार्जन करना ही नही था, अपितु वह नयी समाज व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। मनुस्मृति ने नारी की सामाजिक स्थिति को प्राचीन भारत में जितना पतनोन्मुख बनाया, स्वतन्त्र भारत के संविधान में डा0 अम्बेडकर ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को उतना ही उन्नतशील और उत्थानोन्मुख बनाया जैसा कि नीति निर्देशक सिद्धान्तों और मौलिक अधिकारों के प्रावधानों में अन्तर्निहित है।(3)

डा0 अम्बेडकर भारत के पुरूष शूद्रों, अति शूद्रों तथा अछूतों की दयनीय सामाजिक

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 51
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड –7, पृष्ठ – 339
3. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 60

स्थिति के प्रति जितने सजग थे, वह भारतीय समाज में अति–पीड़ित समझे जाने वाली महिलाओं की दशाओं के विषय में भी उतने ही सचेत थे।

He advised "women to learn to be clean, Keep away from vices, give education to their children, remove from them all inferiority complex, instil ambition into them, inculate in their minds they were destined to be great and not to be in a hurry to marry"[1]

He always said, Never regard yourself an untouchable "[2]

यह मात्र दलित वर्ग की महिलाओं के लिये ही आह्वान नहीं था, अपितु समस्त भारतीय समाज में रहने वाली महिलाओं के लिये यह संदेश था कि नारी वर्ग की उन्नति, शिक्षा और संगठन के बिना, समाज का सांस्कृतिक तथा आर्थिक उत्थान अधूरा है । सन् 1955 में डा. अम्बेडकर ने 'हिन्दू कोड बिल' की रचना एवं प्रस्तुति समस्त नारी जगत की मुक्ति के लिये एवं घोषणा पत्र के रूप में भारतीय ससंद में की थी।[3] इस बिल में विवाह–विच्छेद, तलाक, दत्तक लेने में भागेदारी, सम्पत्ति में बेटे के बराबर बेटी की भागेदारी और उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार प्रावधान किया गया। [4]

भ्रातृत्व की भावना का प्रसार :–

डा० अम्बेडकर ने भारतीय स्थिति में भ्रातृत्व पर अत्यधिक बल दिया । उनकी दृष्टि में सामाजिक न्याय के लिये वास्तव में हम जो चाहते हैं वह भ्रातृत्व ही है। राजनीतिक एवं आर्थिक न्याय की तुलना में उस सामाजिक न्याय की अधिक आवश्यकता है जो मूलतः भ्रातृत्व पर आधारित है। अतः भ्रातृत्व सामाजिक न्याय की आधारभूत शिला है। भारत में सामाजिक न्याय के लिये भ्रातृत्व क्यों आवश्यक है ? जैसा कि डा. अम्बेडकर ने कहा "भ्रातृत्व भाई चारे की भावना का दूसरा नाम है। यह उस भावना में अन्तर्निहित है जो किसी व्यक्ति को दूसरों की भलाई की ओर ले जाती है जिसके कारण दूसरों की भलाई उसके लिये स्वभावतः और अनिवार्यतः हमारे अस्तित्व की भौतिक दशाओं की ओर ध्यान देना पड़ता है।"[5] इसी भातृ–भाव के कारण ही कोई

---

1. W. N. Kuber, Dr. Ambedkar - A Critical Study, Page No. - 290
2. Keer, Ambedkar : Life and Mission, Page No. 104 - 105
3. डा० डी० आर० जाटव – डा० अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 61
4. इस बिल की विस्तृत चर्चा कानूनी प्रयासों में की गई है ।
5. राईटिंग्स एण्ड स्पीचेस, पृष्ठ – 44

व्यक्ति अपने हितों का सार्वजनिक हित में बलिदान कर देता है। एक बार जब कोई आदमी भ्रातृ–भाव से ओत प्रोत हो जाता है, वह स्वतः सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में भागीदार बनेगा और उसे विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावी बनाने के लिये अपना सहयोग और सद्भाव प्रदान करेगा। डा. अम्बेडकर की दृष्टि में, भ्रातृत्व सर्वोच्च मानव मूल्य है जो आदमी को दूसरों की भलाई करने के लिये सम्प्रेरित करता है। ऐसा आदमी समाज सेवा के लिये लालायित रहता है और दूसरों का जान बूझकर अहित नहीं करता। वह आदमी, जो भ्रातृत्व से अभिभूत है, किसी कानून की बाध्यता के बिना, इस प्रकार प्रबुद्ध बन जाता है कि वह स्वतः सामाजिक न्याय के मार्ग का अनुसरण करेगा। वह मानव मूल्यों में निष्ठा रखते हुये, सामाजिक असमानता, अन्याय एवं शोषण से दूर रहेगा। यही वह सामाजिक न्याय की निश्चित धारणा है।[1] उनका दृढ़ विश्वास था कि "राष्ट्रवाद तभी औचित्य ग्रहण कर सकता है, जब लोगों के बीच जाति नस्ल या रंग का अंतर भुलाकर उसमें सामाजिक भ्रातृत्व को सर्वोच्च स्थान दिया जाये।"[2] उनका समाज शास्त्रीय चिन्तन न्यायपूर्ण समाज की स्थापना में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों को आवश्यक मानता है [3] –

1. किसी प्रकार की काल्पनिक स्थिति तथा आदर्श की स्थापना में शिक्षित एवं प्रबुद्ध आदमी को विश्वास नहीं करना चाहिये। दर्शन अथवा चिन्तन ऐसा हो कि वह यह आश्वासन दे कि वह व्यवहार योग्य है, और व्यावहारिक जगत में उसके परिणामों की समुचित समीक्षा होनी चाहिये ताकि समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल उनमें परिवर्तन प्रभावी बनाये जा सकें।

2. समाज व्यवस्था में दिव्यता एवं अकाट्यता से कही अधिक महत्व बुद्धि तथा सिद्धान्त, जन भावना एवं जन हित का होता है। समाज तथा संस्कारों की पुनर्रचना के विषय में तो विशेष तौर पर ऐसा ही है। सभी नागरिकों की सामान्य रूचि एवं हित का ध्यान रखना किसी भी समाज व्यवस्था में एक अनिवार्यता है।

3. समाज, धर्म, वर्ण, आश्रम, जाति, संस्कार, विचार, सम्पत्ति, परिवार आदि में नित्य एवं दिव्य नियमों का कोई महत्व नहीं है। यह समस्त मानव व्यवस्था उसी भांति परिवर्तनशील है जिस भाँति यह प्राकृतिक जगत । अतः जीवन में ऐसे आदर्श अथवा नियम हो जिन्हें किसी संकोच के बिना

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 75
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड–6
3. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाज शास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 127

सर्व साधारण की भलाई एवं उत्थान हेतु आसानी से बदला जा सके।

4. सामाजिक पुननिर्माण की प्रक्रिया में सुरक्षा, परस्पर मान–सम्मान, स्वतन्त्रता, समता तथा बंधुत्व जैसे मानवीय आदर्शों को पूर्णतः समाविष्ट किया जाना चाहिये ताकि पुरातन व्यवस्था के दोषों, अंधविश्वासों एवं दुष्परिणामों से मुक्ति मिल सके।

5. भारतीय समाज व्यवस्था लोकतन्त्र में अन्तर्निहित मूल्यों के आधार पर विकसित हो जैसा उदारता, सहयोग, सहमति–असहमति में सहभागिता ताकि कोई वर्ग तथा सम्प्रदाय अपेक्षित और तिरस्कृत होने की स्थिति का सामना एवं अनुभव न कर पाये।

6. आधुनिक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक उन्नति एवं उत्थान में नारी वर्ग की समुचित सहभागिता होना भारतीय स्थिति में सांविधानिक प्रावधानों के अनुरूप अनिवार्य है। नारी एवं पुरूषों में समानता का व्यवहार देश की लोकतान्त्रिक व्यवस्था की एक पहचान है।

7. मनुष्य का संसार यह समाज ही है। मानव प्राणियों के समूह सहभाव, सहयोग और सहभागिता से उत्पन्न भ्रातृत्व के प्रति लगाव जुड़ाव से सम्यक सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। इन सम्बन्धों से ही मानव जीवन की सार्थकता उद्भूत होती है।

8. देश, काल, परिस्थिति सामाजिक पर्यावरण के प्रति मानव का बदलता दृष्टिकोण, आन्दोलन, संघर्ष और क्रान्ति को जन्म देता है। फलतः मानवीय सम्बन्धों में समयानुकूल वांछनीय परिवर्तन होना अनिवार्य है और इसी से समाज, परिवार, धर्म, संस्कृति तथा संस्कार प्रभावित एवं प्रखर होते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समस्त मानव प्राणियों की एकता तथा समानता, सभी स्त्री–पुरूष की समान प्रतिष्ठा, कमजोर एवं निम्न जाति के लोगों के प्रति सम्मान की भावना, समान मानव अधिकारों के प्रति निष्ठा पारस्परिक प्रेम की भावना, सामाजिक सदभाव की प्रचुरता अन्य नागरिकों के साथ बन्धुत्व, भाव, सभी मामलों में मानवीय व्यवहार, सभी नागरिकों की गरिमा जातिगत भेद–भावों का अन्त,- मैत्री–भाव, शुभ–संकल्प कुछ ऐसे तत्व है जो डा0 अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की धारणा का निर्माण करते हैं।

धार्मिक न्याय :–

भारतीय समाज सदा से ही धर्मपरायण समाज है और संसार में अपनी इसी विशेषता के कारण उसका आदर है। धर्म की यह परस्परा भारतीय समाज की अति प्राचीन परम्परा है और पूर्व–वैदिक काल से इसकी निरन्तरता अविछिन्न रूप में बनी हुई है। धर्म ही भारतीय जीवन का सर्वोच्च आदर्श माना गया है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के सभी क्रिया–कलापों का अन्तिम लक्ष्य धर्म संचय करना है। भारतीय समाज व्यवस्था (Social System) का विकास पाश्चात्य समाज के विकास की भांति अर्थ या भौतिक वस्तुओं को आधार मानकर नहीं हुआ है। जिस प्रकार पाश्चात्य समाज अर्थ व भौतिक सुख प्राप्ति पर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्य में भौतिक सुख को प्रमुखता देता है, उसी प्रकार भारतीय समाज धर्म पर अवलम्बित है। जीवन के प्रत्येक छोटे–बड़े कार्य जहां धर्म के आधार पर व्यस्थित होते हैं। 'धारयतीति धर्मः' । जो समाज व्यक्ति का धारण करे वह धर्म है। यह धर्म की पहली परिभाषा जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है – उष्णता न हो तो अग्नि की सत्ता नहीं रह जायेगी – ऐसे ही धर्म न हो तो हिन्दू समाज भी अस्तित्वहीन, अर्थहीन हो जायेगा। धर्म पर ही इसकी संस्कृति अवलम्बित है।(1)

डा0 अम्बेडकर एक महान दार्शनिक और धर्म–दर्शन के मर्मज्ञ थे। उन्होने विश्व के प्रमुख धर्मों – जैसे हिन्दूइज्म, इस्लाम, क्रिस्ट्यनिटी, जूडाइज्म, जैनइज्म, बुद्धिइज्म और सिक्खिज्म के मूल सिद्धान्तों की भारत में विद्यमान सामाजिक स्थिति की दृष्टि से समीक्षा की । डा0 अम्बेडकर ने धर्म को वैयक्तिक आत्माओं की आध्यात्मिक मोक्ष के एक साधन के रूप में नही देखा, अपितु उसे एक 'सामाजिक आदर्श' समझा जो मानव–मानव के बीच सम्यक् स्थापित करने का एक माध्यम बने।(2)

डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण धार्मिक आचार–विचार के महान व्यक्ति थे। किन्तु वे साम्प्रदायिक या मजहबी नहीं थे। धर्म को जीवन जीने का आधारभूत सिद्धान्त मानते थे। धर्म के बारे में डा0 अम्बेडकर ने कहा–"True religion is the foundation of Society, The basis on which all true civil government rest and both their sanction." अर्थात धर्म समाज की बुनियाद है, यही वह आधार है जिस पर सभी सच्ची सिविल सरकारें और उनकी मान्यतायें टिकी होती हैं।

धर्म की सम्यक व्याख्या डा0 अम्बेडकर ने इन शब्दों में की है–''धर्म वही हो सकता है, जो मानव मात्र के लिये कल्याणकारी हो, जिसमें मानव मात्र की उन्नति, विकास का मार्ग उन्मुक्त हो और

---

1. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी – भारतीय समाज व संस्कृति, पृष्ठ – 27
2. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 12

जिसमें भेदभाव न होकर मानवीय समता हो, जिस धर्म में मूल सिद्धान्त मानव समाज में भेद–पैदा करना हो, उसे सधर्म नहीं कहा जा सकता।"[1] डा0 अम्बेडकर जीवन तथा सामाजिक व्यवस्था के लिये धर्म को अत्यन्त आवश्यक मानते थे। उनके शब्दों में जीवन और उसकी रक्षा ही धर्म का सार है।"[2] According to him,"Religion must be judged by Social standards, based on social ethics."[3] उन्होने धर्म को मनुष्य के सामाजिक आचार से जोड़ा। उन्होने धर्म को ऐसे सार्वकालिक, आध्यात्मिक नियमों से जोड़ा जो सभी देश व सभी नस्ल के लिये पालन करने योग्य है।[4] उन्होनें हिन्दुत्व की व्याख्या की कि–A mass of sacrificial, social, political and sanitary rules and regulation; all mixed up."[5] उनके शब्दों में, "हिन्दू धर्म जिसे कहते है वह कानून अथवा वर्ग की आचार नीति का कानूनीकरण है।"[6]

डा0 अम्बेडकर के विचार में, धर्म एक सामाजिक शक्ति है और मनुष्य तथा समाज के लिये आवश्यक है। वह एडमण्ड बर्क से सहमत थे जिसने यह कहा कि–"सच्चा धर्म समाज की नींव है, वह आधार जिस पर समस्त सत्यनिष्ठ शासन आश्रित है और उनकी स्वीकृति भी।"[7] लेकिन साथ ही, डा0 अम्बेडकर ने नियमों पर आधारित धर्म की आलोचना की और आदर्शो पर आधारित धर्म को पसन्द किया जो – एक सच्चा धर्म होने का दावा कर सकता है।[8] उनकी दृष्टि में नियम तथा आदर्श के बीच भेद यथार्थ एवं सारगर्भित है। उन्होने दोनों प्रकार के धर्मो के बीच सुन्दर एवं स्पष्ट भेद किया जो निम्नलिखित है :–

"नियम व्यावहारिक होते है, वे निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार कार्य करने के आदतन ढ़ग है। लेकिन आदर्श बौद्धिक होते है, वे कार्यो का मूल्यांकन करने में उपयोगी विधियां है। नियम किसी कर्ता को मात्र यह कहते है कि कार्य करने का कौन सा मार्ग अपनाना है। आदर्श कार्य करने का निश्चित मार्ग निर्धारित नहीं करते। नियम, जैसा कि पकाने वाली सामग्री के बारे में होते है, केवल इतना बतलाते

---

1. बुद्धशरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 40
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड – 6, पृष्ठ – 25
3. Ambedkar, Annihilation of Caste, Page No. - 25
4. Ibid
5. Ibid
6. डा0 अम्बेडकर – जातिभेद का उन्मूलन, अनुवादक – एस0 एल0 सागर, पृष्ठ – 68
7. Dr. Ambedkar, Annihilation of Caste, Page No. - 74
8. Ibid

है कि क्या करना है और किस प्रकार करना है। कोई आदर्श जैसे न्याय किसी संकेत द्वारा मुख्य बात कहता है जिसके आधार पर कर्ता को अपनी इच्छाओं तथा उद्देश्यो के प्रभाव पर विचार करना होता है। वह उसे उसके चिन्तन में उसका मार्ग–दर्शन करता है यह सुझाते हुये कि वह महत्वपूर्ण विचार को ध्यान में रखे। नियम तथा अदर्श के बीच यह भेद दोनों की अनुपालना में किये हुये कार्यो को गुण एवं विषय में भिन्न बना देता है। किसी नियम के अधीन कोई शुभ काम करना और किसी आदर्श के अनुसार कोई शुभ काम करना, दोनों भिन्न बाते है। आदर्श गलत हो सकता है। किन्तु कार्य सचेत एवं उत्तरदायित्व से परिपूर्ण है। नियम सही हो सकता है, किन्तु कार्य यांन्त्रिक है। कोई धार्मिक कर्म भले ही सही कार्य न हो, किन्तु कम से कम उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य तो होना चाहिये। इस उत्तरदायित्व की अनुमति देना है तो धर्म को मुख्यतः केवल आदर्श का ही विषय होना चाहिये। वह नियमों का विषयनहीं हो सकता। उस क्षण जब वह नियमों में अवनत हो जाता है, तब वह धर्म नहीं रहता, क्योंकि वह उत्तरदायित्व को समाप्त कर देता है, जो एक सच्चे धार्मिक कार्य का सारतत्व है।''[1]

डा0 अम्बेडकर धर्म को एक सामाजिक नैतिकता के रूप में या नैतिक आचरण के रूप में लेते है। उनके अनुसार, "Religion, as a code of social morality, must recognise the fundamental tenets of Liberty, Equality and Fraternity. Unless a religion Recognises these three fundamental of social life, religion will be doomed."[2] उनके अनुसार,''धर्म का केन्द्र मनुष्य है, नैतिकता उसका आधार और मानव जाति का लौकिक कल्याण है । उसका मुख्य उद्देश्य और साधन वह सम्यक् आचरण हैं जो सामाजिक उत्तरदायित्व में निहित है और जिसे मानव समाज में रह रहे सभी मानव प्राणियों के प्रति निभाना है।[3]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार किसी धर्म की प्रांसगिकता का मूल्याकंन करने के लिये, न्याय तथा सामाजिक उपयोगिता की कसौटी का प्रयोग करना चाहिये और वह कसौटी स्वतन्त्रता, समता एवं भ्रातृत्व के त्रयी आदर्शो में निहित होती है । डा0 अम्बेडकर ने अपने हिन्दू धर्म को इन आदर्शो के विपरीत माना इसलिये उन्होनें हिन्दू धर्म का परित्याग किया और बौद्ध धर्म की शरण में चले गये। डा0 अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध का धम्म दर्शन, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व एवं सामाजिक नैतिकता का पालन करता है जिनके मूलभूत सिद्धान्त निम्नवत है[4] –

---

1. Dr. Ambekar - Annihilation of Caste - Page No. - 71
2. K. N. Kadam - Dr. Baba Saheb Ambedkar and the Significance of his moment - A Chronology, P.N.54
3. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 24
4. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड –7, पृष्ठ – 344

1. मुक्त समाज के लिये धर्म आवश्यक है।
2. प्रत्येक धर्म अंगीकार करने योग्य नहीं होता।
3. धर्म का सम्बन्ध जीवन के तथ्यों व वास्तविकताओं से होना चाहिये, ईश्वर या परमात्मा या स्वर्ग या पृथ्वी के सम्बन्ध में सिद्धान्तों तथा अनुमान मात्र निराधार कल्पना से नहीं होना चाहिये।
4. ईश्वर को धर्म का केन्द्र बनाना अनुचित है।
5. आत्मा की मुक्ति या मोक्ष को धर्म का केन्द्र बनाना अनुचित हैं
6. पशुबलि को धर्म का केन्द्र बनाना अनुचित है।
7. वास्तविक धर्म का वास मनुष्य के हृदय में होता है, शास्त्रों में नही।
8. धर्म के केन्द्र मनुष्य तथा नैतिकता होने चाहिये। यदि नही, तो धर्म एक क्रूर अंधविश्वास है।
9. नैतिकता के लिये जीवन का आदर्श होना ही पर्याप्त नही है। चूंकि ईश्वर नही है, अतः इसे जीवन का नियम या कानून होना चाहिये।
10. धर्म का कार्य विश्व का पुनर्निर्माण करना तथा उसे प्रसन्न रखना है, उसकी उत्पत्ति या उसके अंत की व्याख्या करना नहीं।

बुद्ध के सिद्धान्त व्यक्ति के व्यैक्तिक कल्याण के साथ–साथ सामाजिक नैतिकता, जन कल्याण एवं एक सुसंगत न्यायपूर्ण जीवन के आदर्श को निर्धारित करते हैं। जैसे कि [1] –

1. संसार में दुःख स्वार्थो के टकराव के कारण होता है और इसके समाधान का एक मात्र तरीका अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना है।
2. सम्पत्ति के निजी स्वामित्व से अधिकार व शक्ति एक वर्ग के हाथ में आ जाती है और दूसरे वर्ग को दुःख मिलता है।
3. समाज के हित के लिये यह आवश्यक है कि इस दुःख का निरोध इसके कारण का निरोध करके किया जाये।
4. सभी मानव प्राणी समान है ।
5. मनुष्य का मापदंड उसका गुण होता है, जन्म नही ।
6. जो चीज महत्वूपर्ण है वह है उच्च आदर्श, न कि उच्च कुल में जन्म ।
7. सबके प्रति मैत्री का सहचर्य व भाईचारे का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिये ।
8. प्रत्येक व्यक्ति को विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। मनुष्य को जीवित रहने के लिये ज्ञान विद्या

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 344 –345

की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भोजन की ।

9. अच्छा आचरण–विहीन ज्ञान खतरनाक होता है।

10. कोई भी चीज भ्रमातीत व अचूक नही होती। कोई चीज सर्वदा बाध्यकारी नही होती। प्रत्येक वस्तु छानबीन तथा परिश्रम का विषय नहीं होती है।

11. कोई वस्तु सुनिश्चित तथा अंतिम नहीं होती है।

12. कोई भी वस्तु स्थाई या सनातन नहीं है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील होती है। वस्तुओं में परिवर्तित होने का क्रम हमेशा चलता रहता है ।

13. प्रत्येक वस्तु कारण, कार्य, सम्बन्ध के नियम के अधीन होती हैं ।

14. युद्ध यदि सत्य तथा न्याय के लिये न हो, तो वह अनुचित है।

15. विजेता के पराजित के प्रति कर्तव्य होते है।

डा० अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक Budha and His Dhamma, में धर्म और धम्म के बीच स्पष्ट अन्तर किया कि – Buddism is not a dharma (or religion); but Dhamma, a rationalistic and humanistic way of life, "Religion, it is said, is personal, and one just keep it to oneself. On the other hand Dhamma is social." (1) उन्होने लिखा समाज का विकास बिना धम्म के नही हो सकता है। उनके अनुसार बौद्ध धम्म दर्शन, प्रज्ञा और शील का अनुपम उदाहरण है। डा० अम्बेडकर ने अपने महान ग्रन्थ 'भगवान बुद्ध और उनका धम्म' में यह लिखा कि प्रज्ञा वह निर्मल बुद्धि है जो 'मिथ्या–विश्वासों–ईश्वर में आस्था, अमर–आत्मा, आवागमन, अदृष्ट, नरक–स्वर्ग से आदमी को मुक्त करती है और उसे उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ, कुशल–अकुशल का बोध कराती है। प्रज्ञा का सही उपयोग शील के साथ व्यवहार में निहित है। शील वह सदाचरण है जो पंचशील अष्ट–शील, दस–शील आदि के मार्ग पर ले जाता है। प्रज्ञा और शील का मिश्रित रूप बौद्ध जीवन पद्धति का सार–तत्व है।(2)

डा० अम्बेडकर नैतिकता को धर्म का अनिवार्य अंग मानते थे। उनके अनुसार आज की ईश्वरवादी धर्म में नैतिकता वास्तव में प्रभाशाली नही है क्योंकि उसकी मुख्य बाते पूजा, अर्चना, अनुष्ठान, समारोह यज्ञ बलि आदि हो गयी है।(3) उनके अनुसार ईश्वर तथा नैतिकता के बीच सम्बन्ध बिल्कुल अनिवार्य नहीं है। जबकि नैतिकता व धर्म के बीच सम्बन्ध होना अनिवार्य है। क्योंकि धर्म और नैतिकता दोनों ही मानव अस्तित्व के प्रारम्भिक तथ्यों से सम्बन्धित है अर्थात् जीवन, मृत्यु, जन्म तथा विवाह। धर्म

---

1. Dr. B. R. Ambdekar - Buddha and His Dhamma, P.N. 316
2. डा० डी० आर० जाटव – डा० अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 27
3. Dr. B. R. Ambdekar - Buddha and His Dhamma, P.N. 322

इन जीवन प्रक्रियाओं को पवित्र बनाता है, जबकि नैतिकता उनके संरक्षण के नियम प्रदान करती है। जीवन को प्रारम्भिक तथ्यों एवं प्रक्रियाओं को पवित्र बनाते समय, समाज द्वारा उनके संरक्षण के लिये बनाये गये नियमों को भी पवित्र बनाता है। इस दृष्टिकोण से यह आसानी से विश्लेषित हो जाता है कि धर्म और नैतिकता के बीच सम्बन्ध ने क्यों कर जन्म लिया। धर्म तथा ईश्वर के बीच सम्बन्ध की बजाय, यह सम्बन्ध कही अधिक घनिष्ठ तथा प्राकृतिक है।[1] डा0 अम्बेडकर के अनुसार नैतिकता का विचार उस समय उठता है जब मनुष्य–मनुष्य के सम्बन्ध में आता है। और यदि कोई धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नही करता तो नैतिकता ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेती है। जैसा कि बृद्ध के धम्म में मिलता है। "धम्म में अर्चना, तीर्थ, अनुष्ठान, समारोह या बलि के लिये कोई स्थान नही है। नैतिकता धम्म का सार है उसके बिना कोई धम्म नहीं है। धम्म में नैतिकता मनुष्य द्वारा मनुष्य के प्रति–प्रेम की सीधी आवश्यकता से जन्म लेती है। उसे ईश्वर की आज्ञा की आवश्यकता नही है। यह ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये नही है कि आदमी को नैतिक बनना हे। यह स्वतः अपनी ही भलाई के लिये है कि आदमी –आदमी से प्रेम करें।[2]

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर ने धार्मिक न्याय के सन्दर्भ में उपरोक्त मूलभूत आदर्श प्रस्तुत करने के साथ–साथ कुछ धार्मिक पूर्वाग्रहों एवं मान्यताओं का खण्डन भी किया।

1. सभी धर्म सच्चे व समान रूप से अच्छे है। डा0 अम्बेडकर ने रूढ़िवादी दार्शनिक डा0 भगवानदास के इस मत का खण्डन किया कि सभी धर्म सच्चे व समान रूप से अच्छे है। उन्होने इसको सकारात्मक एवं प्रदर्शनात्मक रूप से दोषपूर्ण माना। उन्होने कहा कि यह बात बहुत खेद के साथ कहनी पड़ती है कि यह विचार तुलनात्मक अध्ययन से उत्पन्न होता है। "परन्तु तुलनात्मक धर्म ने मानवता की एक बहुत ही महान सेवा की है ? प्रकटित सभी धर्मो का यह कहना था कि वे ही केवल मात्र उत्तम धर्म है उनका यह अधिकार तथा गर्व इस अध्ययन से भंग हो गया। यद्यपि यह सच है कि तुलनात्मक धर्म के अध्ययन ने केवल मात्र अवैचारिक और मठाधीशों के एकाधिकार के आधार सत्य धर्म तथा असत्य धर्म में जो अनियमित तथा संदिग्ध भेद बना हुआ था, उसे रद्द कर दिया और दूसरी ओर इसके कारण धर्म के सम्बन्ध में झूठी धारणायें भी बनी। इसमे सबसे हानिकारक धारणा है कि सभी धर्म समान रूप से उत्तम है और उनमें कोई भेद करने की आवश्यकता नहीं। इससे बड़ी गलती कोई दूसरी नही हो सकती। धर्म एक व्यवस्था तथा शान्ति है और सभी सामाजिक प्रभावों तथा संस्थाओं के समान वह भी अपने प्रभाव में

---

1. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृष्ठ –12
2. Dr. Ambedkar, Buddha and His Dhamma, Page No. 322 - 323

आबद्ध समाज को लाभ अथवा हानि पहुँचाता है।[1] प्रो0 टीले ने इसे बहुत ही अच्छे ढ़ंग से स्पष्ट करते हुये कहा कि धर्म –

मानव इतिहास का एक अत्यन्त शक्तिशाली माध्यम है, जिसने राष्ट्रों का निर्माण तथा विध्वंस किया, साम्राज्यों को एक साथ जोड़ा तो दूसरी ओर विभाजित भी किया है, उसने सबसे नृशंस प्रथाओं तथा अन्यायी कृत्यों को मान्यता दी, सबसे पराक्रमी कार्य, आत्म त्याग और निष्ठा की भावना को प्रेरित किया, धर्म के कारण एक ओर क्लेश, विद्रोह तथा रक्तरंजित युद्ध हुआ, तो दूसरों ओर धर्म के कारण राष्ट्रों में स्वतन्त्रता, सुख और शान्ति भी आई। वह एक स्थान पर जुल्मों का साथ देता है, तो दूसरे स्थान पर गुलामी की जंजीरे तोड़ देता है। कभी एक नई देदीप्यमान सभ्यता का निर्माण करता है, तो कभी–कभी विज्ञान कला आदि के विकास का सबसे बड़ा शत्रु बनता है।[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार, धर्म विचित्र अन्तर्विरोधी परिणाम पैदा कर सकते है। फिर उन्हे समान रूप से सत्य एवं अच्छा कैसे माना जा सकता है ? प्रत्येक धर्म ने अपने–अपने सामाजिक अभिशासन की दैविक व्यवस्था तथा नैतिक आदर्श दिये हैं जिन्होने आचरण के भिन्न–भिन्न ढ़ंग स्थापित कर दिये हैं। तुलनात्मक धर्म के अध्ययन ने धर्मो के इस पक्ष की ओर कोई ध्यान नही दिया है। इससे भी अधिक तथ्य यह है कि सभी धर्म आस्तिक नहीं है अर्थात् ईश्वरवादी नही है, उनमे से कुछ निरीश्वरवादी भी है, और जहाँ तक ईश्वर, आत्मा, पूजा, अर्चना, अनुष्ठान तथा समारोहो का प्रश्न है, धर्मो के बीच उनके स्वरूप तथा विधियों को लेकर मौलिक भिन्नताये है। यद्यपि धर्म अनेक है, लेकिन उन्हें समान स्तर पर रखना सम्भव नहीं है। उनके विचार तथा व्यवहार की भिन्नताओं की दृष्टि से यह कहना कि सभी धर्म समान रूप से सत्य और अच्छे है, बहुत ही हानिकारक विचार है।[3]

2. ईश्वर धर्म का अनिवार्य अंग है। डा0 अम्बेडकर ने इस मत का खण्डन करते हुये कहा कि ईश्वर धर्म का आवश्यक तत्व है। उनके शब्दों में आदिम समाज के धर्म में ईश्वर की कल्पना का कोई भी अंश नहीं हैं।[4] धर्म में ईश्वर की कल्पना कब और कैसे हुयी, यह कहना सम्भव नहीं हैं। उनके शब्दों में,''यह हो सकता है कि ईश्वर की कल्पना का मूल समाज के महान व्यक्ति की पूजा में हो, जिससे मनुष्य की जीवित ईश्वर में श्रद्धा का यानि किसी सर्वश्रेष्ठं को देखकर ईश्वर मानने के आस्तित्ववाद का उदय हुआ होगा यह हो सकता है कि ईश्वर की कल्पना, यह जीवन जिसने बनाया है, जैसे दार्शनिक विचार के

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 41–42
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 42
3. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 114
4. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 26

फलस्वरूप अस्तित्व में आई होगी, जिससे एक दृष्टि के निर्माणकर्ता के रूप में, उसे बिना देखे मानने से ईश्वरवाद का उदय हुआ होगा। चाहे कुछ भी हो, ईश्वर की कल्पना धर्म का एक अभिन्न भाग नहीं है।[1]

धार्मिक क्रान्ति दो प्रकार की होती है –आन्तरिक और बाह्य । आन्तरिक धार्मिक क्रान्ति स्वतः धर्म विशेष में कुछ परिवर्तन लाती है किन्तु बाह्य धार्मिक वास्तव में धार्मिक क्रान्ति नहीं होती । वह किसी धर्म द्वारा अपने से अलग उस क्षेत्र में आधिपत्य स्थापित करने के विरूद्ध विज्ञान का विद्रोह है जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । फिर भी, जैसा कि देखा गया है, फ्रेंच तथा रूसी जैसी क्रान्तियां दैविक अभिशासन की व्यवस्था में परिवर्तन लाती है और उसे संशोधित तथा पुनर्निमित करती है। आन्तरिक धार्मिक क्रान्ति समय–समय पर स्वतः धर्म के संरचनात्मक एवं कार्यात्मक ढ़ांचे में मौलिक बदलाव लाती है। डा. अम्बेडकर ने यह बतलाया कि "इस क्रान्ति से ईश्वर का किसी समुदाय का सदस्य होना समाप्त हो गया है .... मनुष्य का भी ईश्वर का अन्ध–पुजारी होना समाप्त हो गया है जो उसकी आज्ञाओं का पालन करने के सिवाय कुछ नहीं करता था .... इस क्रान्ति द्वारा ईश्वर के समाज के मात्र संरक्षक होने की स्थिति का अन्त हो गया है और मूल सामाजिक हित दैविक व्यवस्था का अब केन्द्र नहीं रहा । समाज और मनुष्य ने इस दैविक व्यवस्था के केन्द्रों से स्थान बदल लिये है। वह मनुष्य है जो अब धर्म का केन्द्र बन चुका है।"[2] महावीर तथा बुद्ध द्वारा जो धार्मिक क्रान्तियां हुई उन्होंने भारत तथा अन्य देशों में व्यापक रूप से लोगों की मनः स्थिति को बदला और उन्होंने इस बात पर बल दिया कि ईश्वर में आस्था रखना उनके धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है।

3. दैविक सत्ता के स्रोत धार्मिक ग्रन्थों की अकाट्यता को उन्होंने अस्वीकार किया। दैविक सत्ता के स्रोत के रूप में धर्म ग्रन्थों की अकाट्यता का विचार भी डा. अम्बेडकर ने स्वीकार नहीं किया, इस आध ार पर वह धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों के स्वतंत्र अन्वेषण तथा परीक्षा की विधि को लोगों द्वारा अपनाये जाने से रोकता है। शास्त्रों में ऐसे नियम है जो हिन्दुओं को अन्तर जातीय भोज एवं विवाह से रोकते है। लोगों के मन में ईश्वरीय भय बना रहता है कि यदि उन्होंने दैविक नियमों का उल्लंघन किया तो वे पाप के भागीदार होंगे और नरक की यातनाएं झेलनी पड़ेंगी। हिन्दू लोग न केवल दैविक सत्ता में भयभीत रहते हैं, अपितु शास्त्रों की अध्यक्षता ने उन्हें सामाजिक मामलों में आलोचनात्मक बुद्धि का प्रयोग करने से भी रोका है। इसलिये डा0 अम्बेडकर ने यह कहा, "वास्तविक समाधान शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास को नष्ट करना है................. प्रत्येक नर–नारी को शास्त्रों की दासता से मुक्त करो, शास्त्रों पर

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 26
2. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृष्ठ – 21

आधारित हानिकारक विचारों को दूर कर उनके मन को शुद्ध करो, और वह स्त्री या पुरूष, अन्तर्जातीय भोज एवं विवाह करने को तैयार हो जायेंगे।[1] डा0 अम्बेडकर के अनुसार कुछ भी अकाट्य नहीं है।

4. डा0 अम्बेडकर ने इस धारणा को अस्वीकार किया कि मनुष्य के जीवन का एकमात्र ध्येय आत्मा का मोक्ष प्राप्त करना है। ब्राह्मणी धर्म का समस्त ढ़ाँचा नित्य आत्मा के विचार पर आधारित है जिसे डा0 अम्बेडकर ने अज्ञात एवं अदृष्टि कहकर अस्वीकार कर दिया। नित्य आत्मा के विचार ने उनकी बौद्धिक दृष्टि को सन्तुष्ट नहीं किया।[2] उनके अनुसार जिस प्रकार ईश्वर धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है, उसी प्रकार नित्य आत्मा भी नहीं है। नित्य आत्मा अज्ञात एवं अदृश्य है, मात्र एवं तात्विक कल्पना है और यह स्थापित करना कि व्यक्ति के जीवन का एक मात्र लक्ष्य पारलौकिक मोक्ष प्राप्त करना है, उस सामाजिक उत्तरदायित्व से बचना है जो आदमी पर समाज का एक सदस्य होने के नाते आ पड़ता है।[3]

इस प्रकार न्याय के सन्दर्भ में धर्म के सामाजिक मूल्यों को स्थापित करते समय डा0 अम्बेडकर ने जो धर्म दर्शन प्रस्तुत किया है वह मानवतावादी है। धार्मिक पूर्वाग्रहों एवं मान्यताओं का खण्डन करने का एक मात्र उद्देश्य धर्म को रूढ़िगत मान्यताओं से अलग करना और जन–कल्याण का माध्यम बनाना था।

हिन्दू धर्म के सन्दर्भ में डा0 अम्बेडकर के सुधारवादी विचार – हिन्दू धर्म का युगानुरूप कोई सैद्धान्तिक आधार होना आवश्यक है और वह आधार समता, स्वतंत्रता और बन्धुता जैसे लोकमान्य जनतंत्र के अनुरूप हो। इसके लिये सारी सामग्री उपनिषदों में मौजूद है। उपनिषदों के एकात्मवादी विचार के आधार पर व्यवस्था बनाई जा सकती है। इस सुधार का अर्थ होगा जीवन की मौलिक भावना में परिवर्तन तथा एक नव जीवन में प्रवेश। किन्तु यह जीवन नवीन शरीर में प्रवेश करेगा। इसके लिये पुराने शरीर का मर जाना आवश्यक होगा।[4]

जाँत–पाँत तोड़क मण्डल लाहौर और 1936 के सम्मेलन में उन्होंने हिन्दू धर्म में सुधार हेतु कुछ उपाय सुझाये थे [5]–

1. अनेक पुस्तकों को छोड़कर केवल एक धर्म–ग्रन्थ रखा जाये जो सभी हिन्दुओं को मान्य हो।

---

1. Dr. B. R. Ambedkar, Annihilation of Caste, Page No. 58-59
2. Dr. Ambedkar, The Buddha and His Dhamma, Page No. 259 .
3. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 121
4. भीमराव अम्बेडकर – जाति प्रथा का विनाश (लेख), पृष्ठ – 29, उद्यृत – आज के प्रश्न – 13, जाति का जहर सम्पादक – राजकिशोर ।
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 28

उसके सिवाय जो लोग अन्य पुस्तकों में लिखित विरूद्ध सिद्धान्तों को 'धर्म सिद्धान्त' बनाकर प्रचार करे, उन्हें दण्डनीय ठहराया जाये।

2. अच्छा हो कि हिन्दुओं की पुरानी पुरोहितशाही को खत्म कर दिया जाये : उसके स्थान पर प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जो अपने को 'हिन्दू' कहता हो, पुरोहित बनने का अधिकार दिया जाये। यह कानून बन जाना चाहिये कि कोई हिन्दू तब तक पुरोहित न बन सकेगा, जब तक वह राज्य द्वारा निर्धारित परीक्षा पास नहीं कर लेगा और जब तक उसके पास राज्य से प्राप्त पुरोहित का काम करने की सनद न हो।

3. जिस पुरोहित के पास सनद न हो, उसके द्वारा कराया हुआ कोई सत्कार वैध न समझा आये और सनद के बिना पुरोहित का काम करने वाले व्यक्ति को दंडनीय ठहराया जाये।

4. पुरोहित भी लोक सेवकों की भांति राज्य का नौकर हो, उसे राज्य से वेतन मिले और दूसरे नागरिकों के साथ देश के साधारण राज–नियम के अधीन होने के अतिरिक्त वह अपने आचार, विश्वास और पूजा–पाठ के विषयों में राज्य–नियंत्रण के अधीन हो।

5. आई. सी. एस. की तरह पुरोहितों की संख्या भी राज्य की आवश्यकता के अनुसार राज नियम द्वारा सीमित होनी चाहिये।

इस प्रकार डा० अम्बेडकर का सम्पूर्ण धर्म दर्शन, धर्म का ऐसा आधार प्रस्तुत करता है जिसमें स्वतंत्रता समानता और बंधुत्व का सर्वोपरि स्थान है। उनका धर्म दर्शन, हिन्दू धर्म के बारे में सुधारवादी विचार, इन सबका उद्देश्य धर्म के सार को व्यापक बनाना है। डा० अम्बेडकर ने धर्म के नाम में अन्यायपूर्ण व्यवहारों, अंधविश्वासों तथा हानिकारक रूढ़ियों का कभी समर्थन नहीं किया। वह चाहते थे धर्म सदाचरण की शिक्षाओं के द्वारा आदमी–आदमी और और विभिन्न समुदायों के बीच सम्यक सम्बन्ध स्थापित करें। उनकी दृष्टि में सर्वधर्म समभाव एक अच्छा विचार है और सभी धर्मावलम्बी अपनी अपनी आस्थाओं को मानते हुये सामाजिक व्यवहार तथा सम्बन्धों में उदार बने ताकि उस आदर्श को व्यावहारिक बनाया जा सके।[1]

---

1. डा० डी० आर० जाटव – डा० अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 107

आर्थिक न्याय

डा0 अम्बेडकर मूलतः अर्थशास्त्री थे। अर्थशास्त्र ही उनका मुख्य विषय था। "The Evolution of Provincial Finance in British India" शीर्षक पर उन्हें 1921 में एम.एस. सी. की उपाधि लन्दन विश्वविद्यालय से मिली। "The Problem of the Rupee. its Origin and its Solution पर 1923 में लन्दन विश्वविद्यालय से डी.एस.सी. की उपाधि मिली।[1] उनका आर्थिक चिन्तन उनके समेकित सामाजिक चिन्तन का एक पक्ष है जो कि उनके यथार्थ के अनुभव से उद्भूत है। उन्होंने पाया कि वर्ण, जाति एवं जजमानी द्वारा संचालित हिन्दू समाज का पारस्परिक सामाजिक, आर्थिक ढांचा न केवल अन्यायपूर्ण है अपितु अवैज्ञानिक भी है । प्रगति की दौड़ में एवं समाज के सन्तुलन में, विकास में सबकी भागीदारी आवश्यक है। देश की आर्थिक समस्याओं के विषय में उनका विशेष ध्यान था। वस्तुतः उनकी दृष्टि में ऐसी किसी भी आर्थिक नीति को अपनाना त्रुटिपूर्ण है जो भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की मूलभूत आवश्यकता से उद्भूत न हो और उनकी सम्पूर्ति से मेल न खाती हो। वह एक ठोस आर्थिक नीति के पक्षधर थे।

एक अर्थशास्त्री के रूप में, डा0 अम्बेडकर का व्यक्तित्व बहुआयामी है। ब्रिटिश शासन काल एवं स्वतंत्र भारत में सरकार के पक्ष उन्होंने जो विभिन्न मेमोरेण्डम और वक्तव्य प्रस्तुत किये। वे भारत की आर्थिक समस्याओं के सन्दर्भ में गहन अर्न्तदृष्टि प्रस्तुत करते है। वह प्रथम विचारक थे जिन्होंने आर्थिक समस्याओं को सामाजिक सन्दर्भ में समझा जैसे कि जाति व्यवस्था एवं अस्पृश्यता । यह सत्य है कि भारत के संविधान में विश्व के अन्य संविधान की तुलना में आर्थिक जीवन में इतने अधिक प्रावधान है । निश्चित रूप में एक अर्थशास्त्री के रूप में डा0 अम्बेडकर का उत्कृष्ट योगदान है।[2]

डा0 अम्बेडकर के आर्थिक विचार मुख्यतः भारत की कृषि व्यवस्था, औद्योगिक नीति, बीमा, नशाबंदी आदि के सुधार से सम्बन्धित थे। वे चाहते थे कि आर्थिक विकास इस ढंग से हो कि भारत की ससंदीय सरकार की व्यवस्था के अन्तर्गत जनतन्त्र एवं राज्य समाजवाद सुसंगत बना रहे। यह सब कुछ संविधान के कानून की छत्रछाया में ही सम्पन्न हो। ये विचार परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु डा0 अम्बेडकर ने इन विचारों में एक प्रकार की साम्यता एवं निकटता को परिलक्षित किया और यह देखा कि यदि हमारे नेताओं का सशक्त राजनीतिक संकल्प हो और नीतियों का ईमानदारी से परिपालन हो,

---

1. W. N. Kuber, Dr. Ambedkar : A Critical Study, Page No. - 253
2. Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. 1

तो भारत का आर्थिक ढाँचा निर्धन तथा कमजोर वर्गों के पक्ष में बदल सकता है।[1]

डा0 अम्बेडकर की आर्थिक विचारधारा में सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्य समाविष्ट है। उनके आर्थिक चिन्तन का प्रमुख बिन्दु शोषक–शोषित दोनों ही वर्ग थे। उनकी आर्थिक विचारधारा स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व की हिमायती है। उनके अर्थ चिन्तन का मूल ध्येय जातिभेद, वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता जनित विकृतियों से पीड़ित लोगों के दुखों का अन्त हो । उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ–साथ आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। उनका सर्वोपरि लक्ष्य जातरहित लोकतंत्र की स्थापना था जो प्रज्ञा, शील और करूणा पर आधारित हो।[2]

एक अर्थशास्त्री के रूप में डा0 अम्बेडकर का व्यक्तित्व बहुआयामी है। इसमें सन्देह नहीं है कि उनका अर्थ चिन्तन परम्परागत भारतीय आर्थिक विचारधारा को परिवर्तनशील और व्यापक बनाता है।

डा0 अम्बेडकर का आर्थिक न्याय सम्बन्धी चिन्तन स्पष्ट रूप से द्विपक्षीय है– प्रथम, राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं के सन्दर्भ में – इसके अन्तर्गत उन्होंने कृषि व्यवस्था, औद्योगिक प्रणाली, राजकीय समाजवाद और नशाबन्दी आदि की समस्याओं पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया। द्वितीय, दलित समुदाय की आर्थिक समस्याओं के सन्दर्भ में – इसके अन्तर्गत उन्होंने जाति प्रथा और अस्पृश्यता जनित आर्थिक विषमताओं पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया है।

अतएव प्रस्तुत अध्याय में डा0 अम्बेडकर के आर्थिक चिंतन के इन बिन्दुओं पर क्रमवार अध्ययन का प्रयास किया गया है –

राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं के सन्दर्भ में :–

कृषि व्यवस्था :–

भारत में कृषि व्यवस्था का अनोखा स्वरूप है । यहां भूमि–स्वामित्व आर्थिक सम्पन्नता का ही मात्र द्योतक नहीं है, अपितु सामाजिक प्रतिष्ठा का भी आधार है । सामान्यतः उच्च जातियों के पास ही कृषीय जमीन है जिन्हें जमींदार अर्थात भू–स्वामी कहते हैं। मध्यम जातियां अधिकतर खेतिहर हैं और निम्न जातियां भूमिहीन मजदूर हैं, विशेषकर दलित जातियां तथा अल्पसंख्यक मजदूर वर्ग में आते हैं। यहां बड़े–बड़े जमींदारों के हाथों में कृषीय व्यवस्था एक ऐसा सशक्त साधन है जिसके द्वारा वे आर्थिक एवं सामाजिक लाभ उठाते हैं और भूमिहीन मजदूरों का भरपूर शोषण करते हैं । निर्धन गाँववासी एवं

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 37
2. Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. - 83

भूमिहीन श्रमिकों का जीवन दासों के समान हैं, क्योंकि कृषि योग्य भूमि का वितरण असमान है। वे अपनी रोटी–रोजी आसानी से नहीं कमा पाते । परम्परागत गांवों की आर्थिक व्यवस्था, चूंकि कृषीय भूमि पर आधारित है, इसलिए वह दलित वर्गो एवं अल्पसंख्यकों की आर्थिक कठिनाइयों का प्रमुख कारण है। प्रायः सभी गांवों के निर्धन लोगों की स्थिति सोचनीय है। आज भी बड़े–बड़े भूपति अशिक्षित एवं बेरोजगार लोगों का शोषण करते हैं, वे उनके अधिक समय तक काम लेते हैं और तुच्छ पगार देते हैं जो उनके जीवन निर्वाह के लिये अपर्याप्त होती है।(1)

डा० अम्बेडकर को भारतीय कृषि–व्यवस्था की समस्याओं के भारतीय कृषि व्यवस्था की समस्याओं का ज्ञान था। गरीब भूमिहीन कृषक की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के प्रति वह सचेष्ट थे। इनके समाधान हेतु इन्होंने समय–समय पर आवश्यक प्रयास किये –

खोती व्यवस्था :–

खोत व्यवस्था बम्बई प्रेसीडेंसी में भू–धारण की लघु व्यवस्था थी। यह अधिकतर रत्नगिरी जिले, कोलाबा और थाना जिले के कुछ भागों में प्रचलित थी । इस व्यवस्था में सरकार भू–राजस्व की वसूली के लिये भूमि के दखलदारों से राजस्व को वसूलने के लिये खोत को नियुक्त करती थी । यह बहुत ही अमानवीय प्रथा है। इसमें खोत लोग न केवल बल प्रयोग करके अधीनस्थ लोगों से धन व सामान की वसूली करते है बल्कि उन्हें गुलाम की तरह जीने पर मजबूर करते हैं। 14 अप्रैल 1929 को रत्नगिरी के चिपलन में एक कृषि सम्मेलन को सम्बोधित करते हुये अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा – "I know your grievances . The Khoti Systen is sucking your blood . This system of land tenture must be abolished. Its abolition will bring you peace and progress. In order to achieve your goal you must keep the agitation going on .... you must take particular care to send to the legislatures the right type of men as your representatives who would devoutly struggle for the abolition of this Khoti System." (2)

डा० अम्बेडकर ने इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने के लिये बोम्बे विधान परिषद में ऐतिहासिक खोती व्यवस्था उन्मूलन विधेयक प्रस्तुत किया ।(3)

भारत में छोटी जोतों की समस्या, उसका निवारण :–

कृषि के क्षेत्र में छोटी जोतों की समस्या पर उन्होंने गहराई से चिन्तन किया। उन्होंने जोतों

---

1. डा० डी० आर० जाटव – डा० अम्बेडकर का मानववादी चिंतन, पृष्ठ – 37–38
2. Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. - 43
3. इस बिल की विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में है ।

का अत्यधिक छोटा आकार भारतीय कृषि के लिये बहुत हानिकारक माना । निस्संदेह छोटी जोतों में बहुत सी बुराइयां होती हैं।[1] – उन्होंने बिखरे हुये खेतों के लिये चकबन्दी को सही माना लेकिन छोटी जोतों का आकार बड़ा करना, वह समस्या का समाधान नहीं मानते। उनके अनुसार "खेत का उत्पादक होना या अनुत्पादक होना अनिवार्य रूप से आकार पर निर्भर नहीं करता, जिसे हम अर्थशास्त्र में उत्पादन के अन्य कारक कहते हैं, यह इस पर निर्भर करता है या वास्तव में उसके साथ ही बदलता है। यह श्रम के साथ बदलता है। वह पूंजी के साथ बदलता है। उदाहरण के लिये यदि एक किसान के पास अधिक श्रम लगाने के साधन हैं और उसके पास विनियोग करने के लिये कोई बड़ी पूंजी नहीं है, तो मेरा निवेदन है कि उस आधार पर यदि यह खेत छोटा है तो भी उसे अनुत्पादक कहना उचित नहीं है।[2]

उन्होंने आगे कहा "समस्या का समाधान खेतों का आकार बड़ा करने से नहीं हो सकता वरन् सघन खेती से हो सकता है अर्थात् जिस तरह के हमारे खेत है उनमें ज्यादा पूंजी और श्रम लगाकर।[3] एक बेहतर तरीका यह भी होगा कि सामान्य क्षेत्रों के लिये सहकारी कृषि अपनायी जाये और उसमें स्थित छोटी जोतों के मालिकों को बिना उनके निजी स्वामित्व को समाप्त किये हुये, खेतों में शामिल होने के लिये विवश किया जाये । उनके अनुसार सहकारी कृषि इटली और फ्रांस आदि में प्रचलित है और फायदेमंद भी साबित हो रही है।

कृषि को राज्य उद्योग का दर्जा :–

वह कृषि क्षेत्र में प्रचलित शोषण एवं अन्याय को समाप्त करने के लिये उन्होंने सुझाव दिया था। चकबन्दी और काश्तकारी विधान व्यर्थ से भी बदतर है। उनसे कृषि–क्षेत्र समृद्ध नहीं हो सकता। न तो चकबंदी और न ही काश्तकारी विधान छः करोड़ अस्पृश्यों के लिये सहायक हो सकते है, जो भूमिहीन मजदूर है। न तो चकबन्दी और न ही काश्तकारी विधान उनकी समस्याओं का निराकरण कर सकते हैं। प्रस्ताव में वर्णित विधि से स्थापित सामूहिक कार्य ही उनके लिये सहायक हो सकते हैं।[4]

कृषि उद्योग निम्नलिखित आधार पर संगठित किया जायेगा :–

प्रथम – राज्य अर्जित भूमि को मानक आकार के फार्मों में विभाजित करेगा और उन्हें गांव के निवासियों को पट्टेदारों के रूप में (कुटुम्बों के समूह से निर्मित) आगे दी गई शर्तों पर खेती करने के

---

1. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड – 2, पृष्ठ – 247
2. पूर्वोक्त, खण्ड – 3, पृष्ठ – 250–251
3. पूर्वोक्त
4. पूर्वोक्त, खण्ड – 2, पृष्ठ – 193

लिये देगा : –

(क) फार्म पर खेती बारी सामूहिक फार्म के रूप में की जायेगी

(ख) फार्म पर खेती बारी सरकार द्वारा जारी किये गये नियमों और निर्देशों के अनुसार की जायेगी

(स) पट्टेदार फार्म पर उचित रूप से उगाही करने योग्य प्रभार अदा करने के बाद फार्म की शेष उपज को आपस में विहित रीति से बांटेगें

द्वितीय – भूमि गांव के लोगों को जाति या पंथ के भेदभव के बिना पट्टे पर दी जायेगी और ऐसी रीति से पट्टे पर दी जायेगी कि कोई जमींदार न रहे,कोई पट्टेदार न रहे और न कोई भूमिहीन मजदूर रहे ।

तृतीय – राज्य पानी, जोतने –बोने के लिये पशु उपकरण, खाद, बीज, आदि देकर सामूहिक फार्म की खेती के लिये वित्तीय सहायता देने के लिये बाध्य होगा

चतुर्थ – राज्य समर्थ होगा–

(क) फार्म की उपज पर निम्नलिखित प्रभार लेने के लिये :

प्रथम – भू–राजस्व का एक अंश

द्वितीय – ऋण पत्र – धारकों को अदा करने के लिये एक अंश :

तृतीय – प्रदत्त पूंजीगत माल के उपयोग के लिये अदा करने के लिये एक अंश तथा

(ख) उन पट्टेदारों के विरूद्ध जुर्माना विहित करने के लिये हकदार होगा, जो पट्टेदारी की शर्तों को तोड़े अथवा राज्य द्वारा प्रदन्त खेतीबारी के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने में जान बूझकर उपेक्षा करे या अन्यथा सामूहिक खेती की स्कीम पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले ढंग से कार्य करें।[1]

वस्तुतः डा0 अम्बेडकर ने कृषि कै उपयोगी क्षेत्रों को औद्योगीकरण के साथ जोड़ने की बात सोची, जिसे वास्तव में भारत के नियोजकों ने पंचवर्षीय योजनाओं में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनको पूर्ण विश्वास था कि "यदि छोटी–छोटी तथा बिखरी हुई जोते वे बुराईयां हैं जिनसे हमारी कृषीय व्यवस्था नुकसान में रहती है तो उनका एक मात्र समाधान औद्योगीकरण ही है .... अमेरिका जैसे अन्य देश कृषि क्षेत्र में धीरे–धीरे औद्योगीकरण की ओर बढ़ रहे है, जबकि भारत अनगरीकरण की दुःखदाई प्रक्रिया की ओर शनै–शनै बढ़ रहा है और अपनी जनसंख्या की तादात को आवश्यकताओं से परे बढ़ा रहा है। इस अशुभ बहाव को हम जितनी जल्दी रोके उतना ही अच्छा है।"[2]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 180–181
2. डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर – राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड – 1, पृष्ठ – 479 सन् 1979

राजकीय समाजवाद :–

आर्थिक न्याय हेतु डा0 अम्बेडकर ने राजकीय समाजवाद का समर्थन किया, भारत के तेजी से औद्योगीकरण के लिये डा0 अम्बेडकर ने राजकीय समाजवाद को अनिवार्य माना। निजी उद्यम ऐसा नही कर सकते, यदि वे ऐसा करते है तो वह सम्पदा की विषमताओं को जन्म देंगे क्योंकि उनका मुख्य ध्येय अधिकाधिक लाभ कमाना होता है। डा0 अम्बेडकर भूमि और उद्योगों पर राज्य के शासन के पक्षधर थे। भूमि, उद्योग पर राज्य का एकाधिपत्य हो। राज्य व्यक्ति को उतनी ही भूमि दे, उद्योग दे जितना वह श्रमपूर्वक कर सके। योग्यता और क्षमता के अनुसार भूमि और उद्योग का वितरण होने से देश की आय भी बढ़ेगी और देश में आर्थिक समानता स्थापित हो सकेगी। देश में आर्थिक समानता के लिये डा0 अम्बेडकर ने राज्य समाजवाद की वकालत की है उन्होने कहा है–

"State socialism is essential to the rapid industrialization of India. Private enterprise can not do it and if it did, it would produce these in equalities of wealth which private capitalism has produced in Europe which should serve as a warning to Indians. Consolidation of holding and tenacy legislation are worse than useless. They cannot bring about prosperity in agriculture. Neither Cansolidation Nor legislation can be of any help to the 60 millions of untouchables who are just landless labourers. Only collective forms can help him.[1]

डा0 अम्बेडकर का विश्वास था–''राज्य पर यह दायित्व डालना चाहिये कि वह लोगों के आर्थिक जीवन को इस प्रकार योजनाबद्ध करें कि उससे उत्पादकता का सर्वोच्च बिन्दु हासिल हो जाये और निजी उद्यम के लिये एक भी मार्ग बन्द न हो और सम्पदा के समान वितरण के लिये एक भी मार्ग बन्द न हो और सम्पदा के समान वितरण के लिये उपबन्ध किया जाये।''[2] इन्होने एक ऐसी योजना का खाँका प्रस्तुत किया जिसका मूल उद्देश्य समाज के गरीब एवं शोषित तबके को अन्याय एवं असमानता से मुक्त करना है। इसके लिये कृषि, उद्योग और बीमा को राज्य के स्वामित्व में लाने का विचार दिया[3]–

1. वे उद्योग जो प्रमुख उद्योग है अथवा जिन्हे प्रमुख उद्योग घोषित किया जाये, राज्य के स्वामित्व में रहेगे और राज्य द्वारा चलाये जायेगें ;
2. वे उद्योग जो प्रमुख उद्योग नही है, किन्तु बुनियादी उद्योग है, राज्य के स्वामित्वाधीन रहेगे और राज्य द्वारा या राज्य द्वारा स्थापित निगमों द्वारा चलाये जायेगे ;

---

1. बुद्धशरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 134
2. Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. 66-67
3. बाबा साहेब अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 180

3. बीमा राज्य के एकाधिकार में रहेगा और राज्य हर व्यस्क नागरिक को विवश करेगा कि वह अपनी आय के अनुरूप ऐसी जीवन बीमा पालिसी ले, जो विधान–मंडल द्वारा विहित की जाये ;

4. राज्य गैर–सरकारी व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रित ऐसे उद्योगों, बीमा और कृषि भूमि में उनके जीविका सम्बन्धी अधिकार, चाहे स्वामी के नाते हो या पट्टेदार या बधंकदार के नाते अर्जित करेगा और उन्हे भूमि में उनके अधिकार के बराबर ऋण पत्र के रूप में मुआवजा अदा करेगा। परन्तु भूमि, संयत्र या प्रतिभूमि का मूल्य निकालते समय उसमे आपात स्थिति के कारण हुई वृद्धि की किसी भी सम्भावना को अथवा अनुपार्जित मूल्य या अनिवार्य अर्जन के किसी भी मूल्य को हिसाब में नही लिया जायेगा ;

5. राज्य यह निर्धारित करेगा कि कब और कैसे ऋण पत्र–धारक नकद भुगतान की मांग करने के लिये हकदार होगा ;

6. ऋणपत्र अंतरणीय और विरासत योग्य सम्पत्ति होगे, किन्तु न तो ऋणपत्र धारक और न ही भूल धारक का अंतरिती और न ही उसका वारिस राज्य द्वारा अर्जित किसी भी औद्योगिक संस्थान में हित या भूमि की वापिसी का दावा करने के लिये हकदार होगा अथवा उसके सम्बन्ध में किसी भी तरीके से व्यवहार करने के लिये हकदार होगा।

7. ऋणपत्र–धारक अपने ऋणपत्र पर ऐसी दर पर जो विधि द्वारा निश्चित की जाये, ब्याज के लिये हकदार होगा जो राज्य द्वारा नकदी में या वस्तु के रूप में, जैसा वह ठीक समझे, अदा किया जायेगा।

वास्तव में, "His Concept of Society and socialism aimed for the welfare of the poor classes,ending ineguality based on birth, eliminating discriminatary practices in social behaviour patterns, reorganising the political economy for the benefit of all, maintaining full employment and education, providing social security for the weak and the side and finally rebuilding Indian society on the foundation of co-operation, love and friendship rather than the division of men into rigid social barrier."(1)

''उनकी आर्थिक योजना की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि "राजकीय समाजवाद की स्थापना विधान–मंडल की इच्छा पर निर्भर नही करेगी। राजकीय समाजवाद की स्थापना संवैधानिक विधि द्वारा होगी और इस प्रकार उसे विधायिका और कार्यपालिका के किसी कृत्य से बदला नही जा सकेगा।''(2) डा0 अम्बेडकर ने यह प्रश्न किया : ''समाज के आर्थिक ढांचे के स्वरूप को कानून द्वारा निर्धारित करने के पीछे क्या उद्देश्य है ?'' उनका उत्तर था, '' इसका उद्देश्य अन्य व्यक्तियों द्वारा

---

1. W. N. Kuber - Dr. Ambedkar - A Critical Study, Page No. - 285
2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 194

किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आंक्रमण करने से सुरक्षा करना है जो मौलिक अधिकारों के निर्माण का लक्ष्य होता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समाज के आर्थिक ढाचे के स्वरूप के बीच जो सम्बन्ध है प्रत्येक को स्पष्ट मले ही न हो, फिर भी दोनों के बीच वास्तविक सम्बन्ध है।"(1)

नशाबन्दी को डा0 अम्बेडकर इस देश के लिये एक गम्भीर समस्या मानते थे। नशा का सेवन, व्यक्तिगत बुराई के साथ–साथ सामाजिक बुराई भी है। नशा के सेवन से व्यक्ति – पथ भ्रष्ट होता है, सामाजिक बुराई पैदा होती है तथा सम्पत्ति का अपव्यय होता है। नशा नकारात्मक क्रिया है। इसका निषेध व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र सबके लिये सुखदायक और हितकर है। नशाबन्दी के सम्बन्ध में डा0 अम्बेडकर ने कहा है "नशाबन्दी समस्या की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर है कि आप इस समस्या का आर्थिक समाधान निकाल सकते है या नही। राष्ट्र की उन्नति राष्ट्र को तबाह करने वाले प्रभावों को नष्ट करके की जा सकती है।"(2)

10 मार्च 1927 को मद्य निषेध एक्ट संशोधन बिल पेश किया।(3) डा0 अम्बेडकर ने बम्बई विधानसभा में सरकार की नशाबन्दी नीति पर बोलते हुये तर्क दिया कि "नशाबन्दी की समस्या राज्य की आर्थिक स्थिति का प्रश्न है और नाजायज शराब को बाजार में आने से रोकना सरकार के लिये एक बड़ा कार्य है।"(4) यदि नशाबन्दी नीति का ईमानदारी से पालन किया जाये, तो यह एक अत्यधिक खर्चीला मामला होगा । उन्होंने कहा राज्य में अवैध शराब की बढ़ोत्तरी निश्चित रूप से चिन्ताजनक है। इस बढ़ोत्तरी का एक मात्र कारण है कि देशी शराब पर बहुत अधिक शुल्क लगाया गया। यदि अवैध शराब की वृद्धि को रोकना है तो सरकार को शुल्क दरो पर पुनः विचार करना होगा। यद्यपि मद्य निषेध को सफलातापूर्वक लागू करना है तो इसके परिणामस्वरूप वित्तीय हानि के लिये सरकार को तैयार रहना होगा। इस वित्तीय हानि को अतिरिक्त कर लगाकर पूरा कर सकते है।(5)

दलित समुदाय की आर्थिक समस्याओं के सन्दर्भ में डा0 अम्बेडकर का चिन्तन–

(क) जाति–व्यवस्था का अर्थशास्त्र :–

डा0 अम्बेडकर ने एक मंझे हुये अर्थशास्त्री की भाँति सामाजिक व्यवस्थाजनित आर्थिक

1. स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटीज, पृष्ठ – 31–32
2. बुद्धशरण हंस, डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 50
3. डा0 अँगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 28
4. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर का मानवतावादी चिंतन, पृष्ठ – 41
5. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 183

विकृतियों का सम्पूर्ण विश्लेषण किया – इनमें जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता प्रमुख है। जाति व्यवस्था जनित अन्याय, शोषण, असमानता का वैज्ञानिक विश्लेषण डा0 अम्बेडकर ने अपनी दो किताबों – Annihilation of caste And what Congress and Gandhi have done to the Untouchable में किया है।[1]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू समाज व्यवस्था वर्गीकृत असमानता पर आधारित है। क्रमिक असमानता का सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्र में भी है। हिन्दू समाज व्यवस्था का सिद्धान्त यह नही है कि 'किसी की हैसियत के अनुसार लो और आवश्यकतानुसार दो'। हिन्दू समाज व्यवस्था का सिद्धान्त है, 'आवश्यकतानुसार लो और श्रेष्ठता के अनुसार दो'। माना कि कोई अधिकारी अकाल से पीड़ित लोगों को अनुदान बांट रहा हो, तो वह निम्न वर्ग के कामों की तुलना में उच्च वर्ग के लोगों को अधिक अनुदान देने के लिए बाध्य होगा । इसी तरह माना कोई अधिकारी कर लगा रहा हो तो वह उच्च वर्ग के व्यक्ति पर कम कर लगायेगा और निम्न वर्ग के व्यक्ति पर अधिक कर लगाएगा । हिन्दू समाज–व्यवस्था समान आवश्यकता, समान कार्य, या समान योग्यता पर समान पारिश्रमिकता को मान्यता प्रदान नहीं करती। जीवन में अच्छी चीजों के वितरण के सम्बन्ध में इसका एक मात्र लक्ष्य यह है कि जिन लोगों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, उन्हें सबसे अधिक और सबसे अच्छा मिलना चाहिये और जो लोग निम्न वर्ग के अन्तर्गत आते है, उन्हें निम्नतम तथा निकृष्टतम पर ही संतोष कर लेना चाहिये ।[2]

पराम्परागत रूप में हिन्दू समाज चार्तुवर्ण्य पर आधारित है। डा0 अम्बेडकर का मानना है कि जिस हिन्दू ढ़ाँचे पर सामाजिक रचना है जिसमें व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं रूचि के अनुकूल व्यवसाय चुनने की आजादी नही है, जाति केवल व्यक्ति के पेशे का निर्धारण नहीं करती है अपितु उसे वंश दर वंश उसी पेशे से बांध देती है ऐसे समाज में वे लोग लाभान्वित होते है जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्षतः न तो भागीदार होते है और न ही कोई शारीरिक श्रम ही करते है। वे दूसरों के पसीनों पर अपने वैभव का महल बनाते है और सवर्णो की सेवा करने वाले, दिन रात पसीना बहाने वाले दलित को इतना पारिश्रमिक भी नही मिलता है कि वह इज्जत की रोटी खा सके।[3] जाति की आर्थिक दृष्टि से अनुपोगिता सिद्ध करते हुये डा0 अम्बेडकर ने निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किये –

1. जाति से श्रमिकों का विभाजन होता है। 2. जाति के कारण मनुष्य की उसके कार्य के प्रति रूचि नहीं रहती । 3. जाति के कारण बुद्धि का शारीरिक श्रम से सम्बन्ध नही रहता । 4. जाति मनुष्य

---

1. Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. - 56
2. बाबा साहेब अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 180
3. एच0 एल0 पाण्डेय गाँधी नेहरू टैगोर एवं अम्बेडकर, पृष्ठ – 125

की प्रमुख रूचि को विकसित करने के उसके अधिकार को नकारती है, जिसके कारण वह निर्जीव बनता है, और 5. जाति स्थान परिवर्तन पर प्रतिबन्ध लगाती है।[1]

जाति से केवल श्रम का विभाजन नहीं है :–

जाति व्यवस्था केवल श्रमिकों का विभाजन करने वाली व्यवस्था नहीं है – जो कि श्रम के विभाजन से सर्वथा भिन्न है, बल्कि वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों के विभाजन की श्रेणी एक–दूसरे से ऊपर निर्धारित की गई है । किसी भी देश में श्रम के विभाजन के साथ–साथ श्रमिकों का इस प्रकार अलग–अलग श्रेणियों में विभाजन नहीं किया गया है। जाति व्यवस्था के इस पहलू के सम्बन्ध में आलोचना करने का एक तीसरा दृष्टिकोण भी है। श्रम का यह विभाजन अपने–आप नही हो गया, और न ही यह किसी स्वाभाविक योग्यता पर आधारित है। सामाजिक तथा निजी कार्यक्षमता के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी भी व्यक्ति की योग्यता को निपुण बनाये, जिससे वह अपने जीवन व्यवसाय काचयन कर सके और उसे सुदृढ़ बना सके। जाति व्यवस्था में इस सिद्धान्त का उल्लघंन होता है, क्योंकि इसमें किसी भी व्यक्ति का कार्य उसके जन्म से पहले ही तय हो जाता है, उसका चुनाव उसकी मौलिक योग्यता के आधार पर नही, किन्तु उसके माता–पिता के सामाजिक स्तर पर आधारित होता है।

जाति व्यवस्था हिन्दू जनों को ऐसे व्यवसाय करने की अनुमति नही देती जो वंश–परम्परा के अनुसार उनके अपने व्यवसाय न हो। यदि किसी हिन्दू को कम कोई ऐसा नया व्यवसाय जो उसकी जाति के लिये निर्धारित नही है, अपनाने के बजाये भूखा मरते हुये देखते है, तो उसका कारण जाति व्यवस्था में ही मिलता है। व्यवसायों में परिवर्तन करने की अनुमति न देने से जाति व्यवस्था देश की वर्तमान बेरोजगारी के लिये सीधा जिम्मेदार बन गई। श्रम विभाजन को लेकर जाति व्यवस्था में और भी एक गम्भीर दोष है। जाति व्यवस्था ने श्रम का जो विभाजन किया है, यह चयन के अधिकार पर आधारित नहीं है। उसमें किसी प्रकार की व्यक्तिगत भावना तथा पसंद–नापसंद का कोई स्थान नहीं है। वह पूर्ण रूप से भाग्य के सिद्धान्त पर आधारित है। सामाजिक दक्षता पर विचार करने पर हम इस बात को स्वीकार करने के लिये बाध्य होगे कि किसी भी औद्योगिक व्यवस्था में गरीबी और दुख इतनी बड़ी बुराई नहीं है, जितनी कि यह

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 90

वास्तविकता कि बहुत से लोगों को ऐसे व्यवसाय करने के लिये मजबूर किया जाता जिनसे उनकी कोई रूचि नही होती। ऐसे व्यवसाय उनमें निरन्तर घृणा, हीनभावना तथा कार्य से दूर भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते है।

जाति के कारण मनुष्य की उसके कार्य के प्रति रूचि नहीं रहती –

जाति व्यवस्था ने जो हानि की है, वह यह है कि उसने बुद्धि का कार्य से सम्बन्ध तोड़ दिया है और श्रम के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न की है । जाति का सिद्धान्त यह है कि ब्राह्मण, जिसे बुद्धि का विकास करने की अनुमति है, उसे श्रम करने की अनुमति नहीं है, वस्तुतः उससे श्रम को ही न मानने की शिक्षा दी जाती है । जबकि शूद्र को श्रम करने की अनुमति है, परन्तु अपनी बुद्धि का विकास करने की अनुमति नहीं है । जाति, मनुष्य को निर्जीव बनाती है। वह मनुष्य को निष्फल बनाने की प्रक्रिया है । शिक्षा, सम्पत्ति तथा परिश्रम सभी के लिये आवश्यक है, यदि व्यक्ति एक स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण मनुष्य बनना चाहता है। सम्पत्ति एवं परिश्रम के बिना शिक्षा का होना व्यर्थ है। उसी प्रकार शिक्षा तथा परिश्रम के बिना सम्पत्ति का होना व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये इनमे से हर चींज आवश्यक है। यह सभी बातें मनुष्य मात्र के विकास के लिये आवश्यक है।

ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्षत्रिय को शस्त्र चलाने की शिक्षा लेनी चाहिये, वैश्य को व्यापार करना चाहिये और शूद्र को सेवा करनी चाहिये यह सब परिवार में परस्पर निर्भरता का जो सिद्धान्त निहित है, उस रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह पूछा जाता है कि एक शूद्र को धन प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है, जब अन्य तीनों वर्ग उसकी सहायता करने के लिये मौजूद है ? शूद्र को शिक्षा प्राप्त करने की क्या आवश्यकता जब क्षत्रिय उसकी रक्षा करने के लिये तैयार है, तब उसे शस्त्र धारण करने की क्या आवश्यकता है ? चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को इस अर्थ में समझते हुये कहा जा सकता है कि समाज में शूद्र को एक रक्षित व्यक्ति के रूप में और अन्य तीनों वर्गो को उसके रक्षक के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार का अर्थ लगाने से यह एक सरल तथा प्रलोभित करने वाला सिद्धान्त बन जाता है। चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के पीछे यही सही दृष्टिकोण है, ऐसा जानते हुये भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था न तो अपने आप में एक परिपूर्ण व्यवस्था है, और न ही छलपूर्ण उद्‌देश्य से मुक्त है।[1]

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 6, पृष्ठ – 90–92

इस प्रकार आर्थिक संगठन के रूप में डा0 अम्बेडकर ने जाति प्रथा को एक हानिकारक संस्था माना क्योंकि यह व्यक्ति को नैसर्गिक शक्ति एवं सामाजिक नियमों के बन्धन के लगाव से दबाकर निष्क्रिय बना देती है।[1] इसलिए डा0 अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था के उन्मूलन को ही आर्थिक न्याय, स्वतन्त्रता एवं समानता का पर्याय माना।

अस्पृश्य समाज की आर्थिक कठिनाईयाँ :-

डा0 अम्बेडकर के अनुसार अधिकांश लोग यह सोचते है कि अस्पृश्यता एक धार्मिक व्यवस्था है। यह सत्य है। परन्तु केवल इसको एक धार्मिक व्यवस्था मानना गलत है। यह एक ऐसी अन्यायपरक अर्थव्यवस्था है कि जो गुलामी से भी बद्तर है। डा0 अम्बेडकर ने इन दोनों में अन्तर बतलाते हुये कहा कि,''दास की देखभाल, भोजन-वस्त्र, आवास आदि के लिये मालिक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है, जबकि अस्पृश्य को उसका मालिक दुत्कारता है, उसकी कोई चिन्ता नही करता भले ही वह भूख-प्यास, बीमारी आदि से मरता रहे। अस्पृश्यता में किसी प्रकार की सुरक्षा नहीं है। अस्पृश्य से काम लिया जाता है, किन्तु बेगार आदि के रूप में। संक्षेप में, दासता की तुलना में, अस्पृश्यता, निर्ममता, निर्दयता तथा निष्ठुरता है।''[2]

डा0 अम्बेडकर ने कहा आर्थिक दृष्टि से अछूतो का शोषण इस कारण सम्भव हो पाया है क्योंकि वह जीविका के लिये उच्च जातियों पर आश्रित रहे हैं। उनके शब्दों में,- "The Hindus own everything . They own land in this country. They untral trade and they also own the state . Every source of revenue and profit is controlled by them . Other communities and particularly the untouchables are just hewers of wood and drawers of water. The social system helps the Hindus to have a monopoly on everything."[3]

विश्व में अन्यत्र ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जैसा कि हिन्दू कानून में मिलता है कि इसने शूद्रों के धन कमाने के अधिकार को दण्डनीय बना दिया। इस अमानवीय व्यवस्था ने गरीबी को बढ़ावा दिया। उनके शब्दों में, "The Hindu social order which maintained untouchability with its Socio-Economic evills is a Diabolical Contrivence to suppress and enslave

---

1. डा0 अम्बेडकर - जातिभेद का उन्मूलन, पृष्ठ - 33, अनुवादक - एस0 एल0 सागर
2. Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. - 61
3. Ibid, Page No. 61

humanity. Its proper name would be infamy." [1]

डा0 अम्बेडकर ने स्वतन्त्र भारत में अछूतों की समस्या पर गहराई से विचार किया। संविधान निर्माता के रूप में, उन्होनें अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिये अनुच्छेद – 17 में अनुसूचित जाति एवं जनजाति की आर्थिक परवशता को समाप्त करने के लिये शिक्षा एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्रदान करवाया क्योंकि आर्थिक स्वतन्त्रता ही उनके शोषण को समाप्त कर सकती है। संविधान में उन्होंने मौलिक अधिकार के रूप में अवसर की समानता, व्यवसाय चुनने की छूट और शोषण से सुरक्षा का अधिकार प्रदान किया जो कि परम्परागत जातीय आधार को नष्ट करते हैं। अस्पृश्यता को समाप्त करने हेतु उन्होंने अस्पृश्यों को स्वयं को शिक्षित कर अपने आत्म–सम्मान के लिए लड़ने का मूल्यवान आदर्श दिया ।

डा0 अम्बेडकर की सम्पूर्ण आर्थिक दर्शन के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि वह मानवतावादी है। निश्चित रूप से इसको बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की अभिव्यक्ति मान सकते हैं।[2] उनका सम्पूर्ण आर्थिक दर्शन स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना से अनुप्राणित है। इस रूप में उनकी आर्थिक विचारधारा को केवल दलित समाज के हित से सीमित करना, उनके राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं के समाधान के प्रति उनके आर्थिक दर्शन के योगदान को नकारना है। उनका राजकीय समाजवाद का विचार गरीबों के उत्थान, जन्म पर आधारित भेदभाव को समाप्त करने, सामाजिक जीवन में प्रचलित दमन एवं शोषण को समाप्त करने से सम्बन्धित था। जीवन बीमा और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण का उनका विचार उनकी इस देश की आर्थिक समस्याओं के प्रति गम्भीर चिन्तन को दर्शाता है। उन्होनें भारत की पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख कारण ग्रामीण भारत में भूमि–सुधारों के सन्दर्भ में सामयिक उपायों की देरी को माना । ग्रामीण अर्थव्यवस्था को उन्नतशील सर्वश्रेष्ठ करने के लिये उन्होने लोकतान्त्रिक सामूहिक कृषि प्रणाली को माना । क्योंकि इसी से आर्थिक सुदृढ़ता एवं उच्च उत्पादकता सम्भव होगी । इसी के द्वारा आर्थिक शोषण एवं सामाजिक अन्याय भी खत्म होगा। सामूहिक कृषि के परिणामस्वरूप न कोई भू–पति होगा न कोई भूमिहीन मजदूर होगा।[3] सामूहिक खेती में सबकी

---

1. Ibid, Page No. - 62
2. Ibid, Page No. - 83
3. W. N. Kuber - Dr. Ambedkar - Critical Study, Page No. 284-285

सामूहिक जिम्मेदारी होती, न न्यूनतम मजदूरी का झगड़ा होता न बटाईदारी का।

डा0 अम्बेडकर भौतिकतावादी नहीं थे। उन्होने भौतिक समृद्धि में प्रवृत्त होने के स्थान पर स्वतन्त्रता, समानता, समाजवादी आदि मूल्यों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। भगवान बुद्ध के मध्यम–मार्ग को ध्यान में रखते हुये, डा0 अम्बेडकर ने बल दिया कि ''आदमी को भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों में साथ–साथ समृद्धि करनी चाहिये और 'मोटे सुअर' होने के दर्शन का अनुसरण नही करना चाहिये।[1] उनकी दृष्टि में, भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा मानव मूल्य कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

अम्बडेकर ने कहा था कि, ''जाति–भावनाओं से आर्थिक विकास रूकता है। इससे वे स्थितियाँ पैदा होती है जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरूद्ध है। जाँत–पाँत के रहते हुये ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धान्तों के विरूद्ध रहेगा।'' उनका मानना था कि पूँजीवाद आर्थिक विषमता उत्पन्न करता है। साम्यवाद असमानता और शोषण को समाप्त करता है किन्तु मजदूर की इच्छा का हनन भी करता है। स्वतन्त्रता एवं समानता समाजवाद से ही सम्भव है। समाज के बहुसंख्यक कमजोर वर्ग के लोगों को आर्थिक शोषण के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिये अम्बेडकर ने संविधानं में समाजवाद को सम्मिलित किये जाने की सिफारिश की थी।[2]

अन्ततः कहा जा सकता है कि अम्बेडकर की अर्थशास्त्र के प्रति गहरी रूचि थी, समाजिक विषमताओं को समाप्त करने के लिये आर्थिक चिन्तन जो उनके पास था, वह समाजवादी एवं समय सापेक्ष था, किन्तु वे अछूतोद्धार की समस्या से ही जीवन भर लड़ते रहे और अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर उनका चिन्तन विशेष नहीं गया और वे समाज सुधार सम्बन्धी कार्यो में ही लगे रहे। इनका मानना था कि – 'धर्म, सामाजिक परिस्थिति और सम्पत्ति सभी समान रूप से शक्ति और सत्ता के स्रोत है। इसलिये मूलभूत सामाजिक़ सुधारों को लागू किये बिना आर्थिक सुधारों को लागू करना कठिन होगा।[3]

---

1. डा0 बाबा साहे अम्बेडकर – राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड–3, पृष्ठ –462, 1987
2. एच0 एल0 पाण्डे – गाँधी नेहरू टैगोर एवं अम्बेडकर, पृष्ठ – 126
3. पूर्वोक्त – पृष्ठ – 127

राजनीतिक–न्याय

डा0 अम्बेडकर राजनीतिक चिन्तक एवं निपुण राजनीतिज्ञ थे। उनके राजनीतिक चिन्तन पर विज्ञान निष्ठा, आधुनिक सामाजिक चिन्तन और पश्चिमी राजनीतिक, आर्थिक अवधारणाओं की गहरी छाप थी । उनकी राजनीति संयोजना गहरी और स्पष्ट थी। वह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के पक्षधर थे जहाँ राजनीतिक गतिविधियां सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को समुचित ढंग से प्रभावित करने वाली हों। जनतांन्त्रिक व्यवस्था में अटूट विश्वास रखने वाले डा0 अम्बेडकर इस बात पर अटल थे कि राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र ही है। राज्य को वह सामाजिक न्याय और कमजोर वर्गों के सरंक्षक होने के साथ–साथ मानवीय हितों को आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन मानते थे। सच्चे राष्ट्रीयवादी समाजवादी की हैसियत से उन्होंने राज्य को कल्याणकारी बनाने के उपायों और योजनाओं पर हमेशा गौर किया ।

डा0 अम्बेडकर आधुनिक भारत के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे। वह ऐसा नया समाज चाहते थे जिसमें प्रत्येक नागरिक को शिक्षा, न्याय, स्वतन्त्रता, समता जैसे बहुमूल्य अधिकार प्राप्त हों। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु डा0 अम्बेडकर ने देश के राजनीतिक ढ़ाचे को संसदीय लोकतन्त्र से जोड़ा और उसी के अनुरूप सामाजिक ढ़ाँचे को भी पुनर्गठित करने पर जोर दिया। उनकी राय में, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ एक दूसरे की पूरक होती है। न केवल इतना ही, सामाजिक ढ़ाँचा कही अधिक प्रभावी होता है। सामाजिक ढ़ाँचा देश की समस्त आर्थिक एवं राजनीतिक क्रियाओं को निर्णायक मोड़ देता है। इसलिये डा0 अम्बेडकर ने कहा था कि संविधान में वर्णित राजनीति एवं कानूनी ढ़ाँचा ही पर्याप्त नहीं है। हमारे यहाँ सामाजिक लोकतन्त्र का होना भी परमावश्यक है। यही कारण है कि उन सभी सामाजिक बुराईयाँ, जैसे छुआछूत, जाति–प्रथा, बाल–विवाह, दहेज–प्रथा, ऊँच–नीच में निहित भेदभाव तथा जन्माधारित प्रतिष्ठा को समाप्त कर लेना चाहिये, जो हमारी राजनीतिक व्यवस्था को दूषित करती हैं । डा0 अम्बेडकर ने चाहा कि भारत के प्रत्येक नागरिक, दल या संस्था की भूमिका क्रियात्मक और रचनात्मक होनी चाहिये ताकि देश का समुचित विकास हो सके।[1]

---

1. डा0 डी0 आर0 जाटव – डा0 अम्बेडकर का समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 8

चूंकि डा0 अम्बेडकर दलित समुदाय की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की लड़ाई से पूरी तरह जुड़े थे, अतः लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था में इस समुदाय के राजनैतिक अधिकार किस तरह सुनिश्चत हो सके इसके लिये अपना ध्यान केन्द्रित किया । महाड़ सत्याग्रह, मन्दिर प्रवेश आन्दोलन में अछूतों की सामाजिक समानता और धार्मिक स्वतन्त्रता की निर्णायक लड़ाई लड़ने के बाद उन्होंने महसूस किया कि दलित वर्गो को अपनी ऊर्जा राजनीतिक सत्ता पर केन्द्रित करनी चाहिये । दलित समुदाय को राजनीतिक अधिकार मिले। वह अपने सामाजिक, आर्थिक अधिकारों का प्रयोग कर सके, यह उनके जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य था। उन्होंने दलित प्रश्न के राजनीतिक समाधान पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। डा0 अम्बेडकर दलित मुक्ति, राज्य और सत्ता में उनकी साझेदारी को निर्णायक मानते हैं और इसके लिये उन्होंने एक लम्बी लड़ाई लड़ी। वास्तव में व्यस्क मताधिकार और सदियों से पद्दलित लोगों की सत्ता में भागेदारी एक ओर जहाँ दलित समाज को राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता एवं समानता प्रदान करने की दिशा में दूरदर्शी कदम थे वही लोकतन्त्र आत्मा के अनुकूल भी थे। अतएव उनकी राजनीतिक विचारधारा कल्याणकारी राज्य एवं संवैधानिक लोकतन्त्र के माध्यम से प्रत्येक नागरिक को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करने का आग्रह रखती है।

डा0 अम्बेडकर स्वशासन के पक्षपाती थे लेकिन उनके विचार से स्वशासन का सुशासन होना आवश्यक था । उनकी दृष्टि में स्वशासन की सार्थकता तभी तक है जबकि वह सुशासन हो । सुशासन की कसौटी है – निष्पक्षता, न्याय, स्वच्छ प्रशासन और एक ऐसे वातावरण का निर्माण जिसमें लोग अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सकें । अच्छे शासन के लिए यह आवश्यक है कि वह वर्गगत भेदभावों तथा संघर्षों से ऊँचा उठ सकें ।[1]

राज्य :–

डा0 अम्बेडकर ने समाज को राज्य से ज्यादा महत्व दिया। उनके अनुसार एक आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्य आन्तरिक अशान्ति को दूर करके कानून व्यवस्था बनाये रखना, बाहरी आक्रमण से रक्षा करना तथा अपनी जनता को प्रशासन और कल्याण के न्यूनतम मानकों

---

1. विश्वप्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता – भीमराव अम्बेडकर, व्यक्ति और विचार, पृष्ठ – 146

की गारन्टी देना है।[1] उन्होने राज्य के सर्वोच्च नही माना। उन्होने आदर्शवादियों के इस विचार को नकारा की राज्य सर्वशक्तिमान है और व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिये राज्य पर निर्भर है। उनके अनुसार व्यक्ति राज्य का निर्माण करते है, बिना उनके राज्य का कोई अस्तित्व नही है। राज्य का प्रमुख उद्देश्य यही होना चाहये कि वह व्यक्ति को इस योग्य बनाये कि व्यक्ति अपना सर्वोत्तम पाने में समर्थ हो। इस रूप में, राज्य उनके अनुसार एक साध्य न होकर के एक साध ान है और इसका कर्तव्य ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण करना है जहाँ इसके सदस्य खुशहाल जीवन जी सके।[2]

डा० अम्बेडकर ने हाब्स, हीगल, बोसांके द्वारा स्थापित राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नकारा। उन्होने राज्य को मानवीय संस्था माना जिसके उन्होने निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये–

(1) To maintain the right of every subject of life, liberty and pursuit of happiness and to free speech and free exercise of religion .

(2) To remove social, political and economic inequality by providing letter of opportunities to the submerged classes and

(3) To make if possible for every subject to enjoy freedom from want and freedom for fear."[3]

उन्होंने कहा कि राज्य को अपनी जनता के हित में एक सेवक की भाँति कार्य करना चाहिये जब राज्य लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करता है तब वह नैतिक और सामाजिक आदर्श के अनुरूप होता है। राज्य का सर्वोत्तम कर्तव्य यही होना चाहिये कि एक समुदाय द्वारा दूसरे समुदाय को रोकें साथ ही अपनी राज्य की सीमा में होने वाले हर प्रकार की हिंसा, अशांति, व्यवधानों को समाप्त करे।[4]

एक कानूनविद् होने के कारण डा० अम्बेडकर ने एक सभ्य समाज में कानून के महत्व को स्वीकार किया । उनके अनुसार सामाजिक शान्ति एवं न्याय को सदस्यों के बीच बनाये रखने के लिये कानून एक महत्वपूर्ण कारक है । यह समाज में समानता, स्वतन्त्रता का सरंक्षक है। उन्होनें कहा कि राज्य ऐसी कोई विधि या प्रथा नहीं बनायेगा या प्रवर्तित करेगा जो नागरिकों

---

1. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 173
2. W. N. Kuber - Dr. Ambedkar - A Critical Study, Page No. - 294-295
3. Ambedkar, States and Minorities, Page No. - 3
4. W. N. Kuber - Dr. Ambedkar - A Critical Study, Page No. - 295

के विशेषाधिकारों या उन्मुक्तियों को कम करती हो, न ही राज्य विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना किसी व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति से वंचित करेगा, और न ही अपने क्षेत्राधिकार के भीतर किसी व्यक्ति को विधियों के समान संरक्षण से वंचित करेगा।[1]

अतएव उनके अनुसार राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को अपने सदस्यों के बीच स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय व्यवस्था को बनाये रखना है उनके शब्दों में –

"The State existed only to prevent injustice, tyranny and oppression. It thus had to serve the people - the weak and the needy."[2]

लोकतन्त्र :–

डा0 अम्बेडकर को लोकतंत्र पर पूर्ण विश्वास था । वह स्वतन्त्रता एवं समानता को प्रजातन्त्र की आत्मा मानते थे।[3] डा0 अम्बेडकर के अनुसार लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है जिसके द्वारा लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन बिना किसी रक्तपात के सम्भव हो सके।[4] उन्होने आगे कहा, –

"If democracy can enable those who are running it to bring about fundamental changes in the social and economic life of the people and the people accept those changes without resorting to blood shed, then I say that there is democracy . That is the real test. It is perhaps the severest test . But when you are judging the quality of a material, you must put it to the severest test."[5]

डा0 अम्बेडकर ने कहा–''प्रजातन्त्र सम्मिलित जीवन की एक प्रणाली है। प्रजातन्त्र की जड़ उन लोगों के सामाजिक जीवन मिश्रित सम्बन्ध में खोजना होगा जिन लोगों ने मिलकर प्रजातन्त्र की स्थापना की है।''[6]

लोकतन्त्र की बुनियादी शर्तो को रेखांकित करते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा था –

---

1. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 175–176
2. Ambedkar's Address to AISCF Session, Bombay, 6 May 1945
3. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 8, पृष्ठ – 286
4. Narendra Jadhav - Ambedkar's Economic Thought and Philosophy, Page No. - 71
5. Quoted from thus spoke Ambedkar, Volume No. 1, Edited by Bhagwan Das (3rd Edition, 1977), Page No. 61
6. बुद्धशरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 111

"राजनैतिक लोकतन्त्र तब तक कायम नहीं रह सकता जब तक उसकी नीव में सामाजिक लोकतन्त्र अर्थात् स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व जीवन के सिद्धान्त रूप में व्यवहृत न हो। वास्तव में समाज की रचना जैसी होगी राजनैतिक प्रजातन्त्र वैसा ही होगा। राजनैतिक प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि सामाजिक विषमता, ऊँच–नीच की भावना आदि न हो।"[1] डा0 अम्बेडकर ने आगे कहा था, ''सामाजिक प्रजातन्त्र के रगों और रेशों से ही राजनैतिक प्रजातन्त्रवाद बनता है। रंग और रेसे जितने ही अधिक मजबूत होंगे, शरीर उतना ही मजबूत होगा।''[2]

डा0 अम्बेडकर के अनुसार किसी भी लोकतान्त्रिक समाज का मूल गुण राजनीतिक समानता और स्वतन्त्रता होता है। लेकिन लोकतन्त्र का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं समानता में ही निहित नहीं है क्योंकि सामाजिक समानता और आर्थिक अवसरों की उपलब्धतता के बिना लोकतन्त्र अधूरा है। उनके शब्दों में, ''हमें केवल राजनीतिक प्रजातन्त्र से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये। हमें यह कोशिश लगातार करनी चाहिये कि यह प्रजातन्त्र हमारे सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में पूरी तरह समा जाये। अर्थात् प्रजातन्त्र केवल राजनैतिक ही नही, आर्थिक और सामाजिक भी होना चाहिये।''[3]

डा0 अम्बेडकर ने माना कि स्वतन्त्रता, सामाजिक समानता और आर्थिक अवसरों की समान उपलब्धता के अभाव में अधूरी है। उन्होंने कहा कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता का मतलब है कि – "Liberty to the landlords to increase rents, for Capitalism to increase hours of work and reduce rate of wages."[4]

इस प्रकार के माहौल में गरीब, अशिक्षित बेरोजगार और अधिक आर्थिक रूप से परतन्त्र हो जायेगें। यही कारण था कि डा0 अम्बेडकर ने आर्थिक मामलों को राज्य के नियन्त्रंण में सौपने का पक्ष लिया। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि राज्य आर्थिक अवसरों की समानता का सरंक्षक बने । यही एक तरीका है जिसके माध्यम से गरीब, शोषित और दलित समुदाय अपनी

---

1. डा0 अँगनेलाल – बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 107
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 107
3. बसन्तमून – डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 167
4. Baba Saheb Ambedkar, States and Minorities, (1970), Page No. 34

आर्थिक स्वतन्त्रता को बचाये रख सकते हैं ।

डा0 अम्बेडकर समाज के राजनीतिक ढ़ाँचे को आर्थिक स्वरूप के अनुरूप चाहते थे ताकि सशक्त आर्थिक तत्व राजनीतिक व्यवस्था को अपनी मन–मर्जी से न बदल सकें। डा0 अम्बेडकर के समक्ष प्रश्न यह था कि प्रजातान्त्रिक आदर्श को समाजवादी दृष्टिकोण सहित संविधान के कानून के माध्यम से लागू किया जाये। इसके लिये उन्होने निम्नांकित ढ़ंग से सही–सही युक्ति दी : ''प्रजातन्त्र की आत्मा एक आदमी, एक मूल्य का सिद्धान्त है। दुर्भाग्यवश, प्रजातंत्र ने इस सिद्धान्त को केवल राजनीतिक ढ़ाँचे में ही लागू करने का प्रयास किया है एक आदमी एक वोट के नियम को लागू करके जिसे यह मान लिया गया कि यही एक आदमी, एक मूल्य का मानदण्ड हैं । इसमें आर्थिक ढ़ाँचें को उनके द्वारा निर्मित करने के लिये छोड़ दिया जो इसे परिवर्तित करने की स्थिति में है। ऐसा ही हुआ है, क्योंकि सांविधानिक अधिवक्ता एक पुरातन अवधारणा से अभिभूत है कि प्रजातन्त्र के लिये एक पूर्ण संविधान में जो कुछ अनिवार्य है, वह संवैधानिक कानून बना देना है जो सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनादेगा और सरकार द्वारा जनता के प्रति दमन को रोकेगा। अब अधिवक्ताओं को यह महसूस करना चाहिये कि ''यदि प्रजातन्त्र को अपने सिद्धान्त एक आदमी, एक मूल्य सहित जीवित रहना है, तो यह समान रूप से अनिवार्य है कि समाज के आर्थिक ढ़ाचे के स्वरूप का भी निर्धारण किया जाये। संविधान के कानून द्वारा समाज के आर्थिक और साथ–साथ राजनैतिक ढ़ाचे दोनों को परिभाषित करने के लिये, एक साहसी कदम उठाने का समय आ गया है।''[1]

सामाजिक, आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये इन्होंने नीति–निर्देशक सिद्धान्तों को संविधान का अनोखा लक्षण बताया, क्योंकि इस मांग ने आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्य के लिये एक व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम की रचना की है।[2] अनु0 38 के अनुसार ''राज्य यथासंभव प्रभावशाली रूप में ऐसी सामाजिक व्यवस्था, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को प्रेरित करे, कार्य साधक के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक–कल्याण के रूप में स्थापना की उन्नति का प्रयास करेगा।'' [3]

---

1. Ibid, Page No. 35
2. G. N. Joshi, The constitution of India, Page No. -112
3. जे0 सी0 जौहरी, आर0 के0 पुरवार – भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ – 432

निम्नलिखित नीति निर्देशक तत्व निश्चित रूप से डा0 अम्बेडकर के सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र की भावना को दर्शाते हैं –

1. समस्त नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो,
2. जनहित में समाज की सम्पत्ति का वितरण हो,
3. सभी को समान कार्य के लिये समान वेतन मिले,
4. आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन हो जिससे जनहित में धन व उत्पादन के साधनों का प्रयोग किया जा सके,
5. श्रमिकों व बाल श्रमिकों का संरक्षण हो,
6. कानूनी व्यवस्था का क्रियान्वयन हो, समान अवसरों के आधार पर न्याय का विकास हो तथा केवल आर्थिक व अन्य अभावों के कारण किसी नागरिक को न्याय से वंचित न होने दिया जाए,
7. आय की विषमताओं को कम किया जाए, जो पदवी, सुविधाओं और अवसरों में व्यक्तिगत असमानताओं का उन्मूलन करे तथा विभिन्न क्षेत्रों व व्यवसायों के लोगों में असमानता की समाप्ति हो।
8. समाज के पिछड़े वर्गों विशेषतया अनुसूचित जातियों या वन्य–जातियों के शिक्षा व आर्थिक सम्बन्धी हितों का संरक्षण व प्रोत्साहन हो तथा सामाजिक अन्याय व शोषणों से उनकी मुक्ति हो...............[1]

इस प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र को डा0 अम्बेडकर ने राजनीतिक लोकतंत्र की पूर्व शर्त माना। क्योंकि बिना इनके राजनीतिक लोकतंत्र का कोई मूल्य नहीं है – "26 जनवरी 1950 को हम विरोधाभाव पूर्ण जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं । राजनीति में हम सब समान होंगे, किन्तु सामाजिक और आर्थिक जीवन में हम असमान होंगे। अतिशीघ्र ही हमें इस विरोधाभास को समाप्त करना होगा अन्यथा जो लोग असमानता त्रस्त, प्रभावित होंगे, वे इस राजनीतिक पजातंत्र को ध्वस्त करके रख देंगे जिसे इस सभा ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक बनाया है।''[2]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 432–433
2. बुद्धशरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 110

सार्वजनिक व्यस्क मताधिकार :–

डा0 अम्बेडकर के अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता का तात्पर्य व्यक्ति की उस स्वतंत्रता से है जिसके अनुसार वह कानून बनाने तथा सरकारों को बनाने अथवा बदलने में भागीदार होता है। उनके अनुसार मताधिकार का अर्थ है सह जीवन की शर्तों को तय करने का अधिकार । वास्तव में व्यस्क मताधिकार ही वह प्रणाली है जो इस अर्थ के अनुरूप है। सह जीवन से हर व्यक्ति जुड़ा रहता है और चूंकि उसके परिणामों का प्रभाव हर व्यक्ति पर पड़ता है, अतः हर व्यक्ति को उसकी शर्तों को तय करने का अधिकार मिलना ही चाहिये । इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति जितना गरीब है, उतनी ही अधिक जरूरत मताधिकार देने की है। कारण, हर उस समाज में जो व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित है, वहां मालिकों और मजदूरों के बीच सह जीवन की शर्तें प्रारम्भ से ही मजदूरों के प्रतिकूल तय होती है। यदि इस बात की गारंटी देनी है कि मजदूरों के कल्याण पर मालिकों का खतरा न मंड़राए तो उनके सहजीवन की शर्तों को निरन्तर पुनः–पुनः तय करना ही होगा । परन्तु यह तभी सम्भव है जब मताधिकार का नाता सम्पत्ति से तोड़ा जाए और उसे सभी सम्पत्तिविहीन वयस्कों से जोड़ा जाये। [1] डा0 अम्बेडकर ने मताधिकार को सम्पत्ति और शिक्षा द्वारा निर्धारित करने की प्रक्रिया को अस्वीकार किया । क्या निरक्षर लोगों को मताधिकार प्रदान किया जाये ? इस पर डा0 अम्बेडकर ने कहा कि मताधिकार साक्षरता या निरक्षता का प्रश्न नहीं है । यह प्रश्न सिर्फ बुद्धिमता का हो सकता है । जो साक्षरता को कसौटी मानने का आग्रह करते हैं और जो यह आग्रह करते है कि मताधिकार पाने से पूर्व साक्षर बनना होगा, वे मेरे विचार में दो गलतियाँ कर रहे हैं। उनकी पहली गलती, यह मान्यता है कि एक निरक्षर व्यक्ति निश्चित रूप से बुद्धिमान नहीं हो सकता । परन्तु यह सर्वविदित है कि कोई निरक्षर व्यक्ति भी बहुत बुद्धिमान हो सकता है । यह कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में अनुभवों से यह निष्कर्ष प्रमाणित हो जाएगा कि भारत सहित सारे संसार में निरक्षर व्यक्ति इतनी बुद्धि रखते हैं कि सोच समझकर अपना कामकाज चला सकें। [2]

---

1. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 4, पृष्ठ – 43
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 46

सत्ता में पर्याप्त भागेदारी :–

डा0 अम्बेडकर ने दलित समुदाय के हित में न केवल मताधिकार को व्यापक करने पर जोर दिया बल्कि दलित समुदाय की सत्ता में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग की। उनके अनुसार राजनीतिक जीवन में न्याय तभी स्थापित हो सकता है जब सार्वजनिक नीतियां निर्धारित करने की प्रक्रिया में सबको हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त हो और सत्ता प्राप्त करने का मार्ग सभी के लिये समान रूप से खुला हो । दुर्भाग्य से भारत के अल्पसंख्यक समुदायों के लिये भारतीय राष्ट्रवाद ने एक नया सिद्धान्त विकसित किया है, जिसे बहुसंख्यक समुदायों द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय पर मनमर्जी का शासन करने का दैवी अधिकार कहा जा सकता है अल्पसंख्यक समुदायों के सत्ता की साझेदारी के किसी भी दावे को संप्रदायवाद कह दिया जाता है, जब कि बहुसंख्यक समुदाय द्वारा सारी सत्ता पर एकाधिकार को राष्ट्रवाद कहा जाता है।[1] अतः उन्होंने समय–समय पर दलित वर्ग के हितों की रक्षा के लिये प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान मण्डलों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व के अधिकार की मांग की ताकि दलित वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिये विधायिक और कार्यपालिा पर अपना प्रभाव डाल सके।

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर के राजनीतिक न्याय का प्रमुख लक्षण यह है कि यह उदार प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का पक्षधर है। उनका प्रजातंत्रिक विचारवाद राज्य को यह दायित्व देता है कि वह गरीबी मिटाने, सभी आर्थिक गतिविधियों में सामाजिक लक्ष्यों का क्रियान्चयन करने विभिन्न वर्गों व क्षेत्रों की ऐतिहासिक विषमता को मिटाने व असमानता को कम करने और एकाधिकार के विकास को रोकने का कार्य करेगा। इन्होंने पूर्वाग्रही समाज के सम्बन्धों को नियमित करने के लिये आधुनिक राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी। राजनीतिक जीवन में जनता की स्वतंत्र भागेदारी के लिये उन्होंने सार्वजनिक व्यस्क मताधिकार का समर्थन कर सदियों से अशिक्षित एवं गरीब दलित समुदाय को राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान की।

---

1. बाबा साहेब अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 214

षष्ठ अध्याय

डा0 अम्बेडकर द्वारा न्याय प्राप्ति के प्रयास

1. आन्दोलनात्मक एवं सांगठनिक प्रयास
2. कानूनी प्रयास
3. संवैधानिक प्रयास
4. शैक्षिक प्रयास

डा0 अम्बेडकर द्वारा न्याय प्राप्ति के प्रयास

भारतरत्न डा0 अम्बेडकर सामाजिक नव जागरण के अग्रदूत थे। उनका समग्र अनुचिन्तन और व्यवहार शोषण के विरूद्ध और नव मूल्यवादी नैतिक संस्थापनाओं के लिए था। वे सम्पूर्ण जीवन सदियों से शोषित दलित मानवता के सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षिक उत्थान के प्रति समर्पित रहे। उन्होंने समाज में विद्यमान रूढ़िगत मान्यताओं और विषमताओं को समूल नष्ट करने और सामाजिक न्याय और दलितों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए अपने नेतृत्व से दलितों को आत्म सम्मान गौरव व अधिकारों के प्रति सचेष्ट किया। डा0 अम्बेडकर को अछूतों की पीड़ा, अन्याय और तिरस्कार का व्यक्तिगत अनुभव था। वह अछूतों को दूसरे की दया पर जीवित नहीं देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि न्याय कभी दूसरों द्वारा स्वीकृत नहीं होता वे जो अन्याय, भेदभाव और इसी प्रकार के दूसरे कारणों अन्य कारणों से विपन्न हैं, उनको स्वमेव न्याय पाने के योग्य बनना होगा। वे नहीं मानते थे कि अछूत वर्ग नारों और भाषणों के सहारे ऊपर उठ सकेगा। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू समाज में परिव्याप्त अन्धविश्वास के विरूद्ध बिना कमर कसे कुछ होने वाला नहीं है। उनका कहना था कि जो कुछ लिया जाये वह व्यवहारिक यर्थोन्मुखी और सहज हो। [1] .

डा0 अम्बेडकर भारतीय समाज का अध्ययन एवं मनन करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि वह हिन्दूधर्म की रूढ़ांधता से ग्रस्त हैं। धीरे–धीरे हिन्दू धर्मान्तर्गत वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गयी। और कर्मपत्र का आधार क्षीण होता गया। जन्माधृत वर्णव्यवस्था इतनी जोर पकड़ती गई कि इसके अर्न्तगत जिन्हें विशेषाधिकार प्राप्त हो चुके थे वे उन विशेषाधिकारों को छोड़ने को तैयार नहीं थे परिणाम स्वरूप कर्म की श्रेणियां कर दी गयीं और उसे उच्च्च तथा निम्न कर्म के रूप में बाँट दिया गया। निम्न कर्म करने वाले वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त उच्च वर्ग द्वारा निरन्तर शोषित होने लगा। धीर–धीरे यह वर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन मूल्य खो बैठा और उसका बहुमुखी विकास रूक गया। अतएव डा0 अम्बेडकर समानता और न्याय का विस्तार एक साथ सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में

---

1. राजेन्द्र भटनागर, अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 51

करके दलित वर्ग को समुन्नत कर एक नये गतिशील समाज की रचना के लिए कटिबद्ध थे।

मानवतावादी डा0 अम्बेडकर ने घोषणा की थी कि "राजनीतिक, स्वतन्त्रता, आर्थिक सामाजिक स्वतन्त्रता के अभाव में अर्थहीन है।"[1] उन्होने कहा था कि सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम के बिना अस्पृश्य कभी भी अपनी दशा सुधार नहीं सकते।[2]

क. आन्दोलनात्मक एवं सांगठनिक प्रयास :-

भारत में दलित आन्दोलन का लम्बा इतिहास रहा है। अनेक संत महात्मा और समाज सुधारकों ने दलितों की सामाजिक आर्थिक मुक्ति हेतु महती भूमिका निभायी है। दलित आन्दोलन के प्रारम्भिक प्रयास दक्षिण भारत में हुये। मद्रास में पेरियार रामस्वामी नायकर का अछूतोद्धार कार्यक्रम एक जुझारू संगठन बनकर उभरा। जिसने बाद में चलकर प्रदेश में दलितोद्धार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले इस आन्दोलन के प्रणेता थे। महात्मा फुले के प्रारम्भिक प्रयासों के अतिरिक्त राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महात्मा गाँधी आदि संत एवं समाज सुधारकों ने देश भर में अस्पृश्यता निवारण एवं दलित कल्याण कार्यक्रम शुरू किये।

यहां उल्लेखनीय है कि इनमें से अधिकांश संत एवं समाज सुधारकों की दलितोद्धार में भूमिका अपीलों, विरोधों एवं रचनात्मक कार्यक्रमों तक सीमित रही । परन्तु दलित आन्दोलन को सीधी लड़ाई से जोड़ने के कार्य डा0 अम्बेडकर ने किये। अम्बेडकर का युग नरकीय पीड़ा का युग था। धर्म के नाम पर चल रही सदियों पुरानी असमानतामूलक एवं अन्यायपरक व्यवस्थाओं ने दलितों को पशुवत जीवन जीने पर विवश कर दिया था। दलितों की स्थिति इतनी नारकीय थी कि दास और पशु उनके मुकाबले बेहतर थे। दास और पशु को उनके स्वामी छू सकते थे पर दलितों को छूना तो दूर सवर्ण हिन्दू उनकी परछाई से अपवित्र हो जाते थे और स्नान के बाद ही शुद्ध होते थे। उन्हें न सार्वजनिक कुँओं, तालाबों से पानी लेने के अधिकार था और न

---

1. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी (सामाजिक क्रांति के अग्रदूत), डा0 भीमराव अम्बेडकर, (लेख), उद्घृत – भारतरत्न, डा0 भीमराव अम्बेडकर, 'सम्पादक' – डा0 कालीचरण स्नेही, पृष्ठ – 27
2. डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड़मय, खण्ड – 10, पृष्ठ – 94

विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था । यहां तक कि मन्दिरों के दरवाजे भी उनके लिए पूर्णतः बन्द थे। दलित इसे अपनी नियति समझकर जी रहे थे। न उनमें स्थिति बोध था न अधिकार बोध।[1]

अतः करोड़ों दलित भारतीयों की स्वाधीनता के लिए उन्होने राजनीतिक परिवर्तन से ज्यादा सामाजिक परिवर्तन पर सबसे ज्यादा जोर दिया। क्योंकि वह मानते थे कि "भारत की स्वाधीनता तभी सुरक्षित रह सकती है, जब भारतवासी स्वाधीन हो यदि भारत स्वाधीन हो गया और करोड़ों दलितों को स्वाधीनता नहीं मिली, तो भारत की स्वाधीनता का कोई मूल्य नहीं । वह पुनः कभी पराधीन हो सकता है ।[1]

छुआछूत धार्मिक आडम्बर, अंधविश्वास मानवीय असमानता के उन्मूलन एवं जातिविहीन समतामूलक समाज की स्थापना के लिए डा0 अम्बेडकर पूरी तरह से सामाजिक जागृति लाने को तत्पर हो उठे थे। इसके लिए उन्होने दलित समाज में आत्मसम्मान, गौरव, अधिकार बोध की नवीन चेतना जागृत करने के लिए एक साथ कई सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म दिया जिसका मूल उद्देश्य दलित वर्ग को जातीय स्वतन्त्रता दिलाकर नागरिक अधिकारों के प्रति मोड़ना था ।

1. महाड़ सत्याग्रह :-

जातिग्रस्त मानसिकता, छुआछूत एवं सामाजिक विषमता के विरूद्ध पहला आन्दोलन महाराष्ट्र के कोलाबा जिले के महाड़ कस्बे में मार्च 1920 में किया। इस कस्बे में चावदार नामक सार्वजनिक तालाब था। इस सरोवर से हिन्दू के अलावा ईसाई, मुस्लिम सब लोग पानी लेते थे लेकिन दलित वर्ग के लोग उस तालाब से पानी नहीं ले सकते थे।[3] पहले भी इसका कई बार विरोध हुआ। 1923 में बम्बई की विधान परिषद ने इस आशय का संकल्प पेश किया कि "अस्पृश्य वर्गों को छूट दी जाये कि वे उन सभी सार्वजनिक जलाशयों, कुओं, धर्मशालाओं का

---

1. कंवल भारती – मन्दिर में क्या रखा है ? (लेख), उद्घृत – हरिजन से दलित, सम्पादक – राजकिशोर, पृष्ठ – 67
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 67
3. डा0 अंगनेलाल, बाबा साहब अम्बेडकर – जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 32 एंव बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय – खण्ड – 10, पृष्ठ – 154

इस्तेमाल कर सकते हैं जिनका निर्माण सार्वजनिक निधि से होता हो।[1]

बम्बई सरकार ने 4 अगस्त 1923 को यह प्रस्ताव पारित किया। 11 सितम्बर 1923 को प्रस्ताव कार्यान्वित करने के लिए आदेश पारित किया। इसी के अधीन महाड़ नगर पालिका ने अछूतों को यह अधिकार प्रदान किया कि वह चावदार तालाब से पानी ले सकते हैं । परन्तु महाड़ की बहुसंख्यक हिन्दू जनता ने कानून पास होने पर भी तालाब से अछूतों को पानी नहीं लेने दिया।

डा0 अम्बेडकर के नेतृत्व में 19–20 मार्च 1927 को एक विशाल दलित सम्मेलन महाड़ में हुआ। अध्यक्षीय पद से बोलते हुए डा0 अम्बेडकर ने कहा कि वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करें। अपनी गंदी और बुरी आदतों को त्याग दें और मानवता का पूरी बुलन्दी में स्पर्श करें।[2] उन्होने यह भी कहा "जब तक हम तीन प्रकार के सुधार नहीं कर लेते, किसी स्थायी उन्नति की आशा नहीं की जा सकती । हमें अपने विचारों को सुसंस्कृत करना चाहिए। हमारी आवाज में शक्ति हो, हमारी बात में वजन होना चाहिए । इसलिए आप लोगों से कहता हूँ कि मृत पशुओं का मांस खाना छोड़ दो। हमें अपने में से ऊँच–नीच और छोटे–बड़े का भेदभाव शीघ्र से शीघ्र समाप्त करना चाहिए। हमारी उन्नति तभी हो सकती है, जब हम अपने में स्वाभिमान की भावना उत्पन्न कर और हम स्वयं को पहचाने।[3]

उन्होने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा "ऐसे प्रयत्न करो जिससे तुम्हारी संतानें तुमसे अधिक अच्छी दशा में अपना जीवन बिता सके। यदि आप लोग ऐसा नहीं करोगे तो मनुष्य के माता पिता और पशुओं के नर मादा में कोई अन्तर नहीं रहेगा।"[4]

20 मार्च 1927 को उनके नेतृत्व में 2,5000 अस्पृश्य लोगों के जत्थे मुख्य सड़कों पर निकलते हुये चावदार तालाब पर पहुंचे। अस्पृश्यों ने पहली बार पानी पिया। यह सत्याग्रह कर डा0 अम्बेडकर ने दलितों को उनकी सामाजिक हैसियत का बोध कराया था और उन पर थोपी गई निर्योग्यताओं के विरूद्ध उनमें सीधी लड़ाई लड़ने का साहस पैदा किया। शीघ्र ही हिन्दुओं

---

1. बाबा साहब अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड़्मय, खण्ड – 10, पृष्ठ – 155
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 155
3. डा0 अंगनेलाल, बाबा साहब अम्बेडकर, जीवन, दर्शन, पृष्ठ – 33
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 33

ने अनुभव किया कि यह सब क्या हो गया। उन पर पागलपन सवार हो गया और उन्होने अस्पृश्यों पर जीभर जुल्म ढाये और धार्मिक विधि–विधान से उसका पानी शुद्ध किया।

डा0 अम्बेडकर ने 26 जून 1927 को बहिष्कृत भारत पात्रिका में लिखा "महाड़ के सनातनियों द्वारा धार्मिक रीति से महाड़ के पानी को पवित्र कर अछूतों का अपमान किया, इसलिए जो लोग उनके इस कार्य की निन्दा करना चाहते हैं वे बहिष्कृत हितकारिणी सभा के कार्यालय में अपना नाम लिखायें .... उन्होने आगे कहा कि अछूत हिन्दू धर्म के अन्तर्गत हैं या नहीं इस बात का हम हमेशा के लिए फैसला करना चाहते हैं। [1]

सम्मेलन के लिए 25,26,27 दिसम्बर की तिथियां घोषित कर दी गयी। जब हिन्दुओं को पता चला तो उन्होने जिला मजिस्ट्रेट से आवेदन किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अन्तर्गत आदेश जारी करके अस्पृश्यों को चावदार तालाब पर जाने से रोका जाये।

जिला मजिस्ट्रेट ने मना कर दिया कि यह एक सार्वजनिक तालाब है और सभी नागरिकों के लिए खुला हुआ है। अतएव हिन्दुओं ने कानून का सहारा लेने का निश्चय किया। तद्नुसार विभिन्न जातियों के नौ हिन्दुवादी बने और उन्होंने मिलकर 12 दिसम्बर 1927 को दावा संख्या 405 दायर किया।[2] न्यायधीश ने 14 दिसम्बर 1927 को अम्बेडकर और अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ अस्थायी निषेधाज्ञा दे दी।

25 दिसम्बर 1927 को महाड़ में सम्मेलन आरम्भ हुआ। जिला मजिस्ट्रेट परिषद में आये और कहा कि चूंकि चावदार तालाब को निजी सम्पत्ति मानने का दावा दायर है इसलिये फैसले तक आप प्रतीक्षा करे। अतः सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि उनकी बेहतरी और सुरक्षा इसी में होगी कि कानून का पालन किया जाये और रात की बैठक में सत्याग्रह स्थगित करने का निर्णय लिया। डा0 भीमराव अम्बेडकर ने स्वयं चावदार तालाब पर अछूतो के अधिकार के दावे हेतु कोर्ट का दरवाजा खटखटाया। लम्बी लड़ाई के बाद बम्बई हाई कोर्ट ने मार्च 1937 को अछूतों के पक्ष में अपना निर्णय दिया।[3]

इस प्रकार चावदार आन्दोलन ने अछूतों के आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 34

2. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 10, पृष्ठ – 157

3. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 102

प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस आन्दोलन के द्वारा अम्बेडकर ने दलितों को अमानुषिक छुआछूत के विरूद्ध उठ खड़े होने की प्रेरणा और सम्मान पूर्वक जीवन प्राप्त करने की दिशा की ओर अग्रसर किया। इस भांति महाड़ में जो क्रान्ति हुई थी उसके बारे में डा0 अम्बेडकर ने कहा "उत्पीड़ित मूक जनता ने बिना उल्लेखनीय अत्याचार के अल्प समय में समान अधिकार प्राप्त कर दिखाये । यह दुनिया के इतिहास में आज अघटित अप्रत्याशित क्रान्ति (Fluke Revolution) है।[1]

गांधी जी के 1930 के दांडी मार्च का राजनीतिक दृष्टि से जो महत्व था वही सामाजिक दृष्टि से डा0 अम्बेडकर के महाड़ सत्याग्रह का था।[2]

डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू समाज के इतिहास में नया अध्याय लिखा। उन्होनें सदियों से दबे कुचले अछूतों को स्वाबलम्बन और स्वाभिमान का पाठ पढ़ाया। हिन्दू समाज के दमनात्मक कार्यो के विरूद्ध उन्होने सीधी लड़ाई छेड़कर जातीय स्वतन्त्रता एवं सामाजिक न्याय के मन्त्र का उद्घोष किया।

मनुस्मृति का सार्वजनिक दहन :—

महाड़ के जल सत्याग्रह के द्वारा डा0 अम्बेडकर ने दलितों को उनकी सामाजिक स्थिति का बोध कराया था और उन पर थोपी गयी सामाजिक नियोग्यताओं के विरूद्ध उनमें सीधी लड़ाई लड़ने का साहस पैदा किया। इसके बाद मनु सिद्धान्तों से बंधे हुये हिन्दू समाज व्यवस्था को जड़ से समाप्त करने हेतु 20 दिसम्बर 1927 को महाड़ में ही डा0 अम्बेडकर ने मनुस्मृति को सार्वजनिक रूप से जलाया।[3] यह चावदार जल सत्याग्रह का ही अंग था।

मनुस्मृति को दहन करने से पूर्व इस अवसर पर एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में कतिपय संकल्प पारित किये गये, जिसका उद्देश्य हिन्दू समाज की विकृतियों पर प्रहार करना था "[4]

इस सम्मेलन का दृढ़ मत है कि हिन्दू समाज की वर्तमान दयनीय दशा यह दर्शाती

---

1. अनन्तराव उर्फ भाई चित्रे : जनता खास अंक, 1933
2. विजय कुमार पुजारी, डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर, पृष्ठ – 68
3. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 10, पृष्ठ – 159
4. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 10, पृष्ठ – 162

है कि किस प्रकार किसी समाज का पतन हो जाता है, जब वह सामाजिक अन्याय को सहन करने लगता है और आर्थिक अन्यायों का समर्थन करने लगता है। हिन्दू समाज का पतन केवल इस कारण से हुआ कि आम लोगों ने यह जानने की चेष्टा नहीं की है कि किसी मानव के जन्मसिद्ध अधिकार क्या है, इसकी भी उन्होनें चेष्टा नहीं की कि उन्हें मान्यता मिले और स्वार्थी लोगों के घटिया कारनामों और कुकृत्यों की अवज्ञा की जाये .... अतः यह सम्मेलन निम्न संकल्प पारित करता है –

संकल्प संख्या (1) – हिन्दुओं के अधिकारों की घोषणा :–

1. सभी हिन्दुओं की सामाजिक हैसियत जन्म से एक जैसी होती है। सामाजिक, हैसियत की यह समता उनका एक ऐसा गुण है, जो मृत्युपर्यन्त बना रहता है। हो सकता है कि समाज उनके कृत्यो के विरोध में हो। अतः यह सम्मेलन ऐसे किसी भी कार्य का विरोध करता है। भले ही वह जीवन के राजनीतिक आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में हो जिसके कारण सामाजिक हैसियत में अन्तर पैदा होता हो।

2. यह सम्मेलन हिन्दुओं के ऐसे समूचे साहित्य का चाहे, वह प्राचीन हो या आधुनिक घोर विरोध करता है जो हिन्दू समाज व्यवस्था में व्याप्त असमानता के घृणित सिद्धान्त का किसी भी प्रकार समर्थन करता है।

3. यह सम्मेलन हिन्दुओ के कुछ वर्गो को प्राप्त सामाजिक तथा धार्मिक विशेषाधिकारों का खंडन करता है क्योंकि ये वेदों, स्मृतियों और पुराणों पर आधारित है न कि स्वतन्त्र लोकमत पर।

4. हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार हैं कि उसे काम करने और बोलने की आजादी हो। इस आजादी पर केवल इसलिए अंकुश लगाया जा सकता है कि उसकी आजादी किसी अन्य के किसी अधिकार में बाधा न डाले। अतः सम्मेलन धार्मिक, सामाजिक, एवं आर्थिक आजादी सम्बन्धी उन प्रतिबन्धों का खंडन करता है जो हिन्दुओ के विचार और कर्म पर लगाये गये क्योंकि उन्हे शास्त्रों ने लगाया है, जनता ने नहीं।

5. हिन्दुओ के जन्म सिद्ध अधिकारों के अलावा उनके अन्य अधिकारों से केवल कानून द्वारा ही वंचित किया जा सकता है। इस कारण व्यक्तियों के लिए ऐसी कोई रोक होनी ही नहीं चाहिए कि वे सार्वजनिक मन्दिरों तथा अन्य सार्वजनिक सुविधाओं का उपयोग नहीं कर सकते।

6. यह सम्मेलन हिन्दू समाज व्यवस्था का खण्डन करती है, प्रथम आधार यह है कि वह

समाज व्यवस्था का अहित करती है, दूसरा आधार यह है कि वह जन्म पर आधारित है, तीसरा यह कि उसे कोई जनादेश प्राप्त नहीं है।

संकल्प संख्या (2) मनुस्मृति को भस्म करने की घोषणा :-

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये कि हिन्दुओं के लिए संहिता के रूप में मान्य 'मनुस्मृति' में जो नियम दिये गये हैं और उनकी घोषणा हिन्दू कानून के निर्माता मनु के नाम से की जाती, वे मानव को उसके अधिकारों से वंचित करते हैं और उनके व्यक्तित्व को रौंदते है। समूचे सभ्य जगत में मान्य मानव अधिकारों से उनकी तुलना करते हुये इस सम्मेलन की राय है कि इस मनुस्मृति का आदर नहीं होना चाहिये और उसे पवित्र पुस्तक भी नहीं कहा जाना चाहिए तथा उसके प्रति घोर घृणा और अनादर व्यक्त करने के लिये यह सम्मेलन उसकी एक प्रति को भस्म करने का संकल्प करता हैं। यह कार्य सम्मेलन की समाप्ति पर धर्म की आड़ में सामाजिक असमता को बनाये रखने वाली प्रथा के प्रतिरोध में होगा । रात्रि में लगभग 9 बजे पहले से तैयार की गयी बेदी पर मनुस्मृति रखी गयी और अस्पृश्य समाज के साधुओं ने इसका दाह संस्कार किया।''[1] इसके दाह संस्कार के बाद डा0 अम्बेडकर ने कहा था कि '' दुनिया समझ ले कि विषमता का कानून इस भारत में नहीं चलेगा।[2]

इस महान सामाजिक क्रान्ति की तुलना अम्बेडकर ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति से की, जिसके माध्यम से उन्होने देश को समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आदर्श दिये। डा0 अम्बेडकर के शब्दों में ''मनुस्मृति को भस्म करना असीम साहस का काम था। वह तो हिन्दू धर्म के गढ़ पर ही प्रहार था। मनुस्मृति में विषमता की भावना व्याप्त है और उसमें हिन्दु जीवन शैली तथा विचार धारा का आधार ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार बेसिले फ्रांस में प्राचीन शासन व्यवस्था की भावना का प्रतीक है। 1927 में महाड़ में अस्पृश्यों द्वारा मनुस्मृति की प्रति को जलाये जाने वाली घटना को अस्पृश्यों के मुक्ति के इतिहास में वही महत्व तथा सार्थकता है जो फ्रांस और यूरोप में जनमुक्ति के इतिहास में बेसिले का पतन का था।[3]

---

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 42
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 42
3. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 10, पृष्ठ – 162

कालाराम मन्दिर प्रवेश आन्दोलन :-

डा0 अम्बेडकर अछूतों व दलितों को सामाजिक समानता और मानवता के धरा पर ले जाने के लिए मन्दिर प्रवेश आन्दोलन को छेड़कर नवीन सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। 1930 में उनका कालाराम मन्दिर प्रवेश आन्दोलन शुरू किया । इस आन्दोलन से पूर्व भी मन्दिर प्रवेश से सम्बन्धित आन्दोलन हो चुके थे। इस आन्दोलनों की प्रेरणा से ही कालाराम मन्दिर सत्याग्रह के अभियान की शुरूआत हुई । अतएव इन प्रमुख आन्दोलन पर संक्षिप्त प्रकाश डालना अनिवार्य हो जाता है –

अमरावती महाराष्ट्र में अम्बादेवी का प्रमुख मन्दिर था। 1925 में अछूतों ने इस मन्दिर में प्रवेश के लिए आन्दोलन चलाया। हिन्दुओं ने पहले इस आंदोलन को मखौल समझा लेकिन जैसे–जैसे समय बीतता गया इसकी गम्भीरता बढ़ती गयी। इस आन्दोलन की विशेष बात यह थी कि दलित वर्गों के अलावा कुर्मी, तेली, मराठा आदि के साथ कुछ उदारवादी ब्राह्मण भी साथ दे रहे थे ।[1]

यह आन्दोलन पांच वर्ष तक जारी रहा। पहले इस आन्दोलन को रोकने के काफी प्रयास हुये। लेकिन बाद में आन्दोलन की गम्भीरता देखते हुये सनातनी लोगों ने दलित समुदाय के समक्ष तीन शर्तें रखी,[2] "पहली, मूर्ति के चारों ओर दीवार बना दी जाये, दूसरी, दीवार के अन्दर केवल पुजारी ही मूर्ति के पास जा सकेगा । तीसरी शर्त यह थी कि जब वे मन्दिर में दर्शन पूजन कर रहे हो तब अछूत मन्दिर में न जायें।"

मन्दिर प्रवेश से जुड़े आन्दोलनकारियों ने इसे भेदपूर्ण माना और इन शर्तो को अस्वीकार करते हुये अपना आन्दोलन जारी रखा। 14 नवम्बर 1927 को अमरावती में ही एक विशाल जनसभा का आयोजन किया। इस सभा की अध्यक्षता बाबा साहब डा0 अम्बेडकर ने की। यद्यपि सभा के बीच में ही डा0 अम्बेडकर को अपने बड़े भाई श्री बालाराव अम्बेडकर के निधन का तार मिला, फिर भी उन्होने गम्भीरता, धैर्य और साहस से कार्यवाही को पूर्ण किया।

इसी क्रम में बम्बई के मूंबा देवी मन्दिर में 15 जनवरी 1928 को प्रवेश आन्दोलन शुरू

---

1. श्री शंरकानन्द शास्त्री, युगपुरूष भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 91
2. डा0 अंगनेलाल, बाबा साहब अम्बेडकर, जीवन, दर्शन, पृष्ठ – 39

हुआ। डा0 अम्बेडकर के नेतृत्व में जुलूस निकाला गया। जुलूस में नारे लगाये जा रहे थे "अगर हम एक ही ईश्वर की संतान हैं तो हमें भी मूबां देवी के मन्दिर में पूजा करने का अधिकार है, हमें भी पुरोहित बनने का अधिकार है, अगर हम हिन्दू हैं तो हमें हिन्दुओं के पूरे अधिकार होने चाहिये।"[1] वास्तव में धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढ़वादिता से ग्रसित समाज को झकझोरने वाला यह एक मौलिक प्रश्न था। पूर्वाग्रही समाज के पास कोई उत्तर नहीं था। उत्तर में केवल उन्होने सत्याग्रहियों पर ईंट पत्थर और लाठियाँ बरसायी।

1930 में इसी विद्रोही बाने को अपनाये हुये उन्होने कालाराम मन्दिर में अस्पृश्यों के प्रवेश एवं पूजा के अधिकार हेतु आन्दोलन को छेड़ दिया। कालाराम मन्दिर सत्याग्रह मन्दिर प्रवेश आन्दोलन की परिणति थी। 2 मार्च 1930 को विशाल सभा को सम्बोधित करते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा "हम अपने ध्येय की पूर्ति के लिए हर कष्ट और विपत्ति सहने को तैयार हैं. ...... हम भी मानव हैं। हम भारत में करोड़ो की संख्या में हैं, हमें केवल पशुनुमा इन्सान बनाकर नहीं रखा जा सकता। हमारी अज्ञानता, गरीबी, शोषण, अनाचार का आधारभूत कारण हिन्दूधर्म है .... हमारे मन्दिर प्रवेश आन्दोलन का विरोध किया जाना इस बात को सिद्ध करता है हमारा समाज इस हिन्दू धर्म का अंग नहीं है .... अगर हम हिन्दू हैं तो हमें भी ब्राह्मणों के सारे अधिकार मिलने चाहिये।"[2]

अछूतों ने 3 मार्च 1930से नासिक के कालाराम मन्दिर में प्रवेश हेतु सत्याग्रह का निश्चय किया। 3 मार्च 1930 की सुबह ऐतिहासिक संघर्ष शुरू हुआ। 125 पुरूष तथा 25 स्त्रियों का प्रथम दल मन्दिर के चारों तरफ तैनात कर दिया गया। आठ हजार सत्याग्रही वहीं अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगे।[3] मन्दिर के चारों ओर हथियारबंद पुलिस थी पुजारियों ने मन्दिर के प्रवेश द्वार चारों ओर से बन्द कर दिये थे । इन सबके होते मन्दिर में प्रवेश करना मुश्किल था।

शंकराचार्य की अध्यक्षता में एक बैठक सवर्ण हिन्दुओं की हो चुकी थी। मन्दिर में प्रवेश की समस्या अब गम्भीर रूप ले चुकी थी। आखिर 9 अप्रैल 1920 रामनवमी का दिन आ गया। इस अवसर पर मन्दिर से कालाराम की मूर्ति को रथ पर रखकर जुलूस निकाला जाता था।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 40
2. शंकरानन्द शास्त्री, युगपुरूष डा0 अम्बेडकर, पृष्ठ – 109
3. राजेन्द्र भटनागर, डा0 अम्बेडकर, जीवन, दर्शन, पृष्ठ – 57

रथ को रस्सियों से खींचा जाता था। सत्याग्रही भी भगवान के रथ में कन्धा लगाकर रथ खींचना चाहत थे। अतः सवर्ण हिन्दुओं और मन्दिर के ट्रस्टियों के सामने विकट समस्या थी क्योंकि बाहर सत्याग्रही थे। अतः सवर्ण हिन्दुओं ने आन्दोलनकारियों से यह समझौता किया कि एक ओर रस्सी को सवर्ण हिन्दू खीचेगें। इस पर आन्दोलनकारी तैयार हो गये।

डा0 अम्बेडकर अपने कुछ चुनिंदा साथियों को लेकर मन्दिर के द्वार के पास पहुंचे कुछ उपद्रवी तत्वों ने उनको झगड़े में फंसा लिया और सनातनी रथ लेकर चल दिये। रूदेकर नामक एक अछूत नौजवान ने दौड़कर रथ पकड़ लिया। इसके बाद तो धर्मान्ध लोगों ने ईंटों डण्डों की मार से आल्दोलनकारियां को लहुलुहान कर दिया । अम्बेडकर का जीवन खतरे में था। सत्याग्रह के नायक दादा साहब भाउराव गायकवाड़ ने उन्हें सुरक्षित स्थान पर चलने के लिए कहा परन्तु अविचल मुद्रा में उन्होंने कहा "मैं अपने हजारों भाइयों की जान खतरे में डालकर मैदान से भाग जाने के लिए इस आन्दोलन का नेतृत्व नहीं कर रहा हूँ, मेरी जान भले ही चली जाये मै युद्ध भूमि से हट नहीं सकता।"[1] सूचना पाकर पुलिस आयी लेकिन उसने अछूतों पर ही डण्डे बरसाये।

कलेक्टर ने रथयात्रा जुलूस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। क्योंकि रथयात्रा के समय बाबा साहब के अनुयायी आन्दोलन करते थे। पांच वर्षों तक आन्दोलन चलता रहा। इस मन्दिर प्रवेश आन्दोलन के कारण अस्पृश्यों को गांव गांव बहिष्कार अत्याचार इत्यादि का सामना करना पड़ा था। फिर भी नासिक का सत्याग्रह चलता रहा। दादा साहब गायकवाड और अमृतराव रणखोबे ने 13 अक्टूबर 1935 तक बराबर जारी रखा।[2] अन्त में डा0 अम्बेडकर के प्रयासों से 1935 में मन्दिर प्रवेश कानून बनने पर कालाराम मन्दिर के दरवाजे अछूतों के लिये खुल सके।[3]

डा0 अम्बेडकर ने अपने इन विभिन्न आन्दोलनों से सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनका मानना था कि समाज में समानता स्थापित नहीं हो जाती, तब तक समाज में किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं है। मन्दिर प्रवेश आन्दोलन के द्वारा उन्हाने इस देश के उन दलित शोषित मानवों को उनके अधिकारों का बोध कराया व उनके लिये उन्हें संघर्षशील

---

1. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 42
2. बसन्तमून, डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर, पृष्ठ – 56
3. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 42

बनाया।

सांगठनिक प्रयास :–

डा0 अम्बेडकर के जीवन का मूल आदर्श था ''शिक्षित बनों, संगठित बनो, संघर्ष करो।''(1)

शिक्षित बनो अर्थात् मनुष्य सद्गुणों–विवेक, न्याय, संयम, साहस, सदाचार के गुणों से ओत–प्रोत होकर स्वयं को भी प्रकाशवान करें और समाज को भी प्रकाशित करें। "संगठित बनो" अर्थात् जातिगत भेदभावों एवं सामाजिक वर्जनाओं से ऊपर उठकर मानव जाति की भलाई हेतु सभी संगठित हो । 'संघर्ष करो' अर्थात शिक्षा एवं संगठन की शक्ति द्वारा मानव मात्र की भलाई हेतु सब कार्य करे। स्वयं डा0 अम्बेडकर का जीवन इन आदर्शों का पर्याय है। उन्होने अपने ज्ञान और सद्गुणों से जीवन–पर्यन्त शोषित एवम् दलित वर्ग को संगठित कर संघर्षशील बनाया।

डा0 अम्बेडकर ने इस देश में जातीय स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु सामाजिक जीवन में अपने विभिन्न आन्दोलनों – महार सत्याग्रह एवं मन्दिर प्रवेश आन्दोलनों द्वारा जिस तरह अस्पृश्य जातियों को संगठित करके सामाजिक परिवर्तन की प्रथम लड़ाई को जीत लिया था उससे संगठन की शक्ति में उनका विश्वास निरन्तर दृढ़ होता गया। अतएव दलित, शोषित, वंचितों को सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक अधिकारों की अगली लड़ाई, इनको संगठित करके लड़ने का संकल्प लिया। इस संकल्प की सफलता के लिये उन्होंने समाज में संगठन निर्माण की मुहिम शुरू कर दी। आने वाले समय में अपने सांगठनिक नेतृत्व एवं प्रयासों से समाज के दबे कुचले लोगों में समन्वय एक सूत्रता और सामजस्य स्थापित करके अनेक संगठनों को जन्म दिया।

1. स्वतन्त्र मजदूर दल :–

डा0 अम्बेडकर केवल अस्पृश्य जातियों की स्वतन्त्रता एवं न्याय के पक्ष को लेकर संघर्षशील नहीं थे बल्कि वे सच्चे देशभक्त थे। उनके जीवन का ध्येय एक आम व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों के लिये निरन्तर जूझना था। इसी उद्देश्य को ले

---

1. बसन्तमून, बाबा साहेब अम्बेडकर, पृष्ठ 126

करके 1936 में डा0 अम्बेडकर ने किसानों और मजदूरों के हित के लिये लड़ने के लिए उन्होने स्वतन्त्र मजदूर दल की स्थापना की । दलित वर्ग मजदूरों, किसानों की समस्याओं को ले करके इन्होनें अपना काम शुरू किया था । उनके दल के कार्यक्रम इस प्रकार थे – "पुराने कारोबार को गति प्रदान करना, नये धंधों को प्रारम्भ करना, पट्टे धारियों का शोषण से संरक्षण करना, मजदूरों की भलाई की दृष्टि से कानून बनाना, भूमि हीनों को जमीन दिलवाना, समाज सुधारकों को सहायता पहुंचाना, देहातों में आरोग्य और निवासों के लिये योजनायें प्रारम्भ करना इत्यादि सुविधायें प्रदान करने का इस नीति पत्र में उल्लेख किया गया था।[1] साथ ही उल्लेख किया गया " औद्योगिक कर्मचारियों के लिये पार्टी एक ऐसा कानून बनायेगी जिससे मजदूर की भर्ती, नियुक्ति और तरक्की उनका कार्यकाल निर्धारित करने, उचित पारिश्रमिक, संवैतनिक अवकाश, सस्ते साफ–सुथरे आवास की व्यवस्था होगी। औद्योगिक तथा बड़े नगरों में मध्यमवर्गीय लोगों को किराये के मामले में आरक्षण देगी।[2]

इस प्रकार मजदूरों, कृषकों के व्यापक हित को पार्टी का उद्देश्य बनाया। 1937 में बम्बई चुनाव हुये। इसमें डा0 अम्बेडकर ने स्वतन्त्र मजदूर पार्टी की ओर से इस विधान सभा के लिये आरक्षित 15 सीटों पर तथा दो सामान्य सीटों पर कुल 17 प्रत्याशी खड़े किये।[3]

डा0 अम्बेडकर बम्बई शहर के वार्ड से चुनाव के प्रत्याशी थे। डा0 अम्बेडकर भारी मतों से विजयी हुये। 19 जुलाई 1937 को कांग्रेस शासन की बागडोर संभाली। विरोधी सदस्य के रूप में डा0 अम्बेडकर ने शपथ ली।

किसानों के हित में 17 सितम्बर 1937 को बम्बई विधान सभा में महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में भूमि पर लागू की गयी "खोती प्रथा" को समाप्त करने के लिये बिल प्रस्तुत किया। किसानों के हित के लिये विधेयक पेश करने वाले डा0 अम्बेडकर प्रथम व्यक्ति थे इस विधेयक के समर्थन में बम्बई के छोटे–छोटे किसान तथा खेतिहर मजदूरों ने संगठित प्रदर्शन की तैयारी की। थाना कोलाम्बा रत्नगिरि, नासिक आदि जिलों के हजारों किसान संगठित होकर बम्बई पहुंचे। ग्रामीण किसान के झुण्ड नारे लगा रहे थे "डा0 अम्बेडकर का बिल पास करो खोती–खोती सिस्टम खत्म

---

1. बसन्तमून, डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 99 – 100
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 72
3. पूर्वोक्त – पृष्ठ, 72

करो।"[1]

डा0 अम्बेडकर ने कहा कि किसानों और मजदूरो को बिना किसी जाति पाति के भेदभाव के एक संगठन कायम करना चाहिये। विधान सभा में सही और योग्य प्रवक्ता चुनकर भेजना चाहिये । यदि वे ऐसा करेंगे तभी लोग देश और जाति के लिये लाखों मन अनाज पैदा कर सकेंगे। करोड़ों गज कपड़ा बुन सकेंगे और तब आप न तो नंगे रहेंगे और न भूखे ।"[2] इस तरह डा0 अम्बेडकर किसानों को उनकी अपनी समस्याओं से लड़ने हेतु संगठन बनाकर संघर्ष करने का रास्ता सुझा रह थे। खोती प्रथा के उन्मूलन हेतु किसानों को संगठित कर डा0 अम्बेडकर ने सामाजिक–आर्थिक न्याय की लम्बी लड़ाई को छेड़ दिया।

2. रेलवे मजदूर का संगठन :–

किसानों के पश्चात डा0 अम्बेडकर ने रेलवे मजदूरों को संगठित करने की ओर ध्यान दिया । रेलवे में पोर्टर जैसी नौकरियों में भी दलितों की भर्ती नहीं होती थी। स्टेशन मास्टर उनसे घरेलू काम लेते थे। 12 फरवरी 1938 को ग्रेड इण्डियन पेनिनशुला रेलवे के दलित वर्गीय मजदूरों की सभा हुयी। इस परिषद में बीस हजार मजदूर उपस्थित थे । अध्यक्षीय भाषण में डा0 अम्बेडकर ने कहा " इस मजदूर समाज को पूंजीपति और ब्राह्मणवादियों दोनों शत्रुओं का सामना करना पड़ता है। अपने विकास के लिये स्वतन्त्र संगठन का निर्माण करना होगा।[3] उन्होने आगे कहा कि "अब वह आर्थिक मांगों को मनवाने के लिये संघर्ष करेंगे । आज से पूर्व आर्थिक मांगों के लिये केवल अछूत एकत्र होते थे, अब बतौर वर्कर एकत्र होगें।" [4]

3. औद्योगिक श्रमिक संगठन :–

सन् 1936 सितम्बर माह में बम्बई की विधानसभा में औद्योगिक विवाद पर विधेयक प्रस्तुत किया गया। इस बिल के अनुसार कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मजदूरों का हड़ताल पर जाना गैर कानूनी माना जायेगा – यह कानून बनना था।[5] जिन प्रावधानों में हड़तालों को अवैध

---

1. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 74
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 74
3. बसन्तमून, बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, पृष्ठ – 108
4. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 75
5. बसन्तमून, बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, पृष्ठ – 112

घोषित किया गया हैं।

डा0 अम्बेडकर ने इस विधेयक को वास्तव में "मजदूर की नागरिक स्वतन्त्रता का हनन" कहकर पुकारा । उनके अनुसार मेरा दावा है कि इस विधेयक के प्रावधानों को जब क्रियान्वित किया जायेगा तो इससे चिरस्थायी दासता आ जायेगी और मजदूर कभी भी हड़ताल नहीं कर पायेगें।"[1] विधानसभा के बाहर इस कानून को काला कानून कहकर पुकारा गया।

7 नवम्बर 1938 को मिल मजदूर यूनियन और स्वतन्त्र मजदूर पार्टी द्वारा इस कानून के विरोध में हड़ताल की रणभेरी फूँकी गयी। इसकी पूर्व संध्या को रात्रि के आठ बज यूनियन की सभा में हड़ताल की रूपरेखा तैयार की गई । इस सभा में डा0 अम्बेडकर, परूलेक डोगें आदि नेताओं ने भाग लिया। दूसरे दिन बम्बई के कामगार मैदान में मजदूरों की जंगी सभा हुई। लगभग अस्सी हजार मजदूरों को सम्बोधित करते हुये डा0 अम्बेडकर ने कांग्रेस की नीतियों की आलोचना की । 6 नवम्बर 1938 के दिन मजदूर नेताओं की बैठक हुई और हड़ताल समिति का गठन किया गया।[2] मजदूरों के नेता बनकर डा0 अम्बेडकर ने उन्हें संगठित होकर संघर्ष करने का मूलमन्त्र दिया।

वायसराय की कार्यकारिणी में लेबर मेम्बर के पद पर रहते हुये बाबा साहब अम्बेडकर ने मजदूरों को निश्चित दिशा दी। वायसराय की काउसिंल के डा0 अम्बेडकर को दिनांक 27 1942 के दिन सदस्य के रूप में नियुक्त करने की लार्ड लिननिथगों ने घोषणा की। डा0 अम्बेडकर को श्रमिक विभाग सौंपा गया। वास्तव में उनक लिये यह आदर्श विभाग था क्योंकि वे निरन्तर श्रमिकों के लिये संघर्ष कर रहे थे।

1942 से 1946 तक डा0 अम्बेडकर श्रममंत्री थे। इस अवधि में इन्होने जो कानून बनाये जो सुधार किये वे महत्वपूर्ण है। मजदूरों के प्रश्नों को सुलझाने के लिये सरकार मालिक और श्रमिक –तीन प्रतिनिधियों का त्रिपक्षीय मंडल इन्ही के कार्यकाल में बना। श्रम विभाग की स्थायी समिति में इन्होने तीन गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति करवायी।[3] मजदूरो की समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला श्रमिकों का केन्द्रीय मंडल नहीं था। डा0 अम्बेडकर ने त्रिपक्षीय संगठन

---

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 112
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 112
3. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 148–149

शुरू किया – 1. प्रारम्भिक सम्मेलन 2. स्टडिंग कमेटी 3. मजदूर भलाई कमेटी शामिल थीं।[1]

डा0 अम्बेडकर ने ट्रेड यूनियनों नियमों में संशोधन करके उन सभी ययूनियनों को मान्यता देना लाजिमी ठहराया, जो एक पंजीकृत यूनियन के रूप में एक वर्ष की अवधि से काम कर रही हो। डा0 अम्बेडकर के लेबर मेम्बर बनने से पूर्व यह अधिकार नहीं था।[2]

2. समता दल :–

डा0 अम्बेडकर ने समता सैनिक दल की स्थापना की। इस दल का उद्देश्य असमानता के विरूद्ध न्याय पूर्ण समाज की स्थापना करना था। The aim of this army was to dislodge all those values which conserved and fortered antihuman elements in the name of traditional and cultural haritage.[3] आलोचकों ने इस संगठान को समय और धन की बरबादी बतलाया। उन्होने कहा कि समता पूर्ण समाज की स्थापना के लिये सामाजिक स्थापना बहुत आवश्यक है। समता दल और इस तरह के अन्य संगठन मानवता के उद्धार के लिये हमेशा अनिवार्य बने रहेंगे।

2 अप्रैल 1931 को सेवादल की बैठक दादर के दामोदार हाल में हुयी। इसके अध्यक्ष डा0 अम्बेडकर ही थे। इस संस्था का नाम बदल कर समता समाज दल रखा गया। यह दल महाड़ सत्याग्रह के समय स्थापित किया गया था।[4] जुलाई 1942 को समता सैनिक दल के अधि विशन में डा0 अम्बेडकर ने अहिंसा के तत्व की चर्चा करते हुये कहा,"भूत, दया और दुष्टों का दलन, इनमें पहल दुष्टों का दलन करना अधिक महत्व रखता है। चरित्र द्वारा नियन्त्रित शक्ति ही हमारा आदर्श है । आप सैनिकों को नारियों और दलित वर्गों पर होने वाले अत्याचारों और ऐसे मामलों पर ध्यान देना चाहिये।[5] उन्होंने कहा – "There was a time when he wanted honourable place in Hindu fold ; now we demand that our community should be reorganised as co-equal with Hindu society . Now we demand political equality . The Dal is pledged to

---

1. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 79
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 79
3. Ambedkar, Annhiliation of Caste, Page No. - 78 - 79, Quoted - W. N. Kuber - Dr. Ambedkar, A Critical Study .
4. ज्ञानप्रकाश : 15.4.1931
5. कोसारे : पृष्ठ – 418 – 419

establish political, Social and economic equality ."[1] 1948 में गांधी जी की हत्या के बाद इस दल पर प्रतिबन्ध लगाया गया। डा0 अम्बेडकर ने इसे कायरता पूर्ण कार्य की संज्ञा दी।

सफाई मजदूरों का संगठन :–

डा0 अम्बेडकर के आने से पूर्व दिल्ली में सफाई मजदूरां का अपना संगठन नहीं था। सफाई मजदूरों की अवस्था बड़ी दीन हीन थी। नगर पालिकाओं में नियुक्त सफाई करने वालों की दुर्दशा थी। नगर पालिका ने सफाई मजदूरों को गुलामी की जंजीरों में जकड़े रखने के लिय कई प्रकार के नियम बना रखे थे। सफाई मजदूरों द्वारा अपनी मांग मनवाने के लिये हड़ताल करना तो दूर की बात थी यदि वे एक सप्ताह के लिये काम पर न आये तो दण्ड स्वरूप 15 दिनों के लिये जेल भेज दिया जाता था।[2] दिल्ली नगर महापालिका में भी ऐसा ही नियम प्रचलित था।

नई दिल्ली और दिल्ली के सफाई कर्मचारियों की एक मीटिंग 22 पृथ्वीराज रोड नई दिल्ली 4 जून 1944 को बुलाई। उन्होनें "म्युनिसिपल कामगार यूनियन" नाम से संस्था गठित करवायी।[3] इसके प्रथम अध्यक्ष नासिक निवासी रमेश जाधव थे।

2. आल इण्डिया शेडयूल्ड कांस्ट्स फेडरेशन :–

इस संगठन को खड़ा करने के लिये अम्बेडकर ने समस्त भारत के अस्पृश्य नेताओं को 30, 31 मार्च 1942 को दिल्ली में आमंत्रित किया। इस बैठक में यह निश्चित किया गया कि अखिल भारतीय दलित समाज का पहला अधिवशन 19–20 जुलाई 1942 का नागपुर में हुआ। इस सम्मेलन में 75 हजार लोग सम्मिलित हुये इस सम्मेलन में उन्होने कहा "मेरा आपको संदेश – आप पढ़ो, लिखो, संघर्ष करों और संगठन पैदा करों। आप अपने में विश्वास रखो और आशावान बनो जब न्याय हमारे साथ है तो संघर्ष में विजय हमारी होगी। हमारा संघर्ष न धन दौलत के लिये है और न ताकत प्राप्त करने के लिए है, हमारा संघर्ष केवल स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये है । यह लड़ाई सोये हुये व्यक्तित्व को पुनः जगाने के लिये है"[4] अस्पृश्य समाज के

---

1. Dalit Bandhu, Special Number, Page No. 25
2. शंकरानन्द शास्त्री, युगपुरूष, – बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, पृष्ठ – 373
3. पूर्वोक्त – पृष्ठ – 375
4. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 87

लिये स्वतन्त्र बस्तियां, सरकारी नौकरियों, विधिविभाग, पुलिस विभाग आदि क्षेत्रों में निश्चित अनुपात में सुरक्षित स्थान इत्यादि माँगों का अधिवेशन में रखा।

इसी अधिवेशन के पंडाल में अगले दिन दलित वर्ग महिला सम्मेलन भी सम्पन्न हुआ तथा "शेडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन" की महिला विंग का गठन हुआ। इस अवसर पर डा0 अम्बेडकर ने महिलाओं से कहा "मैं स्त्री समाज की प्रगति पर ही दलित समाज की प्रगति का मापदण्ड रखता हूँ। महिलाओं का संगठन आवश्यक है। ''महिलाओं स्वच्छ रहिये, अपने आपको दुर्गुणों से दूर रखिये, बेटियों को लिखाइये–पढ़ाइये, उनके मन में महत्वाकांक्षाये पैदा होने दीजिये, उनकी शादी जल्द करने की कोशिश मत कीजिये।''(1)

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर ने अपनी संगठन शक्ति और कुशलता से खेतिहर मजदूरों मिल मजदूरों, सफाई कर्मियों और अस्पृश्य जातियों का विशाल संगठन स्थापित किया। अपने सांगठनिक प्रयासों से उन्होने दबे–कुचले लोगों में नई प्रेरणा उत्पन्न की। डा0 अम्बेडकर ने केवल एक वर्ग तक सीमित न होकर समाज के हर उपेक्षित को नई दिशा दी। वह इनको आत्मसम्मान और अधिकारों के लिये दुर्द्धष संघर्ष के लिये अनुप्रेरित करते रहे हर संगठन के निर्माण के प्रति उनकी यह भावना थी कि संघर्ष की गति तेज हो क्योंकि उनकी स्पष्ट धारणा थी कि ''खोये हुये अधिकार भिक्षा तथा अपहरणकर्ता में अन्तःकरण के निवेदनों से कदापि वापस नहीं मिलते वे मिलते हैं, अवाधगति से निरन्तर संघर्ष करने से ।''(2)

कानूनी प्रयास :–

डा0 अम्बेडकर ने 18 फरवरी 1927 को बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक मनोनीत सदस्य के रूप में शपथ ग्रहण की। 1932 में पुनः मनोनीत हुये । 1937 के आम चुनाव में डा0 अम्बेडकर चुनाव जीते । उनकी पार्टी इण्डिपेन्डेन्ट लेवर पार्टी ने 15 सीटें जीती। दो सदस्य सामान्य सीटों से जीते। डा0 अम्बेडकर ने विरोधी दल के नेता के रूप में शपथ लीं 1934 में द्वितीय विश्वयुद्ध की वजह से विधानसभा अनिश्चित समय के लिये स्थगित कर दी गई।

डा0 अम्बेडकर को बम्बई विधान परिषद के नामांकित सदस्य के रूप में 18 फरवरी

---

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 126
2. राजेन्द्र भटनागर, डा0 अम्बेडकर, जीवन, दर्शन पृष्ठ – 55

1927 को शपथ ली। बम्बई विधान परिषद के नामांकित सदस्य के रूप में शपथ ग्रहण करने क बाद ही उन्होने बजट पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्ति की। आय व्यय पर आलोचना करते हुये उन्होने स्पष्ट किया कि वह बजट कर दाता की दृष्टि से कितना अन्यायपरक और असमर्थनीय हैं। उन्होनें आशा व्यक्त की कि सरकार अनिवार्य शिक्षा, चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने, जनता की आवश्यक मांगों को पूरा कराने और व्यवसनों से मुक्त कराने के लिये जरूरी कदम उठाने का प्रयास करेगी, जिनसे स्थिति में सुधार हो सके।[1] परिषद के अन्दर एक जागरूक सदस्य के रूप में अपनी विद्वता, वक्तव्यों से सरकार का ध्यान समस्याओं के समाधान हेतु हमेशा आकृष्ट किया।

बम्बई विधान परिषद और बम्बई विधान सभा के सदस्य के रूप में उन्होने जो विधेयक प्रस्तुत किये उनमें संशोधन एवं सुझावपरक भाषण प्रस्तुत किये, उनका एकमात्र लक्ष्य समाज में हर प्रकार के शोषण को समाप्त करके दबे–उत्पीड़ितों को उनके वास्तविक अधिकार दिलाना था।

बम्बई वंशानुगत कार्य अधिनियम के संशोधन हेतु विधेयक :–

डा0 अम्बेडकर ने बम्बई वंशानुगत कार्य अधिनियम में संशोधन हेतु 1928 का विधेयक संख्या 12 (1874 के बम्बई वंशानुगत कार्य अधिनियम में संशाधन का विधेयक) 19 मार्च 1928 को प्रस्तुत करने की अनुमति दी गई। इसके उद्देश्य निम्नवत थे [2]–

1. कार्यरत वतनदारों के लिये बेहतर पारिश्रमिक की व्यवस्था करना।
2. वंशानुगत ग्राम्य सेवकों के वेतन के रूपान्तरण की अनुमति प्रदान करना।
3. वलूते के नकदी में बदलना
4. क्षुद्र वेतन धारकों को किसानों की सेवा के दायित्व से मुक्त कराने की अनुमति देना।
5. कार्यरत वतनदारों के दायित्व निर्धारित करना।

वंशानुगत कार्य अधिनियम संशोधन विधेयक[3] के प्रावधानों पर विस्तृत परिचर्चा प्रस्तुत करते हुय कहा इस विधेयक में क्षुद्र कर्म करने वालों का अर्थ है दक्खिन के महार, गुजरात के बेठिया अथवा बर्थनिया, कर्नाटक के रामोशिस या जुगालिया तथा होलिया वर्ग से है। इन क्षुद्र

---

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 31
2. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 87–89
3. बाम्बे लेजिस्लेटिव कांउसिल डिबेट्स, खण्ड – 23, पृष्ठ – 708, 21 अगस्त – 1928

धारकों के अधिकार प्रस्तावित क्षुद्रक भी प्रतिनिधि स्वरूप महारों के बारे में होंगी।[1]

इस प्रकार यह विधेयक मुख्यतः महार के अनुवांशिक कार्यभार कानून में सुधार सुझाने वाला था। महार जाति की ज्यादतियाँ और शिकायतें सदन में रखते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा– "ये क्षुद्र वतनधारक वतन कानून के अनुसार सरकारी सेवक हैं परन्तु कहीं भी इनके दायित्वों का उल्लेख नहीं हैं।"

प्रत्येक विभाग इनकी सेवाये लेता, इन्हे सिचांई विभाग में काम के लिये बुलाया जा सकता है, राजस्व विभाग में बुलाया जा सकता है....... शिक्षा विभाग में बुलाया जा सकता है...... यह विचित्र प्रथा है। प्रत्यक सरकारी कर्मचारी जानता है कि वह किस विभाग से सम्बद्ध, है उसका क्या कार्य है । दूसरे उन्हें रात या दिन किसी भी समय कार्य पर बुलाया जा सकता है। तीसरे महारों की जहाँ तक बात है एक व्यक्ति का नाम सेवा पंजिका में दर्ज है और अकेला व्यक्ति नहीं है जिसे सेवा करनी है, बल्कि उसका सारा परिवार सरकार के सेवा कार्य के बाध्य है। उस व्यक्ति के अनुपस्थित रहने पर उसके पिता या दादा को सेवा के लिये बुलाया जा सकता है। यदि सेवक अनुपस्थित है तो उसकी पत्नी को बुलाया जा सकता है। चौथे, इन्हे सरकारी खजाने से सीधे वेतन नहीं मिलता। साथ ही बहुत ही तुच्छ राशि इन्हें वेतन में मिलती है। थाणे जिले में डेढ़ रूपये, पूर्वी खान देश के पौने दो रूपये, पश्चिमी खान देश में नौ आने और चार पाइयाँ मिलती है......... महार वतनदारों की आय के दो साधन है – इनाम भूमि दूसरा ग्रामीणों द्वारा दिये जाने वाले बलूते। इनाम भूमि इन्हें प्राचीन सम्राटों की बख्सीस है जो महारों की संख्या बढ़ने पर बंट–बंट कर इस स्थिति में पहुंच गई है कि उसका अब कोई मूल्य नहीं रहा.......... वेतन कानून के अनुसार, वलूते के भुगतान के लिये महार किसानों की कृपा पर निर्भर है यदि किसान उसे बलूते को देना चाहे तो वह मिल सकता है । यदि साल भर काम कराने के बाद अंगूठा दिखा दें महार यह समझ लेगा कि उसकी मेहनत पानी में गई।"[2]

प्राथमिक चर्चा के बाद यह विधेयक प्रवर समिति को भेंजा गया। जब वहां से वापिस आया तो अनेक संशोधन सुझाये गये थे। उस पर पुनः जोरदार बहस हुई। इस वजह से डा0

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 708

2. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ 92

अम्बेडकर ने 24 जुलाई 1924 को अपना विधेयक वापस ले लिया।[1]

17 सितम्बर 1937 को पुनः बम्बई वशांनुगत कार्य अधिनियम में संशोधन हेतु 1937 की विधेयक संख्या 23 को बम्बई विधानसभा में प्रस्तुत किया गया। प्रस्तुत विधेयक के मूल उद्देश्य निम्नलिखित थे[2] –

1. वतनदार की इच्छा पर वतन का परिवर्तन करने की अनुमति।
2. दूसरा वतनदारों के कुछ वर्गों को पारिश्रमिक के भुगतान की अधिक सुरक्षा व्यवस्था।
3. वतनदारों द्वारा किये जाने वाले कार्यों की कानून द्वारा विशेष व्याख्या की व्यवस्था होना। मगर सरकार ने इसे विलम्ब खाते में डाल दिया।[3]

1937 के खोती व्यवस्था के उन्मूलन हेतु विधेयक संख्या 20 –

किसानों के लागू की गई 17 सितम्बर 1937 को बम्बई विधान सभा में महाराष्ट्र के कोकण क्षेत्र में भूमि सुधारों पर लागू की गयी । "खोतीप्रथा" को समाप्त करने के लिये विधेयक प्रस्तुत किया। किसानों के हित के लिए विधेयक प्रस्तुत करने वाले डा0 अम्बेडकर प्रथम व्यक्ति थे। इस खोतीप्रथा के अनुसार जब रजवाड़ों का मन करे भूमि सुधारों को भूमि से बेदखल किया जा सकता था। भूधारण की खोत व्यवस्था में सरकार भूमि के दखलदारों से भू राजस्व की वसूली के लिए खोट लोगों को नियुक्त करती है। भू–धारण की खोती व्यवस्था जहां एक ओर खोत को बाध्य करती है कि यह सरकार को भू–राजस्व का भुगतान करें, वहीं दूसरी ओर खोत को स्वतन्त्रता देती है कि वह अधीनस्थ धारकों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करे। इस स्वतन्त्रता का दुरूपयोग खोत लोगों द्वारा इस सीमा तक किया जाता है कि वह न केवल बल प्रयोग करके अधीनस्थ धारकों से धन और सामान की वसूली की जाती हैं, बल्कि उन्हें गुंलामों की तरह जीवन बिताने के लिये विवश किया जाता है।[4] अतएव प्रस्तुत विधेयक का उद्देश्य –

1. खोती व्यवस्था का उन्मूलन तथा सरकार और भूमि के उन धारकों के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करना जो खोत लोगों के लाभप्रद प्रबन्ध के अधीन है ;

---

1. बसन्तमून, बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 46
2. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 109
3. बसन्तमून, पृष्ठ – 105
4. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 116

2. खोत लोगों के अधिकारों को क्षतिपूर्ति के लिए उचित मुआवजे देने के प्रावधान करें।

3. भू राजस्व संहिता के अन्तर्गत उन अधीनस्थ धारकों को वास्तव में जिनके कब्जे में भूमि है उन्हें दखलकारों का दर्जा देना और

4. अन्य आकस्मिक प्रयोजनों के लिये प्रावधान करना है।[1]

इस विधेयक के समर्थन में बम्बई के छोटे–छोटे किसान तथा खेतिहर मजदूरों ने संगठित होकर प्रदर्शन की तैयारी की। ''थाना, कोलाबा, रत्नगिरि, नासिक आदि जिलों के 'हजारों' किसान संगठित होकर बम्बई पहुंचें। ग्रामीण किसानों के झुण्ड हो करके नारे लगा रहे थे, डा0 अम्बेडकर का बिल पास करो, खोती सिस्टम खत्म करो।''[2] शासक वर्ग ने विधेयक को लटकाये रखा।[3]

ग्राम पंचायत विधेयक :–

डा0 अम्बेडकर ने अपने विधायक काल में रखे गये 'ग्राम पंचायत विधेयक' की चर्चा में भाग लेते हुये महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये।[4] विधेयक में प्रावधान किया गया था कि "ग्राम पंचायतों का निर्वाचन महिलाओं व पुरूषों दोनों के वयस्क मतों के आधार पर प्रस्तुत किया जाये।" डा0 अम्बेडकर ने कहा कि –''वयस्क मतदान हमारे लिये पर्याप्त नहीं। महोदय यह भूल कि दलित वर्ग प्रत्येक गाँव में अल्पसंख्यक एवं दयनीय अल्पसंख्यक हैं और हम मान लेते हैं कि वे वयस्क मताधिकार अपनायेंगे। इसके साथ मुझे विश्वास है कि वह यह भी मानेगें कि वयस्क मतदान को बहुमत में परिवर्तित नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप मैं अनुग्रह करूंगा अगर ग्राम पंचायतें बनती हैं तो अल्पसंख्यकों के लिये विशेष प्रतिनिधित्व होना चाहिये ....[5] डा0 अम्बेडकर ने विधेयक में ग्राम पंचायतों के न्यायिक प्रावधान के संदर्भ में कड़ी आपत्ति जाहिर कि मेरे विचार से सभी सहमत होते कि दीवानी, फौजदारी मामलों का निर्वाह करने के कार्य को सौंपने से पहले न्यायपालिका में तीन गुण होने चाहिये। वह कानून में प्रशिक्षित होनी चाहिये, अपने

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 116
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन, दर्शन , पृष्ठ – 73–74
3. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 104
4. बोम्बे लेजिस्लेटिव कांउसिल, डिबेट्स, खण्ड – 35, पृष्ठ – 112
5. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 123

दृष्टिकोंण में निष्पक्ष होनी चाहिये और मै निवेदन करता हूँ कि वह स्वतन्त्र होनी चाहिये ।"(1) परन्तु विधेयक में प्रावधान किया गया है कि वयस्क मताधिकार के द्वारा पांच अथवा सात सदस्यों की पंचायत का चुनाव करेंगें, ये व्यक्ति तीन वर्षों तक कार्यभार संभालेगें। स्थानीय निकाय के कार्यों का निर्वाह करने केसाथ वे कुछ फौजदारी व दीवानी मुकदमों की न्यायिक जांच करने का भी काम करेगें।(2)

व्यस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि बिना किसी न्यायिक प्रशिक्षण, वैधानिक ज्ञान के न्यायिक कार्यों के लिए योग्य सिद्व नहीं होगें अतएव नगरों में पहले से ही स्थित अवैतनिक मजिस्ट्रेटों की पीठ को विस्तृत रूप दिया जाये, प्रत्येक जिले को न्यायिक परिमंडलों में विभक्त करके उस परिमंडल में न्यायिक कार्यो का निष्पादन के लिये तीन या अधिक व्यक्तियों को सरकार नामांकित करे । ये तीनों व्यक्ति एक दिन परिमंडल के मजिस्ट्रेट की हैसियत से बैठेगें और फौजदारी मामलों के सुलझायेगें । इस तरीके से सत्ता और सुगम न्याय हम प्राप्त कर सकते है। उन्होंने कहा कि यह सदन जिसने बहुमत से विधेयक को स्वीकार कर लिया वह मेरे विरूद्ध है।

बोम्बे पुलिस एक्ट अमेण्डमेन्ट विधेयक :–

बम्बई पुलिस एक्ट में संशोधन करने के लिये डा0 अम्बेडकर ने तीन विधेयक दिनांक 27, 28, 29 अप्रैल 1938 को प्रस्तुत किये । पुलिस का कार्य सरकार की ओर से गुण्डों को दबाना था। डा0 अम्बेडकर ने संशोधन विधेयकों के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये कहा कि "मेरे संशोधन की धारा (3) पुलिस आयुक्त को, किसी भी व्यक्ति को बम्बई प्रेसीडेन्सी की सीमा से निष्कासित करने का अधिकार देती है, यदि पुलिस आयुक्त के पास ऐसा विश्वास करने के पर्याप्त कारण हो कि अमुक्त व्यक्ति इस तरह से काम कर रहा है कि उसकी उपस्थिति या गतिविधियों या उसके कारनामे दगों के लिये जिम्मेदार है"। दूसरे इस संशोधन में रक्षोपाय यह है कि पुलिस आयुक्त को हम स्वैच्छिक अधिकार दें रहे, उसका दुरूपयोग नहीं किया जायेगा। इसके लिये पहला उपाय यह है कि पुलिस आयुक्त व्यावहारिक रूप में विधायिक या जनता की जानकारी के बिना अपने अधिकार का उपयोग नही कर सकता है।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 125
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 125

तीसरे, संशोधन की धारा (1) जिसमें उल्लेख है कि बम्बई नगर या इसके किसी भाग में शान्ति या व्यवस्था दो समुदायों अथवा उसके वर्गो गिरोहों या गुटों के झगड़ो के फलस्वरूप भंग होती है तो यह सरकारी गजट में इस घोषणा के द्वारा प्रेसिडेंसी की सरकार यह निर्देश कर सकती है कि आपातकाल लागू हो गया है। परन्तु इस धारा का श्रम सम्बन्धी झगड़े या अन्य झगड़े में प्रयुक्त नहीं होगी।[1]

औद्योगिक विवाद विधेयक :–

सन् 1936 सितम्बर माह में बम्बई की विधानसभा में औद्योगिक विवाद पर विधेयक प्रस्तुत किया गया। इस बिल के अनुसार कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मजदूरों का हड़ताल पर जाना गैर कानूनी माना जायेगा – यह कानून बनना था। जिस प्रावधानों में हड़तालों को अवैध घोषित किया गया है। प्रारम्भ हुयी अथवा जारी रहने वाली ऐसी कोई भी हड़ताल अवैध होगी–[2]

1. औद्योगिक विवादों में समझौते को बाध्यकारी बनाना।
2. सभी उद्योगों में एक वर्ष की अवधि के लिये हड़ताल पर प्रतिबन्ध लगाना।
3. हड़तालियों को दण्डित करना।

डा० अम्बेडकर ने इस विधेयक को वास्तव में 'मजदूर की नागरिक स्वतन्त्रता का हनन कहकर पुकारा। उनके अनुसार मेरा दावा है कि "इस विधेयक के प्रावधानों को जब क्रियान्वित किया जायेगा तो इससे चिरस्थायी दासता आ जायेगी और मजदूर कभी भी हड़ताल नहीं कर पायेंगें।"[3]

उन्होंने कहा कि आप स्वतत्रंता का अधिकार प्रदान करते है तो आप आवश्यक रूप से हड़ताल का अधिकार भी प्रदान कर देते है......................हड़ताल का अधिकार स्वतन्त्रता के अधिकार जैसा है।[4] डा० अम्बेडकर ने आगे कहा कि–

1. हड़तालियों को दण्डित करना मजदूरों को गुलामी की अवस्था में ढकेलना है।
2. समझौते की बातचीत हड़ताल रोकने का बहाना नहीं होना चाहिये। यह कैसी सरकार है जो

---

1. बाबा साहब डा० अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 156 – 158
2. डा० अंगनेलाल, बोधिसत्व डा० अम्बेडकर, पृष्ठ – 76
3. डा० अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृंष्ठ – 235
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 231

स्वयं को लोकप्रिय कहती है और जो मजदूरों के मतो से निर्वाचित होने का दावा करती है किन्तु जिसे मजदूरों या देश की भलाई में कोई रूचि नहीं है। इसे लोकतन्त्र नहीं कहा जा सकता यह तो शिक्षा, आजीविका के साधनों, वृद्धि और संगठित होने की शक्ति से वंचित मजदूर वर्ग को गुलाम बनाने का तन्त्र है, जनतन्त्र नहीं बल्कि लोकतन्त्र का मजाक है।

3. इस बिल का सही नाम "मजदूरों के नागरिक अधिकार हनन" बिल होना चाहिये । यह बिल प्रतिक्रियावादी और विपरीतगामी है।

डा0 अम्बेडकर ने न केवल विधान सभा के अन्दर इसका विरोध किया वरन् बाहर भी इसके विरूद्ध जबर्दस्त जनमत तैयार किया।

प्रसूति लाभ विधेयक :-

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विधेयक था। इसमें स्त्रियों के लिये प्रसूति सुविधायें उपलब्ध कराने का प्रयास था। विधेयक का जोरदार समर्थन करते हुये उन्होंने कहा कि "मेरा यह विश्वास है यह कि राष्ट्रीय हित में होगा कि जच्चा को कुछ समय के लिये प्रसव के पूर्व और कुछ समय के लिये प्रसव के पश्चात विश्राम दिया जाये।"[1] प्रसूति लाभ की अधिकाशं जिम्मेदारी सरकार के साथ-साथ नियोक्ता की भी होनी चाहिये। बम्बई प्रेसीडेंसी के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत पर इस विधेयक को लागू किया जाना चाहिये।[2]

युद्ध में भागीदारी विषयक प्रस्ताव :-

बम्बई विधानसभा में, युद्ध में भाग लेने के सम्बन्ध में 25, 26, 27 अक्टूबर 1939 को विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसमें युद्ध में हिन्दुस्तानियों की सहमति के बगैर उन्हें शामिल करने की कार्यवाही की निन्दा की गयी थी।[3] डा0 अम्बेडकर ने इस विधेयक में संशोधन प्रस्तुत करते हुये संशोधन में उन्होने कहा कि भारत का सहयोग प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि देश में जनतान्त्रिंक सिद्धान्त लागू किया जाये। उनके शब्दों में ''भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिये यह जरूरी है कि लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को भारत पर लागू किया जाये और उसकी

---

1. डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 185
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 186 – 187
3. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 29

नीतियां उसके लोगों द्वारा निर्देशित होनी चाहिये और यह कि भारत को अपना संविधान बनाने के लिये स्वतन्त्र देश के रूप में मान्यता मिलनी चाहिये और यह कि अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों के माध्यम से सन्तुष्ट हो जाने पर ऐसे संविधानों को प्रभावी बनायेगी।"(1)

उपर्युक्त विधेयकों के अतिरिक्त डा0 अम्बेडकर ने अपने विधायक काल में तम्बाकू शुल्क अधिनियम संशोधन विधेयक 5 मार्च, 1938, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता दिनांक 7 मार्च 1938 मंत्रियों के वेतन विधेयक 23 अगस्त 1937, कोड़े लगाने की सजा 18 फरवरी 1937 आदि विधेयक और संशोधन प्रस्तुत किये। विधायक रहते हुये जीवन के विभिन्न क्षेत्रों तथा शासन और प्रशासन के सुधार हेतु महत्वपूर्ण विधेयक प्रस्तुत किये विधेयकों में संशोधन प्रस्तुत किये। सुझावपरक भाषण दिये। विधायक के रूप में उन्होने जनकल्याण एवं राष्ट्र की महती सेवा की। विरोधी दल के नेता के रूप में अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्व को शालीनता आई सजगता से निर्वाह किया और संशोधन प्रस्तुत किये............................डा0 अम्बेडकर ने केन्द्रीय विधानसभा में जनवरी 1946 में एक विधेयक प्रस्तुत किया। यह मजदूरों के वेतन और सेवा शर्तो से सम्बन्धित था। यह 1948 में न्यूनतम अधिनियम बना।(2)

हिन्दू कोड बिल :—

जिस हिन्दू कोड बिल को डा0 अम्बेडकर ने विधिमन्त्री की हैसियत से और तत्कालीन भारत के प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरु के परामर्श से बड़े परिश्रम से तैयार किया था। उसमें नौ भाग, 139 धारायें तथा सात अनुसूचियां थीं। इस बिल का मुख्य उददेश्य "हिन्दू परम्परा पर आधारित सामाजिक विषमता, भेदभाव और क्रूरतापूर्ण मान्यताओं, रीतियों और नियमों को नष्ट करना था।" बिल में विवाह, विवाह—विच्छेद, तलाक, दत्तक लेने में भागीदारी, सम्पत्ति में बेटे के बराबर की हिस्सेदारी और उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार प्रदान किया गया।(3)

विवाह—विच्छेद :—

शास्त्रीय विवाह में पहले बहुपत्नीत्व की अनुमति थी। नये कानून (हिन्दू कोड बिल)

---

1. डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 267
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 79
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 112 – 113

में एक पत्नीत्व की अनुमति प्रदान की गई। शास्त्रीय विवाह विच्छेद नहीं हो सकता था, उसमें तलाक की व्यवस्था नहीं थी, लेकिन हिन्दू कोड बिल में विवाह विच्छेद का प्रावधान कर दिया गया। नये कोड के अन्तर्गत विवाह करने पर वर–वधू को विवाह–विच्छेद करने का अधिकार भी मिल गया।

तलाक :–

हिन्दू कोड बिल में तलाक देने का प्रावधान भी किया गया था। इसमें सात कारणों के आधार पर तलाक दिया जा सकता था – [1]

1. यदि पति पत्नी का, पत्नी पति का परित्याग करती हो।
2. धर्म परिवर्तन ।
3. रखैली रखना या रखैली बनना ।
4. पति या पत्नी असाध्य उन्माद से पीड़ित हों।
5. पति या पत्नी को असाध्य, भयंकर कुष्ठ रोग हो।
6. पति या पत्नी संक्रामक गुप्त रोग से पीड़ित हो।
7. क्रूरतापूर्वक व्यवहार।

सम्पत्ति का अधिकार :–

हिन्दू शास्त्र, धर्म, परम्परा के अनुसार सम्पत्ति को पुरुष के समान स्त्रियो को भी सम्पत्ति पर समान अधिकार दिया गया। पिता का सम्पत्ति में बेटी और बेटा दोनो को समान और बराबर का अधिकार दिया गया।

दत्तक :–

हिन्दू कोड बिल में गोद लेने के विषय में दो नियम प्रतिपादित किये गये – पहला यह कि यदि पति किसी का गोद लेना चाहता है तो उसे अपनी पत्नी की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा। यदि एक से अधिक पत्नियां हों तो उनमे से एक की स्वीकृति लेनी आवश्यक होगी। दूसरा यह कि विधवा केवल उसी दशा में गोद ले सकती है जब कि पति उसके लिये स्पष्ट आदेश छोड़ गया हो।[2]

---

1. बुद्धशरण हंस, डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 151
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 114

उत्तराधिकार :-

हिन्दू परम्परा के अनुसार पिता अपने नाबालिग पुत्र का हर हालत में अभिभावक बना रहता था, चाहे वह गृहत्यागी हो या विधर्मी हो । हिन्दू कोड बिल में यह व्यवस्था की गई है कि पिता यदि सन्यास ग्रहण कर लेता हो अथवा धर्म त्याग कर दूसरा धर्म ग्रहण कर लेता हो तो वह अपने नाबालिग पुत्र का अभिभावक नहीं रह सकेगा । हिन्दू परम्परा के अनुसार विधवा को उत्तराधिकार नियुक्त करने का अधिकार नहीं है । हिन्दू कोड बिल द्वारा यह व्यवस्था की गई कि – हिन्दू विधवा के पति ने वसीयतनामे में कोई अभिभावक नियुक्त नहीं किया है तो उसे वसीयतनामा सम्बन्धी अभिभावक नियुक्त करने का अधिकार होगा । यह उल्लेखनीय है कि डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल का प्रारूप प्रधानमंत्री पं0 जवाहरलाल नेहरू के परामर्श से बनाया था । इस बिल को लेकर मंत्री मण्डल के सदस्यों में भी अन्तर्विरोध था । इसलिए इसके पारण में बहुत विलम्ब हुआ । 20 सितम्बर 1951 को उन्होंने हिन्दू कोड बिल एवं तलाक के पक्ष में सबल तर्क दिया । 25 सितम्बर को यह भाग पास कर दिया गया । ज्ञातव्य है कि सरदार बल्लभ भाई पटेल ने इस बिल का घोर विरोध किया । डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने त्यागपत्र देने की धमकी दे दी । घोर विरोध की हालत में विवाह और तलाक वाले अंशों को पूरा नहीं किया गया और यह बिल बिना पास हुये ही रह गया । लोगों की कथनी और करनी में इस प्रकार भेद देखकर डा0 अम्बेडकर बहुत दुःखी हुये । उन्होंने कहा – "हिन्दू कोड बिल की 4 धारायें (क्लॉजेज) पास करने के बाद उनकी हत्या कर दी गई और दो आँसू बहाये बगैर ही उसे दफन कर दिया गया।" 28 सितम्बर 1951 को विरोध स्वरूप उन्होंने कानून मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया ।[1]

परन्तु बाद में उस बिल को चार भागों में विभाजित करके चारों भाग अलग–अलग बिल के रूप में भारतीय संसद में पेश और पास हुये । 18 मई 1955 को 'हिन्दू विवाह विधेयक' 17 जून 1956 को 'हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक', 25 अगस्त 1956 को 'हिन्दू अल्पव्यस्कता और संरक्षण विधेयक' और 14 दिसम्बर 1956 को 'हिन्दू दत्तक–ग्रहण और निर्वाह विधेयक' पास हुये। हिन्दू समाज के लिए यह सब कानून क्रांतिकारी हैं और निकट भविष्य में इन कानूनों का हिन्दू समाज पर क्रांतिकारी परिणाम होकर रहेगा ।[2]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 116
2. विजय कुमार पुजारी – डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 126

संवैधानिक प्रयासः—

डा0 अम्बेडकर ने न केवल स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माण में उत्कृष्ट भूमिका का निर्वाह किया वरन् स्वतन्त्रता पूर्व भारत के संवैधानिक विकास में उनका महान योगदान रहा है। डा0 अम्बेडकर ने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत किये गये संवैधानिक सुधारों पर जो अपनी प्रतिक्रिया एवं तथ्यपरक विश्लेषण प्रस्तुत किये उसके द्वारा संवैधानिक विकास में महत्वपूर्ण गतिशीलता आयी। डा0 अम्बेडकर ने कहा था—"स्वराज्य तो अस्पृश्यों को भी करनी चाहिये लेकिन भावी संविधान में अस्पृश्यों को स्वाधीनता दिलाने की व्यवस्था पहले ही करना चाहिये......................"[1]

अतएव भारत के भावी संविधान में अस्पृश्यों को समान नागरिक का दर्जा मिले इसके लिये उन्होंने बहुत पहले से आधार बनाना शुरू कर दिया था। उन्होंने 1919 में साउथबरो समिति के समक्ष साक्ष्य प्रस्तुत करते हुये दलितों के जनसंख्या के अनुरूप प्रतिनिधित्व की मांग की। साइमन कमीशन (1928) ने अम्बेडकर के संवैधानिक प्रयासों को नया मोड़ दिया। पहली बार उन्होंने दलित समुदाय के हित में कई संवैधानिक प्रावधानों को आयोग के समक्ष रखा। गोलमेज समिति (1930—32) में भाग लेकर उन्होंने अस्पृश्य जातियों की पीड़ा, सामाजिक धार्मिक बहिष्कार की नियति को समिति के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में दलितों के लिये पृथक निर्वाचन व डबल वोट का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। रैम्जे मैकडोनोल्ड ने कम्युनल अवार्ड की घोषणा की जिसमें अछूतों को पृथक निर्वाचन और दो वोट का अधिकार दिया गया। इस अधिनिर्णय का गाँधी जी और कांग्रेस द्वारा विरोध करने पर इसकी परिणति पूना पैक्ट के रूप में हुई, डा0 अम्बेडकर ने 1933—34 में ब्रिटिश संसद की संयुक्त संसदीय समिति की परिचर्चा में भाग लिया और भारत में संघ व्यवस्था, पृथक निर्वाचक सुरक्षा उपाय, सीटो का आरक्षण, संघ की वित्त व्यवस्था और संघीय न्यायालय के संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये, बाद में उनकी बहुत सी मांगों को, 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में जगह मिली । अगस्त प्रस्ताव 1940, कैबिनेट प्रस्ताव मार्च 1942, बेवेल प्लान जून 1945 और मन्त्रिमण्डल मिशन 1946 इन सभी से जुड़कर उन्होंने जो वक्तव्य दिये उनके पीछे उनके दो लक्ष्य थे — प्रथम, राष्ट्रीय हित और द्वितीय, दलित समुदाय के हित में अधिकतम संवैधानिक अधिकार। अतएव प्रस्तुत अध्याय में डा0 अम्बेडकर ने अपने समुदाय के हित में जो जीवन संघर्ष किया, उसके विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

क. डा0 अम्बेडकर — साउथ बरो समिति के समक्ष :—

27 जनवरी 1919 को डा0 अम्बेडकर ने मताधिकार की पूछतांछ करने वाली साउथ बरो कमेटी के सामने साक्ष्य प्रस्तुत किये। इन्होने समिति के सामने अपना प्रतिवेदन भी प्रस्तुत किया और इसमे उन्होने अस्पृश्य समाज की जनसंख्या के अनुरुप प्रतिनिधित्व देने की बात रखी। उन्होने भारत

---

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ — 58

में लोकप्रिय सरकार के गठन के लिये सरकार में व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व पर जोर दिया क्योंकि उनके शब्दों में,''लोकप्रिय सरकार का अर्थ केवल जनता के लिये सरकार से नहीं है, बल्कि जनता की सरकार से भी है।''[1] भारत में लोकप्रिय शासन की स्थापना हेतु उन्होने कहा............. "भारत में लोकप्रिय सरकार के लिये मताधिकार और निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था करते समय मताधिकार समिति को यह ध्यान रखना है कि वह दोनों अर्थात् विचारों के प्रतिनिधित्व और व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करें।"[2] उन्होने कहा कि इस कार्य में तभी सफलता प्राप्त होगी, जब उस समाज का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिसे लोकप्रिय सरकार का रूप दिया जाना है। उन्होने अग्रेंजो की इस बात का जोरदार खंडन किया कि भारत प्रतिनिधि सरकार के योग्य नहीं है क्योंकि इसके लोग जातियो और सम्प्रदायो में बँटे हुये है। यदि सामाजिक विभाजन किसी देश को प्रतिनिधि सरकार के अयोग्य ठहराते है तो भारत की भाँति यह पैमाना अमरीका पर भी लागू होना चाहिये। यदि सामाजिक विभाजन रखते हुये अमरीका प्रतिनिधि शासन की अयोग्यता रखता है तो भारत क्यों नही।

समिति के समक्ष भारत के परम्परागत सामाजिक विभाजन (1) हिन्दू (2) मुसलमान (3) ईसाई (4) पारसी (5) यहूदी को नकारकर इन्होने भारत के वास्तविक सामाजिक विभाजन को इस ढ़ग से प्रस्तुत किया'–(1) स्पृश्य हिन्द (2) अस्पृश्य हिन्दू (3) मुसलमान (4) ईसाई (5) पारसी (6) यहूदी।[3] उन्होंने कहा कि यदि इस देश में लोकप्रिय सरकार का निर्माण करना है, तो नीति बनाते समय इन वास्तविक विभाजनों की अनदेखी करना उचित नहीं होगा।

अस्पृश्यों के लिये मताधिकार को व्यापक बनाने की समिति के समक्ष बात रखी। उनके अनुसार संविधान सुधार सम्बन्धी रिपोर्ट तैयार करने वाले भी सीमित तथा एकरूप मताधिकार के पक्ष में नही है। उनका कहना है "हमारा विचार है कि मताधिकार को यथासम्भव व्यापक बनाया जाना वांछनीय है। उसकी सीमाओं का निर्धारण व्यवहारिक कठिनाइयों के आधार पर कि योग्यता निश्चित करने के लिये कितनी शिक्षा अथवा कितनी आमदनी है।"[4] चूँकि तो अस्पृश्य हर प्रकार के अधिकारों से वंचित है अतएव उनके अनुसार नागरिकता तो अधिकारों का पुंज है। यथा – (1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (2) व्यक्तिगत सुरक्षा (3) निजी सम्पत्ति रखने के अधिकार (4) विधि के समक्ष समता (5) अन्तःकरण की स्वतन्त्रता (6) वाक् स्वातन्त्र की स्वतन्त्रता (7) राज्य के अधीन पद धारण की स्वतन्त्रता । अतएव नागरिकता की सार्थकता के लिये दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकार है – पहला प्रतिनिधित्व का अधिकार दूसरा, राज्य के अधीन पद धारण करने का अधिकार लेकिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सुरक्षा जैसे अधिकारों से वंचित

1. डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 19
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 20
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 22
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 27

दलित समुदाय इन महत्वपूर्ण अधिकारों से काफी दूर है। अतएव "अगर लोक प्रतिनिधियों की सरकार सही मायने में बनानी है तो अस्पृश्य समाज को उनकी जनसंख्या के अनुरूप प्रतिनिधित्व देना आवश्यक है।"(1)

उन्होने कहा बम्बई प्रेसीडेंसी के अस्पृश्यों को कुल मिलाकर नौ सदस्य चुनने की अनुमति दी जाये। उनके शब्दों में, 1911 की जनगणना के अनुसार बम्बई प्रेसीडेसी की कुल जनसंख्या (केवल ब्रिटिश जिलो की) 19, 628, 477 है। इसमें से अस्पृश्यों की जनसंख्या 16, 627, 980 है, जो कुल जनसंख्या का आठ प्रतिशत हैं। मान लें कि फिलहाल बम्बई विधान परिषद में 100 निर्वाचित सदस्य होगे उसमें अस्पृश्यों के प्रतिनिधि के रूप में आठ प्रतिनिधि होने चाहिये। यदि प्रत्येक दो लाख की जनसंख्या के लिये प्रतिनिधि आंवटित कर दे (जो दो करोड़ की जनसंख्या के लिये 100 प्रतिनिधियों का अनुपात भर) तो अस्पृश्य अधिकार के रूप में अपने लिये आठ प्रतिनिधियों की मांग कर सकते है। लेकिन बम्बई प्रेसीडेंसी के अस्पृश्यों को कुल मिलाकर नौ सदस्य चुनने की अनुमति दी जाये। इन नौ निर्वाचित सदस्यों का एक निर्वाचक मण्डल बनना चाहिये ताकि वे अपने बीच से एक सदस्य चुन सके, जो इपीरियल विधान परिषद में इस प्रेसीडेसी के अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व कर सके।"(2)

उन्होने कहा कि उदारवादियों बहुसख्यंक निर्वाचन क्षेत्रों में पिछड़े समुदाय के लिये प्रस्ताव रखा कि उनके लिये सीटों का आरक्षण किया जाये। उन्होनें अस्पृश्यों के लिये सीटो की संख्या नहीं बतलायी है, परन्तु उनकी उदार भावना यही है कि एक या दो प्रतिनिधि विधानपरिषद में अस्पृश्यों के से चुने जाये, परन्तु राजनीतिक अधिकार की दृष्टि से यह न्यायसंगत नहीं है क्योंकि मताधिकार अथवा राजनीतिक अधिकार का महत्व यह कि उन शर्तो के विनियमन में सक्रिय तथा सीधी भागीदारी का अवसर दिया जाये, जिन पर सामाजिक जीवन आधारित होगा। यदि शर्ते कठोर हो तो यह स्पृश्यों और अस्पृश्यों दोनों के हित में होगा कि शर्तो में संशोधन किया जाये............... उनके हितों के महत्व को देखते हुये यथा प्रस्तावित उन्हें उनका प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात में मिलना चाहिये।"(3) अतः उन्होने भारत में प्रतिनिधित्व शासन और दलित समुदाय के जनसंख्या अनुसार प्रतिनिधित्वं की माँग समिति के समक्ष सुस्पष्ट ढंग से रखी।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 28 –29
2. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 31
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 38

डा0 अम्बेडकर साइमन कमीशन (भारतीय) सांविधिक आयोग के साथ:–

1919 के भारत सरकार के अधिनियम के उपबन्ध 84 में यह व्यवस्था की गई थी कि अधिनियम के पारित होने के 10 वर्ष पश्चात द्वैधशासन प्रणाली व संवैधानिक सुधारों के व्यावहारिक रूप की जाँच के लिये और उत्तरदायी सरकार की प्रगति से सम्बन्धित मामलों पर सिफारिश हेतु बिट्रिश संसद द्वारा एक आयोग की नियुक्ति की जायेगी। इस प्रावधान के अन्तर्गत ऐसे आयोग की नियुक्ति होनी चाहिये थी। लेकिन कुछ परिस्थितियों के कारण ब्रिटिश शासन ने 1927 में ही कर डाली । हाँलाकि ब्रिटिश शाासन के अनुसार इस आयोग की समय से पूर्व नियुक्ति भारतीयों की मांग व 1911 के सुधारों के प्रति असन्तोष के कारण की गयी परन्तु समय पूर्व इसकी नियुक्ति के निम्नवत कारण थे (1) प्रथम, प्रान्तीय विधान परिषदों के स्वराज दल की सक्रिय गतिविधियों, द्वितीय, जवाहरलाल व सुभाष चन्द्रबोस के नेतृत्व में, संगठित युवा आन्दोलन का शक्तिशाली रूप गृहण करना, तीसरे टोरी दल का भय कि 1929 में होने वाले आम चुनावों में श्रमिक दल विजयी न हो जाये क्योंकि भारत के प्रति श्रमिक दल का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था। अतएव सर जान साइमन की अध्यक्षता में चार सदस्यीय श्वेत अग्रेंजों का आयोग संवैधानिक सुधारों के क्रियान्वयन पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए नवम्बर 1927 को शाही आज्ञा से स्थापित किया गया। इस आयोग ने 31 मार्च 1928 व दूसरी बार 11 अक्टूबर 1928 से 13 अप्रैल 1929 तक भारत की यात्रा की। इस आयोग के प्रमुख उद्देश्य निम्नवत थे – प्रथम प्रांतों में द्वैधशासन किस प्रकार चल रहा है, प्रतिनिधि संस्थायें किस प्रकार काम कर रही हैं और क्या भारत में उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को विस्तृत किया जाये या सीमित किया जाये या अन्य कोई परिवर्तन किया जाये।"[1]

3 फरवरी 1928 को कमीशन भारत पधारा सब तरफ काले झण्डे दिखाकर 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारे लगाये गये। इन्ही दिनों के आसपास फरवरी में एक सर्वदलीय परिषद की बैठक गई जिसमें मुसलमान, ईसाई, पारसी एवं गैर ब्राह्मणों को भी आमन्त्रित किया गया। डा0 अम्बेडकर या किसी भी दलित वर्गीय दल को उसका न्योता नहीं दिया गया । इस समिति की स्थापना पर डा0 अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत भारत' समाचार पत्र में अपने विचार प्रकट

1. जगदीश चन्द्र जौहरी, राजेन्द्र पुरवार, भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ – 101 – 102

करते हुये लिखा "इसमें दलित समाज के लिये किसी भी तरह की व्यवस्था नहीं की गयी है। इसके विपरीत मुसलमानों को जरूरत से ज्यादा सहुलियते दी गयी है।"(1)

प्रत्येक प्रादेशिक विधान सभा ने साइमन के साथ काम करने के लिये अपनी–अपनी समितियां बनायी थी। बम्बई सरकार की समिति – 3–8–1928 को अम्बेडकर का चुनाव हुआ।(2) वहिष्कृत हितकारिणी की सभा की ओर से डा0 अम्बेडकर ने दिनांक 25–5–1928 को कमीशन के सामने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। एक प्रतिवेदन में उन्होने बम्बई प्रदेश में अस्पृश्यों की शिक्षा के लिये तत्कालीन शासन ने जो कार्य किये थे उसकी प्रगति की समीक्षा करते हुये शिक्षा क्षेत्र में सुधार के लिये अपने सुझाव दिये थे ।

दलित वर्ग की शिक्षा की पिछड़ी स्थिति को कमीशन के समक्ष रखा–

1854 से 1882 तक

	प्राथमिक शिक्षा 1881–82 स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
ईसाई	1521	49
ब्राह्मण	63071	20.17
अन्य हिन्दू	202345	64.69
मुस्लिम	39231	12.54
पारसी	3517	1.12
आदिम जातियां और पर्वतीय आदिवासी	2713	.87
छोटी जातियों के हिन्दू	2862	.87
यहूदी और अन्य	373	.12

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 47

2. Kusum Sharma - Dr. Ambedkar And Indian Constitution, Page No. 83

माध्यमिक शिक्षा

1881—82 तक

		मिडिल स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत	हाई स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
ईसाई		1429	12.06	111	2.26
ब्राह्मण		3639	30.70	1978	40.29
अन्य हिन्दू	कृषक	624	5.26	140	2.85
	छोटी जातियां	17	1.4	—	—
	अन्य जातियां	3823	32.25	1573	32.04
मुस्लिम		687	5.80	100	2.04
पारसी		1526	12.87	965	19.66
आदिम जातियां और पर्वतीय जातियाँ		6	.05	—	—
अन्य		103	.07	92	.86

(यहूदियों आदि सहित)

कालिज शिक्षा

1881–82

		कालेजों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
ईसाई		14	3
ब्राह्मण		241	50
अन्य हिन्दू	कृषक	5	1
	छोटी जातियां	0	0
	अन्य जातियां	103	21.3
मुस्लिम		7	1.5
पारसी		108	21.5
आदिम जातियां और पर्वतीय आदिवासी		0	0
अन्य (यहूदियों आदि सहित)		2	.04

अतएव ये आँकड़े दशार्ते कि शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दुओं की निम्नतम एवं आदिम जातियां कितनी पिछड़ी हैं।

1882–1928

प्रेसिडेंसी के लोगों की श्रेणियों	जन संख्यानुसार क्रम	शिक्षानुसार क्रम प्राथमिक	माध्यमिक	कालिज वाली
उन्नत हिन्दू	चतुर्थ	प्रथम	प्रथम	प्रथम
मध्य क्रम के हिन्दू	प्रथम	तृतीय	तृतीय	तृतीय
पिछड़े हिन्दू	द्वितीय	चतुर्थ	चतुर्थ	चतुर्थ
मुस्लिम	तृतीय	द्वितीय	द्वितीय	द्वितीय

अतः यह शैक्षिक असमानता लगातार जारी है। अतएव यदि सरकार दलित जातियों के बीच शिक्षा का प्रसार सच्चे मन से करना चाहते है, तो निम्न उपायों पर गौर करना होगा –

1. जब तक अनिवार्य शिक्षा अधिनियम को रद्द नहीं किया जाता और स्कूल बोड़ो को प्राथमिक शिक्षा का हस्तांतरण बंद नहीं किया जाता तब तक सभा को आशंका है कि दलित वर्गों की शिक्षा के हित को भारी आघात लगता रहेगा।
2. जब तक प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता को बाध्यकारी नहीं बनाया जाता और जब तक प्राथमिक स्कूलों में दाखिले के नियम का कठोरता से पालन नहीं किया जाता तब तक पिछड़ी जातियों की शैक्षिक प्रगति के लिये आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न नहीं होगी।
3. जब तक हंटर आयोग द्वारा मुसलमानों की शिक्षा के बारे में की गई सिफारिशों को दलित जातियों की शैक्षिक प्रगति के लिये भी लागू नहीं किया जाता तब तक उनकी प्रगति अधूरी ही रहेगी।
4. जब तक दलित जातियों को सरकारी नौकरियों में नहीं लिया जाता तब तक उनका शिक्षा के प्रति अनुराग नहीं बढ़ेगा।

प्रांत	कुल जनसंख्या (दस लाख में)	दलित वर्गों की जनसंख्या (दस लाख में)	कुल सीटें	दलित वर्गों के लिये सीटें
मद्रास	39.8	6.3	120	2
बम्बई	19.5	0.6	113	1
बंगाल	45.0	9.9	127	1
संयुक्त प्रान्त	47.0	10.1	120	1
पंजाब	19.5	1.7	85	—
बिहार तथा उड़ीसा	32.6	9.3	100	1
मध्य प्रान्त	12.0	3.7	72	1
असम	6.0	0.3	54	—
कुल योग	221.4	41.9	791	7

ये आँकड़े स्वयं सबूत हैं कि ब्रिटिश भारत की पूरी आबादी के पांचवे हिस्से को लगभग 800 सीटों में से सात सीटें देने का सुझाव दिया गया है ।

उन्होंने कहा कि बहिष्कृत सभा मनोनयन के सिद्धान्त का विरोध करते हुये दलित जातियों के लिये निर्वाचन के सिद्धान्त को लागू करने की मांग रखती है। निर्वाचन न केवल

उत्तरदायी सरकार की दृष्टि से सिद्धान्ततः ठीक है बल्कि राजनीतिक शिक्षा के लिये भी आवश्यक है।

दलित जातियों को कितना प्रतिनिधित्व दिया जाये जिसे पर्याप्त कहा जा सके। इस सन्दर्भ में बहिष्कृत सभा की ओर से विशेष रूप से बम्बई विधान परिषद की 140 जगहों में से 22 सीटें अस्पृश्यों के लिये सुरक्षित करने की माँग की।

बम्बई विधान परिषद का गठन

सिंध के बिना बम्बई प्रेसिडेसी के लिये

निर्वाचन क्षेत्र	कुल सीटें	दलित जातियों के लिये आरक्षित	मुसलमानों के लिये आरक्षित	मराठों और सम्बद्ध जातियों के लिये आरक्षित
1. सामान्य				
(क) शहरी –				
1. बम्बई शहर उ.	5	1	1	
2. बम्बई शहर द.	3	–	–	
3. अहमदाबाद शहर	3	1	1	जैसा अब है
4. सूरत शहर	1	–	–	
5. शोलापुर शहर	3	1	1	
6. पूना	1	–	–	
उत्तरी क्षेत्र				
7. अहमदाबाद जिला	5	1	1	
8. भड़ौच जिला	4	1	1	
9. कैरा जिला	5	1	1	जैसा अब है
10. पंचमहल जिला	4	1	1	
11. सूरत जिला	5	1	1	
12. थाणा जिला	5	1	1	

मध्य क्षेत्र				
13. अहमदनगर जिला	5	1	1	
14. खान देश पूर्वी जिला	6	1	1	
15. खान देश पश्चिमी जिला	5	1	1	जैसा अब है
16. नासिक जिला	5	1	1	
17. पूना जिला	6	1	1	
18. सतारा जिला	6	1	1	
19. शोलापुर जिला	5	1	1	
दक्षिण क्षेत्र				
20. बेलगांव	5	1	1	
21. बीजापुर	5	1	1	
22. धारवाड़	6	1	1	जैसा अब है
23. कनारा	4	1	1	
24. कोलाबा	4	1	1	
25. रत्नागिरी	6	1	1	
कुल सामान्य सीटें	112	22	22	
II विशेष				
26. श्रमिक संघ	4			
27. विश्वविद्यालय	3			
28. यूरोपियन	4			
29. मिलमालिक	2			
30. वाणिज्य	2			
31. कृषि	3			
32. इनामदार	1			
33. सरकारी	9			
कुल विशेष सीटें –	28			
कुल योग	140			

बम्बई विधान परिषद का गठन

II सिंध सहित बंबई प्रेसिडेंसी के लिये

निर्वाचन क्षेत्र	कुल सीटें	दलित जातियों के लिये आरक्षित	मराठों और सम्बद्ध जातियों के लिये आरक्षित
I गैर–मुस्लिम			
(क) शहरी			
1. बम्बई शहर उ.	5	1	
2. बम्बई शहर द.	4	–	
3. कराची शहर	1	–	
4. अहमदाबाद शहर	3	1	
5. सूरत शहर	2	–	
6. शोलापुर शहर	4	1	
7. पूना शहर	2	–	
(ख) ग्रामीण			
8. अहमदाबाद जिला	5	1	जैसा अब है
9. भड़ौच जिला	4	1	
10. कैरा जिला	4	1	
11. पंचमहाल जिला	4	1	
12. सूरत जिला	4	1	
13. थाणा जिला	4	1	
14. अहमदनगर जिला	4	1	
15. खानदेश पूर्वी जिला	5	1	
16. नासिक जिला	4	1	
17. पूना जिला	5	1	

18. सतारा जिला	5	1	
19. बेलगांव	4	1	
20. बीजापुर	4	1	
21. धारवाड़	4	1	
22. कनारा जिला	4	1	
23. रत्नागिरी जिला	5	1	जैसा अब है
24. पूर्वी सिंध जिला	2	—	
25. पश्चिमी सिंध जिला	2	—	
26. शोलापुर जिला	4	1	
27. कोलाबा	4	1	
28. खानदेश पश्चिमी जिला	4	1	
योग —	86	22	
II मुसलमान			
(क) शहरी			
29. बम्बई शहर	2		
30. कराची शहर	2		
31. अहमदाबाद	1		
32. सूरत शहर	1		
33. पूना शहर	1		
34. शोलापुर शहर	1		
(ख) ग्रामीण			
35. उत्तरी क्षेत्र	2		
36. मध्य क्षेत्र	3		
37. दक्षिणी क्षेत्र	3		
38. हैदराबाद जिला	2		
39. कराची जिला	2		

40. लरकाना जिला	2	
41. सक्खर जिला	2	
42. थार तथा पारकर जिला	2	
43. नबाव शाह जिला	2	
44. ऊपरी सिंध सीमा	2	
योग –	30	
(III) विशेष		
45. श्रमिक संघ	4	
46. विश्व विद्यालय	2	
47. यूरोपीय	4	
48. मिल मालिक	1	
49. वाणिज्य	1	
50. कृषि	1	
51. इनामदार और जागीरदार	2	
52. अधिकारी	9	
योग –	24	
कुल योग –	140	परिषद की यह कुल सदस्य संख्या रही

डा0 अम्बेडकर ने कमीशन के समक्ष दलित वर्गों को हिन्दूओं से अलग एक विशिष्ट अल्पसंख्यक के रूप में प्रस्तुत किया। जब आयोग ने पूछा कि आप दलित वर्गों के लिए संविधान में क्या व्यवस्था की जाये तो अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा – "The first thing, we must be treated as a distinct and independent minority, separate from the hindu community, there is really no link between the depressed classes and Hindu community. secondly, the depressed classes minority needs for greater political protection than any other minority in British India for the simple reason that it is educationally very backward, economically poor, socially enslaved and suffers from certain grave political disabilities from which no other community suffers therefore, as a matter of demand for political protection, depressed claases claim representation on the same basis as the mohammadan minority". [1]

1. Kusum Sharma, Ambedkar and Indian Constitution, Page No. - 90 - 91

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर ने साइमन कमीशन के समक्ष दलित वर्गों की दयनीय स्थिति को रखकर संवैधानिक अधिकारों की मांग की । उनहोंने स्पष्ट कहा कि लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना एवं संवैधानिक सुधारों का मूलमन्त्र यही है "निश्चय ही सुधार की किसी योजना का पहला बुनियादी उसूल यह होता है कि आबादी के मूक विशाल जन समूह के उत्तम प्रशासन के लिये पर्याप्त रक्षोपायों की व्यवस्था की जाये।[1]

डा0 अम्बेडकर गोलमेज सम्मेलन में :—

1929 में इंग्लैण्ड के रैम्जे मैक्डोनाल्ड के नेतृत्व में श्रमिक दल की सरकार के सत्ताग्रहण करने के बाद ब्रिटिश दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया । बर्किन हैंड के स्थान पर बैजूबुड बैन को भारतमंत्री बनाया गया तथा वायसराय को इरविन को महत्वपूर्ण परामर्श के लिये इग्लैण्ड बुलाया गया। अंग्रेजी शासन कांग्रेस की इस मांग के प्रति सजग हो गया कि नेहरू प्रतिवेदन न मानने पर पूर्ण स्वाधीनता के लिये कोशिश की जायेगी, जिस तरह भारत में साइमन आयोग का बहिष्कार किया गया फिर लाला लाजपतराय का बदला लिया गया व केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में भगतसिंह व उनके साथियों द्वारा बम फेंका गया, इन सब घटनाओं ने ब्रिटिश शासन को गोलमेज सम्मेलन बुलाने पर बाध्य किया । 12 नवम्बर 1923 को इस सम्मेलन का आरम्भ हुआ। पहली गोलमेज परिषद के लिये डा0 अम्बेडकर को अस्पृश्यों के प्रतिनिधि के रूप में मनोनीत किया।

परिषद की सामान्य सभा में 17 से 21 नवम्बर तक सप्रे, जयकर, डा0 मुजे मुहम्मद अली जिन्ना, बीकानेर नरेश तथा डा0 अम्बेडकर के भाषण हुये। डा0 अम्बेडकर ने अपने भाषण में दलित वर्ग की स्थिति, अंग्रेजों का विश्वासघात, औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रति अपना रूख प्रस्तुत किया उन्होने स्पष्ट शब्दों में कहा "सभापति महोदय, मैं इस सभा में संवैधानिक सुधारों के प्रश्न पर उन दलित वर्गो का पक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनका मुझे और मेरे सहयोगी राव बहादुर श्री निवासन को प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह ब्रिटिश भारत की 430 लाख जनता अथवा 1/5 जनसंख्या का पक्ष है। यह जनसंख्या इंग्लैण्ड या फ्रांस की जनसंख्या के बराबर है............... यद्यपि उन्हें हिन्दू कहा जाता है किन्तु वे हिन्दू जाति का किसी भी अर्थ में

---

1. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 4, पृष्ठ – 166

अविभाज्य अंग नहीं है । वे उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हे जो दर्जा प्राप्त है, वह भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से विल्कुल भिन्न है। भारत में अनेक जातियां अत्यन्त दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही है। किन्तु दलित वर्गों की स्थिति भिन्न है । .... दलित वर्ग अस्पृश्यता का शिकार है। अस्पृश्यता के कारण उन पर लादी गयी गुलामी से न केवल सार्वजनिक जीवन में भेद–भाव बरता जाता है बल्कि उन्हें समान अवसरों और मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है।

12 नवम्बर 1930 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड की अध्यक्षता में गोलमेज परिषद प्रारम्भ हुई। प्राथमिक चर्चा के तौर पर नेताओं के जो भाषण हुये, उनमें सबसे अधिक मर्मस्पर्शी तथा सबका ध्यान आकर्षित करने वाला भाषण डा0 अम्बेडकर का था। आप बोले – "मैं जिन अछूतों के प्रतिनिधि की हैसियत से यहाँ खड़ा हूँ, उनकी संख्या हिन्दुस्तान की जनसंख्या का पांचवां भाग है – अर्थात् इंग्लैण्ड या फ्रांस की जनसंख्या के बराबर है । परन्तु मेरे उन अछूत भाइयों की स्थिति गुलामों से भी बद्तर है। गुलामों के मालिक उनको छूते थे परन्तु हमें छूना भी पाप समझा जाता है। ब्रिटिश राज्य से पहले अस्पृश्यता के कारण हम घृणित अवस्था में थे क्या ब्रिटिश सरकार ने हमारी हालत सुधारने के लिये कुछ किया ? पहले हम गांव के कुयें से पानी भर नहीं सकते थे। क्या ब्रिटिश सरकार हमें पुलिस दल में शामिल करती है ? पहले हम सैनिक सेवा नहीं कर सकते थे। क्या आज हमारे लिये सेना के दरवाजे खुले है ? इन प्रश्नों में से किसी का भी उत्तर 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता । कुछ सौ वर्ष के ब्रिटिश राज्य में हमारी हालत "जैसी थी वैसी" ही रही है।[1]

डा0 अम्बेडकर ने अपने भाषण में औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग का समर्थन किया, परन्तु ऊँच–नीच के भेदभाव पूर्ण हिन्दू समाज पद्धति का उल्लेख करके कहा कि ऐसी अवस्था में एक विशिष्ट प्रकार के विधान की जरूरत है जिससे प्रतिकूल परिस्थिति में भी अछूत समाज उन्नति कर सके।

डा0 अम्बेडकर के भाषण से सभी प्रभावान्वित हुये। उनके भाषण में वेदना थी, जोश था, परिस्थिति की स्पष्ट विवेचना थी, ब्रिटिश सरकार की निर्भीक आलोचना थी, अछूतों के अधिकारों का प्रतिपादन था और देश की स्वतन्त्रता का समर्थन था।

---

1. विजय कुमार, पुजारी, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 79

डा0 अम्बेडकर ने बैठक में दलित वर्गों के लिये राजनीतिक सत्ता में साझेदारी की आवश्यकता पर बल देते हुये कहा हमें बार–बार याद दिलाया जाता है कि दलित वर्गो की समस्या एक सामाजिक समस्या है और उसका समाधान राजनीति में नहीं है जब तक हमारे हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं आ जाती हमारी समस्या का समाधान नहीं हो सकता । उन्होने कहा कि दलित वर्ग भारत के लिये सुरक्षोपायों सहित डोमिनयन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज्य) चाहते हैं।[1] उन्होनें अपना विश्वास दोहराया ''हमारे अतिरिक्त हमारे दुख–दर्द को कोई भी दूर नहीं सकता और जब तक राजनीतिक शक्ति हमारे हाथों में नहीं आती हम भी उसे दूर नहीं सकते।''[2]

दलित वर्ग भारत के लिये सुरक्षोपायों (संरक्षणों) सहित औपनिवेशिक स्वराज्य का समर्थन करता हैं।

डा0 अम्बेडकर ने दिनांक 31.12.1930 को अल्पसंख्यकों की समिति के समक्ष दलित वर्ग की स्थिति और भारत की भावी संविधान में राजनीति सुरक्षा हेतु उन्होने राव बहादुर और निवासन के साथ मिलकर लिखित विज्ञापन दिया।

स्वाधीन भारत के भावी संविधान में दलित वर्गों की सुरक्षा के लिये कुछ राजनीतिक उपाय– [3]

स्वाधीन भारत में बहुसंख्यक शासन को स्वीकार करने के लिये दलित वर्ग की शर्तें–

शर्त – 1

समान नागरिकता :–

बहुसंख्यक शासन लागू होने से पहले दलित वर्ग के लोगों को अन्य नागरिकों के समान सभी अधिकार मिलने चाहिये। अस्पृश्यता समाप्त करने और समान नागरिकता के लिये सभी नागरिक को समान मूल अधिकार मिलने चाहिये।

शर्त– 2

समान अधिकारों का स्वतन्त्र उपयोग :–

यह असंदिग्ध है कि दलितों को समाज की रूढ़िवादी ताकतें समान नागरिकता के

1. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड – 5, पृष्ठ – 18
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 17
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 63 – 71

अधिकार का उपयोग नहीं करने देगी। रूढ़िवादियों के पास सबसे खतरनाक थियार दलितों का सामाजिक बहिष्कार है। दलितों का मानना है कि सामाजिक बहिष्कार की कुरीति से तभी मुक्ति मिलेगी जब इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये । अतः भारत सरकार के अधिनियम 1919 भाग 11 में निम्नांकित धारा को जोड़ा जाये।

I. बहिष्कार के अपराध की परिभाषा

(क) यदि व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को जमीन मकान किराये या पट्टे पर देने पर मना करता है जिसे सामान्य परिस्थितियों में करता है, तो इसे बहिष्कार माना जायेगा।

(ख) समाज में प्रचलित ऐसे सामाजिक, व्यवहारिक अथवा व्यापारिक सम्बन्ध रखने से जो संविधान में दर्ज मौलिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं करते, आपत्ति व्यक्त करता है अथवा

(ग) दूसरे व्यक्ति के विधिक अधिकारों के उपयोग में बाधायें खड़ी करता है, रोकने या हस्तक्षेप करता है।

II. बहिष्कार के लिये दण्ड सात साल की कैद अथवा जुर्माना या दोनों दण्ड दिये जायेगें।

III. बहिष्कार के लिये उकसाने अथवा प्रोत्साहित करने के लिये दण्ड पांच वर्ष की कैद अथवा जुर्माना या दोनों से दंडित किया जाये।

IV. बहिष्कार की धमकी के लिये दण्ड पांच वर्ष का कारावास अथवा जुर्माना या दोनों।

अपवाद :– निम्नाकिंत कार्य बहिष्कार नहीं माने जायेंगे –

1. श्रमिक विवादों के मामले में
2. सामान्य व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा

शर्त– 3

भेदभाव के खिलाफ संरक्षण :–

अतः कानूनी रूप से ऐसे उपाय किये जाये ताकि विधान मंण्डल या कार्यपलिकाओ के लिये भेदभाव वाले कानून बनाना असम्भव हो जाये। संविधान में निम्न चीजें दर्ज होनी चाहिये –

1. संविदा का अधिकार और अनुपालन का अधिकार मुकदमा दायर करने, पक्ष बनने, साक्ष्य देने .... निजी सम्पत्ति का अधिकार ।

2. नागरिक, सैनिक सेवाओं, शिक्षण संस्थाओं में भर्ती का अधिकार, सरकार विभिन्न वर्ग को प्रतिनिधित्व देने के लिये शर्ते या प्रतिबन्ध लगा सकती है।
3. सार्वजनिक सुविधाओं, शिक्षण संस्थाओं, नदियों, सार्वजनिक वाहनों आदि का अन्य नागरिकों की भांति समान रूप से इस्तेमाल का अधिकार।
4. नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिये बने कानूनों और कानूनी प्रक्रियाओं का अन्य नागरिकों की तरह समान लाभ उठाने का अधिकार।

शर्त – 4

विधानमण्डल समुचित प्रतिनिधित्व :–

1. प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान मण्डलों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व का अधिकार
2. अपने ही लोगों को अपना प्रतिनिधि- चुनने का अधिकार

   (क) व्यस्क मताधिकार (ख) शुरू के 10 वर्ष के लिये पृथक निर्वाचक मण्डलों द्वारा और उसके बाद संयुक्त निर्वाचक मण्डलो और आरक्षित सीटों द्वारा।

शर्त – 5

नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व :–

नौकरियों में भर्ती की ऐसी पद्धति अपनायी जाये ताकि दलित समेत समाज के अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के लोग भी उचित हिस्सा पा सके। अतः संविधान में निम्नाकित चीजें जोड़ी जाये –

1. लोक सेवा आयोग का गठन।
2. लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य को विधान मण्डल में पारित प्रस्ताव करके ही हटाया जा सकेगा। सेवा निवृत्त के बाद किसी सरकारी पद पर नियुक्ति नहीं।
3. आयोग भर्ती इस तरह करे कि सभी समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व मिले।

शर्त – 6

पक्षपात अथवा हितों की अनदेखी के निराकरण के लिये संविधान में व्यवस्था हो :–

क. भारत और उसके सभी प्रान्तों के विधान मण्डल कार्यपालिकाओं और कानूनी मान्यता प्राप्त अन्य संस्थाओं की यह जिम्मेदारी होगी कि वे शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, नौकरियों में भर्ती व दलितों के राजनीतिक, सामाजिक उत्थान से सम्बद्ध अन्य मामलों मे दलितों की भेदभाव रहित भागेदारी के प्रावधान बनाये ।

ख. इस धारा के उल्लंघन होने पर दलितों को प्रान्तीय अधिकारी के खिलाफ गवर्नर जनरल इनकाउसिंल के यहाँ अपील का अधिकार होगा और केन्द्रीय अधिकारी के खिलाफ भारत मंत्री से अपील कर सकता है।

ग. यदि भारत मन्त्री व गवर्नर जनरल इनकाउसिल को लगे के इस धारा को ठीक लागू नहीं किया गया तो वह इस मामले में आदेश जारी कर सकते है।

शर्त – 7

विशेष विभागीय देखभाल :–

यह देखना सरकार की जिम्मेदारी होगी कि दलित भी औरों की तरह अपने अधिकारों का स्वतन्त्र उपयोग कर रहा है या नहीं। जो भी बाधायें है, उन्हें दूर करना, सरकार का काम है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये दलित चाहते है कि सरकार में एक अलग विभाग बनाया जाये।

भारत सरकार पर ऐसा विभाग बनाने की कानूनी जिम्मेदारी डालने क लिये भारत सरकार अधिनियम में निम्नलिखित धारा जोड़ी जायें –

1. नये संविधान के लागू होने के साथ ही भारत सरकार में दलितों के हितों की रक्षा ओर उनके उत्थान के लिये एक अलग विभाग बनाया जाये जिसका प्रमुख मंत्री हो।
2. मंन्त्री इस विभाग का कामकाज तब तक देखेगा, जब तक कि उसे केन्द्रीय मंडल का विश्वास प्राप्त हैं।
3. मन्त्री का काम यह देखना होगा कि पूरे भारत में कहीं भी दलितों के साथ सामाजिक अन्याय, उनका शोषण, उत्पीड़न न होने पाये ।
4. गवर्नर जनरल को कानूनी रूप में निम्नाकिंत अधिकार होगें–

क. दलितों के कल्याण के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि से सम्बद्ध किसी अधिनियम के तहत प्राप्त अधिकारों, जिम्मेदारियों को वह पूरी तरह या आंशिक रूप से मंत्री को सौंप सकता है।

ख. प्रत्येक प्रान्त मे "दलित वर्ग कल्याण ब्यूरो" बना सकता।

शर्त– 8

दलित वर्ग और मन्त्रिमण्डल :–

नीति–निर्धारण हिस्सेदारी के लिये अन्य अल्पसंख्यकों की तरह दलितों का भी मन्त्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व होना चाहिये।

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर ने प्रथम गोलमेज परिषद में हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के अन्याय और अत्याचार की ओर विश्व समुदाय का ध्यान आकर्षित किया वहीं सुस्पष्ट ढंग से दलित समुदाय के समान नागरिक अधिकारों एवम सत्ता में भागीदारी की मांग रखी।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन

दूसरी गोलमेज सम्मेलन हेतु जुलाई 1931 में सदस्यों के नाम की घोषणा हुई। महात्मा गाँधी, जिन्ना साहब, वैरिस्टर सप्रे इत्यादि सदस्यों के साथ ही डा0 अम्बेडकर को आमन्त्रित किया गया। इस बार उन्हें फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी के सदस्य के रूप में समाविष्ट किया गया। भारतीय सविंधान का मसौदा तैयार करने का काम इस सरंचना समिति में अपना पहला भाषण 16–9–1931 को दिया। भाषण में उन्होंने यह कहा कि 'काग्रेस देश के हिन्दू–मुसलमान, अस्पृश्य तथा रियासतों की प्रजा आदि सबका प्रतिनिधित्व करती है। चूँकि वे कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में आये है। इसलिये वे देश के सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व करते है। डा0 अम्बेडकर गाँधी जी के भाषण का रूख तुरन्त भाँप गये। उसी दिन दोपहर को भाषण देते हुये अम्बेडकर में चेतावनी दी "इन रियासत वालो की माँगे हम मजूंर नहीं करेंगे । इस रियासतों के हुकुमरानों को यह गारन्टी देनी होगी कि वे सर्वसाधारण जनता को सभ्य और सुसस्कृत जीवन जीने के लिये जरूरी जरूरतों को पूरा करेंगे। साथ ही रियासतों में चुनावों द्वारा जनता के प्रतिनिधियों को स्थान देना चाहिये। नामजद करने का तरीका एक जिम्मेदार सरकार के उसूलों के खिलाफ है।"[1]

1. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 68

गाँधी जी ने कहा "काग्रेस अछूतों की भलाई के लिये सब कुछ कर रही है, इसलिये अछूतों को विशेष प्रतिनिधित्व देने की योजना के प्रति मेरा कट्टर विरोध होगा।"[1] 18 सितम्बर को डा0 अम्बेडकर ने गाँधी जी से सवाल किया कि 16 सितम्बर को कहे गये विचार उनके विचार निजी है या काग्रेंस के । मताधिकार उपसमिति के सामने भाषण देते हुये उन्होने कहा, "मेरी राय में बस दो प्रश्नों पर ही इस गोलमेज सम्मेलन में मत्रणा आवश्यक है। क्या भारत को उत्तरदायी शासन प्रणाली दी जाये ? यदि दी जाये तो शासन किसके प्रति उत्तरदायी रहेगा ? जबाव देही की सरकार का अधिकार माँगने वाले कुछ लोग समस्त भारतीयों को मताधिकार देने के लिये तैयार नही। यह सुनकर के बहुत हैरान हूँ। उनका स्पष्ट मत था कि धन दौलत या लिखाई पढ़ाई के अभाव के कारण किसी भारतवासी को सरकार का चुनाव करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। यदि वयस्क मताधिकार नहीं मिल रहा हो तो भारतीय प्रतिनिधियों से आह्वान किया कि वे औपनिवेशिक स्वराज्य वर्ग की भी माँग न करे और परिषद की बैठक से बर्हिगमन करें।

सम्मेलन में संघीय न्यायपालिका के गठन, केन्द्र पर संघीय ढ़ाँचा, प्रान्तों में उत्तरदायी स्वायत्त शासन की व्यवस्था, संघीय विधानमण्डल का गठन, भारतीय रियासतों के प्रवेश से सम्बन्धित कुछ बातों को तय कर लिया गया परन्तु साम्प्रदायिक समस्या पर कोई हल नहीं निकाला जा सका। सरकार ने भी जानबूझकर साम्प्रदायिक समस्या को बढ़ावा दिया।[2] सम्मेलन को स्थगित करते हुये कहा गया कि सम्मेलन के प्रतिनिधि साम्प्रदायिक समस्या को हल करने में असमर्थ रहे। फिर भी ब्रिटिश शासन इसे प्रगति के मार्ग में अवरोध नहीं बनने देगा। अतः सम्राट की केवल प्रतिनिधित्व की समस्या ही नहीं वरन् अल्पसंख्यकों को प्रजातन्त्रीय सिद्वान्त के नाम पर आततायी शक्ति से रक्षा हेतु संविधान में अवशेष सन्तुलन की यथासम्भव उचित व्यवस्था करेंगा।"[3]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 69
2. जौहरी एवं पुरवार, – भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ – 108
3. Indian Annual Register, Vol. II, 193 I, Page No. 446

कम्युनल एवार्ड, गाँधी जी से मतभेद :–

महात्मा गाँधी और अम्बेडकर की पहली भेंट प्रथम गोलमेज सम्मेलन के बाद 14 अगस्त 1931 को हुई। गाँधी जी लन्दन के गोलमेज सम्मेलन में व्यक्त डा0 अम्बेडकर के विचारों को सुन चुके थे। भेंट के समय गाँधी जी ने डा0 अम्बेडकर से पूछा डा0 आप क्या कहना चाहते हैं। डा0 अम्बेडकर ने कहा आपने अपने विचार बताने के लिये बुलाया, आप बताइये या कोई प्रश्न पूछिये मै उत्तर दूँगा। गाँधी जी ने कहा "मै समझता हूँ कि तुम्हे मुझमे और काग्रेस से शिकायते है। में तुमको बता देना चाहता हूँ मै अछूतों की समस्याओं के सम्बन्ध में स्कूल के दिनों से सोचना हूँ। जबकि आप उस समय उत्पन्न भी नहीं हुये थे।......................कांग्रेस नेता तुम्हारे कार्यक्रम का विरोध इसलिये करते है वह धार्मिक और सामाजिक प्रश्न है, उसको राजनीति से नहीं जोड़ा जाना चाहिये...............कांग्रेस दलित वर्ग को उठाने के लिये दस लाख रूपये व्यय कर चुकी है।"[1]

डा0 अम्बेडकर ने शान्तिपूर्वक गाँधी जी को जबाव दिया महात्मा जी, यह ठीक है कि मेरे जन्म से पहले ही अपने अछूतों की समस्याओं पर सोचना प्रारम्भ कर दिया था। सभी पुराने और वयोवृद्ध लोग अपनी आयु पर बल देते है । यह ठीक है कि काग्रेंस ने आपके बल देने पर इस समस्या को मान्यता देने के अलावा कुछ नहीं किया..................काग्रेंस जो कहती है उसके प्रति वफादार नहीं है। यदि काग्रेस अछूतों के प्रति सच्ची होती तो वह काग्रेस का सदस्य बनने के लिये खद्दर पहनने की शर्त की भाँति छुआछूत दूर करने की शर्त लगा देती।"[2]

बातचीत के दौरान दलितों के राजनीतिक अधिकारों की बात को दोहराते हुये कहा "सभी जानते है कि सिख और मुसलमान अछूतों से सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से उन्नत है। गोलमेज सम्मेलन के पहले अधिवेशन में मुसलमानों को मान्यता दे दी है और उनके लिये राजनैतिक सुरक्षा की सिफारिश कर दी है। उस अधिवेशन में दलित वर्गो के राजनैतिक अधिकारों को भी मान्यता दे दी और उनके लिये राजनैतिक सरक्षंण और पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की सिफारिश भी कर दी है.......................आपका क्या विचार है।[3]

---

1. राजेन्द्र भटनागर – डा0 अम्बेडकर जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 70
2. अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 56
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 56

गाँधी जी ने कहा कि–''मै हिन्दुओं से सम्पृक्त अछूतों के लिये राजनीतिक विभक्तीकरण के विरूद्ध हूँ, यह पूर्णतया आत्महत्या जैसा होगा।''(1)

अम्बेडकर ने कहा अच्छा हुआ हमें यह महत्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में पता लग गया कि हम कहाँ खड़े है। अछूतों की हालत तो वैसी ही हुई थी कि इधर माँ खाने की रोटी नहीं देती और उधार बाप भीख भी मॉगने नहीं देता। यदि अछूतों के लिये अलग चुनाव की मांग करने से डा0 अम्बेडकर को देशद्रोही कहा गया, तो उस समाज–पद्धति को ही देश द्रोही क्यों न माना जाय, जिसने सदियों से इस देश में करोड़ो अछूतों को 'स्वराज्य' का कभी अनुभव ही नहीं करने दिया। डा0 अम्बेडकर का यह कहना कि मेरी मातृभूमि नहीं है, गलत नहीं था।(2) इस समस्या का एक दूसरा भी पहलू है। अछूत समाज मुसलमानों से अधिक पिछड़ा हुआ था और वह हिन्दू समाज से मुसलमानों से भी अधिक दूर था। मुसलमानों के अलग प्रतिनिधित्व तथा अलग निर्वाचक संघ को सरकार पहले ही स्वीकार कर चुकी थी। 1916 के 'लखनऊ–पैक्ट' से काग्रेंस ने मुसलमानों के अलग प्रतिनिधित्व को स्वीकार करके उस पर अपनी 'राष्ट्रीय' मुहर लगा दी थी। ऐसी परिस्थिति में हिन्दूओं के अछूतों के प्रति कठोर रूख के कारण डा0 अम्बेडकर ने अछूतों के लिये अलग प्रतिनिधित्व की मांग कर दी। यदि यह देशद्रोह था, तो कहना पड़ेगा कि इस देशद्रोह में सरकार , मुस्लिम लीग, काग्रेस, हिन्दू सभी शामिल थे। सयुक्त चुनाव के समर्थक डा0 अम्बेडकर को अस्पृश्यता के समर्थक हिन्दू समाज ने मजबूर कर दिया था कि वह अलग चुनाव की मांग करें।(3)

दूसरे गोलमेज सम्मेलन न अल्पसंख्यक उपसमिति में लोग एक मत नही हो सके थे डा0 अम्बेडकर ने दलितों के लिये पृथक निर्वाचन तथा डबल वोट का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था।(4)

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक समिति के प्रतिनिधि साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नही निकाल सके। अतएव द्वितीय गोलमेज सम्मेलन बिना किसी निर्णय के समाप्त हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने पहले से ही इस साम्प्रदायिक समस्या

---

1. राजेन्द्र भटनागर, डा0 अम्बेडकर जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 71
2. विजय कुमार पुजारी – डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 82
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 82
4. अंगनेलाल, बोधिसत्व डा0 भीमराव अम्बेडकर, पृष्ठ – 56

को उलझाने का निर्णय कर लिया था। परिणामस्वरूप 16 अगस्त 1932 को प्रधानमन्त्री मैकडोनाल्ड ने अपने साम्प्रदायिक परिनिर्णय (Communal Award) ने नाम से जाना जाता है।

साम्प्रदायिक परिनिर्णय के अनुसार ''मुसलमानों, यूरोपियन व सिक्खों को पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। बम्बई के सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में कुछ स्थान मराठाओं के लिये आरक्षित किये गये। हरिजनों को अल्पसंख्यक मानकर उन्हें हिन्दुओं से अलग कर दिया गया और निर्वाचन क्षेत्रों से अपने प्रतिनिधि ा चुनने का अधिकार दिया गया। साम्प्रदायिक परिनिर्णय के प्रावधानों से मुस्लिम लीग सन्तुष्ट हुई, परन्तु गाँधी जी हरिजनों को हिन्दुओं से अलग किये जाने के कारण बहुत दुःखी हुये। प्रतिरोध करने के लिये उन्होने यरवदा जेल में आमरण अनशन कर दिया। प0 मदनमोहन मालवीय ने अनशन कर रहे महात्मा गाँधी के जीवन रक्षा के लिये डा0बी0आर0 अम्बेडकर डा0 राजेन्द्र प्रसाद, एम0सी0 राजा व राजगोपालाचार्य आदि प्रमुख नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। 19–24 सितम्बर 1932 के मध्य होने वाली वार्ता के परिणामस्वरूप पूना समझौता सम्भव हुआ जिसे ब्रिटिश सरकार ने मान लिया। पूना समझौते द्वारा हरिजनों का पृथक प्रतिनिधित्व समाप्त कर दिया गया व हरिजनों के लिये निम्न विशेष व्यवस्थायें की गयी–

1– हरिजनों को साम्प्रदायिक परिनिर्णय द्वारा 71 स्थान दिये गये थे, परन्तु अब उनके लिये प्रान्तीय विधान परिषदों में 148 स्थान सुरक्षित कर दिये गये।

2– केन्द्रीय विधानमण्डल में भी हरिजनों के 18 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये।

3– यह व्यवस्था की गई कि सुरक्षित स्थानों के लिये चुनाव दो भागों में होगा – प्राथमिक निर्वाचन में हरिजन ही सुरक्षित स्थान के लिये चार प्रत्याशी चुनेंगे। दूसरे दौर में हरिजन व सवर्ण हिन्दू मिलकर उनमें से एक का चुनाव करेंगे।

4– हरिजनों को स्थानीय संस्थाओं व सार्वजनिक सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व दिया जायेगा।

5– हरिजनों को यह विशेष व्यवस्था 10 वर्षो के लिये दी जायेगी।

इन प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक परिनिर्णय की अपेक्षा पूना समझौते से हरिजनों को अधिक लाभ हुआ। इसका महत्व अस्पृश्यता आन्दोलन को जन्म देने से अधिक आंका जा सकता है। प्रो0 कीथ के अनुसार, ''यह समझौता हरिजनों के लिये स्पष्ट रूप से

मौलिक लाभ और गाँधीजी के लिये निःसन्देह आध्यात्मिक लाभ के रूप में था।"[1]

1935 के भारत शासन अधिनियम के लिये बनी संयुक्त समिति के सदस्य के रूप में डा० अम्बेडकर :—

तीनों गोलमेज सम्मेलनों के निष्कर्ष के रूप में मार्च 1933 में ब्रिट्रिश संसद में एक श्वेत पत्र (White paper) प्रस्तुत किया गया जिसमें भारत के भावी संविधान की रूप रेखा दी गयी। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इस श्वेत पत्र की सिफारिशों का विरोध किया। "Indians viewed the white paper most unfavourably. The congress disapproved the 'white paper' because it considered it a complete negotion of Indian national demands. Liberals were extremely dissatisfied too . Its franchise provisions were pre-eminently pro-muslim and highy unjust for the Hindus . Jinnah dubbed it a white hall rule . The self-government which it proposed to initiate in India was the shadaw and not the substance of self government. "Defence, external affair and finance are there vital sactions and test of a good self-governmet a state functioning without the substance of these sanctions has but the shadow not the substance of self-government."[2] भारत के सभी वर्गो के विरोध के बाबजूद श्वेत पत्र पर विचार करने, उसकी जाँच करने, वे उसे विधेयक का रूप देने के लिये लार्ड लिन्लिनथगो की अध्यक्षता में ब्रिट्रिश भारत व भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों को विशेषज्ञ गवाह के रूप में समिति के समक्ष प्रस्तुत होने का आमंत्रण भी दिया गया। इस समिति में अम्बेडकर भी शामिल थे। [3]

लंदन में संयुक्त समिति के सम्मेलन में भाषण करते हुये डा० अम्बेडकर ने कहा "अस्पृश्य हिन्दुओं के अमानवीय व्यवहार से निराश होकर मैने स्वतंत्र मतदार संघ की मांग रखी थी। यदि हिन्दू अपनी समाज व्यवस्था को बदलकर एक संघ बनाना चाहे तो इसमें हम अवश्य ही सहयोग देंगे।" [4]

संयुक्त समिति का कार्यारंभ 3 अक्टूबर से हुआ। 23—24 अक्टूबर को सर विन्स्टल

---

1. जे० सी० जौहरी, राजेन्द्र पुरवार — भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ — 111
2. Kusum Sharma, Dr. Ambedkar & the Indian Constitution, Page No. 160
3. जे० सी० जौहरी, राजेन्द्र पुरवार — भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ — 111
4. बसन्तमून, डा० बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ — 82

चर्चिल के साथ हुई बहस में डा0 अम्बेडकर ने पालियामेन्ट में दिये गये उनके एक भाषण पर उनकी कड़ी आलोचना की। सेक्रेटरी आफ स्टेट के साथ हुई बहस में डा0 अम्बेडकर ने उनसे श्वेतपत्र पर संवैधानिक मामलों में संवैधानिक बारीकियों के बारे में सवाल कर उस श्वेत पत्र में बहुत सी खामियों की ओर दिलाया। इस पर अचरज करते हुये सेक्रेटरी आफ स्टेट ने कहा ''डा0 अम्बेडकर की सूक्ष्म बुद्धि ही श्वेत पत्र की इन त्रुटियों को निकाल सकी है।''[1] इसी अवसर पर डा0 अम्बेडकर ने अपराधशील जनजातियों को संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से कुछ उपाय भी सुझाये थे।

8 जनवरी को जब डा0 अम्बेडकर मुम्बई लौटे तो उनके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी। पत्रकारों को दी गई मुलाकात में उन्होंने कहा, ''प्राप्त सुधारों को स्वीकार कर हमें अधि क पाने के लिये संघर्ष करना चाहिये।''[2]

अगस्त प्रस्ताव 1940 :–

अब तक हुये संवैधानिक सुधारों के सामने साम्प्रदायिक समस्या एक बाधा बनकर उभरी थी। अम्बेडकर ने वायसराय लिनलिथनगो के साथ हुई मुलाकात में यह तथ्य प्रस्तुत किया कि – "भारत के संवैधानिक विकास की प्रक्रिया में अछूतों के हितों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है।"[3] जुलाई 1940 में कांग्रेस ने युद्धकाल में दो शर्तों के साथ सरकार को समर्थन प्रस्तुत किया – (1) सरकार को स्वीकारना होगा कि भारतीयों का अन्तिम ध्येय, पूर्ण स्वराज्य है । (2) केन्द्र में तुरन्त एक अस्थायी सरकार स्थापित करे। इसी बीच चर्चिल 1940 में इग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बने। अटलांटिक चार्टर में निहित स्वशासन का नियम भारत में लागू नहीं किया जा सकता। वायसराय ने अगस्त 1940 के अगस्त प्रस्ताव की घोषणा में भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिये निम्न सुझाव दिये – [4]

(1) युद्ध की समाप्ति पर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न तत्वों के प्रतिनिधियों की एक सभा आमंत्रित की जाये, जो नये संविधान की रूप रेखा का निर्माण करे। (2) वायसराय की कार्यकारिणी परिषद

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 83
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 83
3. Kusum Sharma, Dr. Ambedkar & the Indian Constitution, Page No. 182
4. जे0 सी0 जौहरी, राजेन्द्र पुरवार – भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ – 145

में भारतीय प्रतिनिधियों को शामिल होने के लिये आमंत्रित किया जायेगा। युद्ध सम्बन्धी विषयों पर परामर्श के लिये "युद्ध परामर्श समिति" बनाई जायेगी। इस समिति में भारतीय रियासतों और राष्ट्रीय हितों के अन्य प्रतिनिधि भी शामिल होंगे। (3) युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार शान्ति व व्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी ऐसे दल को नहीं देगी जिसे राष्ट्रीय जीवन के एक विशाल व महत्वपूर्ण भाग का समर्थन प्राप्त न हो और न ही वे ऐसी किसी भी सरकार में शामिल होने के लिए किसी वर्ग को बाध्य करेगी । (4) घोषणा में यह आशा प्रकट की गई कि अंतरिम काल में समस्त दल युद्ध में सरकार का सहयोग करेंगे।

अगस्त प्रस्ताव ब्रिटिश शासन के लिये असफल प्रयास सिंद्ध हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने ठुकरा दिया। अम्बेडकर ने इसे स्वीकारने की इच्छा जाहिर की थी।[1] क्योंकि अगस्त प्रस्ताव में इस बात का विश्वास दिलाया गया था कि वर्तमान संविधान में यदि कोई परिवर्तन किया जाता है तो अछूत जातियों के हित से सम्बन्धित उनके विचारों को पूर्ण स्थान दिया जायेगा।।''[2]

क्रिप्स मिशन 1942 :-

स्टेफर्ड क्रिप्स मिशन 1942 मार्च में भारत आया था। इस शिष्ट मंडल ने कांग्रेस, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों से चर्चा की। एम.सी. राजा के साथ डा0 अम्बेडकर ने 30 मार्च को शिष्टमंडल से भेंट की। क्रिप्स मिशन की योजनानुसार दूसरा महायुद्ध समाप्त होते ही संविधान समिति बनने बाली थी। मगर कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तीनों संस्थाओं ने इसे क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया। अम्बेडकर और उनके सहयोगियों ने आपस में चर्चा करके अपने विचार क्रिटस को सूचित् किये। उन्होंने अपने निवेदन में स्पष्ट किया कि यह योजना अस्पृश्य समाज के हाथ–पैर जकड़कर उसे हिन्दू शासकों को सौपने का प्रयास है। यदि उनकी सम्मति लिये बिना उन पर कोई योजना थोपी गई तो यह उनके साथ सरासर विश्वासघात होगा। उनकी यह निश्चित धारणा ब्रिटिश सरकार तक पहुँचा दी जाये।[3]

---

1. V. P. S. Menon - The Transfer of Power In India, Page No. - 95
2. Kusum Sharma - Dr. Ambedkar and the Indian Constitution, Page No. - 182
3. बसन्तमून – डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 123

वेवेल योजना 1945 :–

14 जून 1945 को वायसराय लार्ड वेवल ने भारतीय राजनीतिक गतिरोधों को दूर करने के लिये, किन्तु वास्तव में जापान के विरूद्ध युद्ध में भारतीय जनता से सहयोग की आंकाक्षा के कारण, एक योजना प्रस्तुत की जिसे वेवेल योजना कहते है। इस योजना का मुख्य लक्ष्य भारतीय राजनीतिक गतिरोध को दूर करना तथा भारत को स्वशासन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना था। इस योजना पर विचार करने के लिये सभी दलीय नेताओं का सम्मेलन 25 जून को शिमला में करने का निर्णय लिया गया। सम्मेलन में अछूतों के प्रतिनिधित्व हेतु डा0 अम्बेडकर का नाम तय किया गया। परन्तु वह उस समय वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य थे अतएव वह शामिल नही हो पाये उन्होने अपनी ओर से रायबहादुर शिवराज को सम्मेलन में भेजा। वहाँ अछूतों के हित में माँग रखी गयी ''यदि मुस्लिमों के पास पाँच सीट है तो उनके पास तीन होनी चाहिये।''[1] यह भी जोर देकर कहा गया कि अल्पसंख्यकों को जनसंख्या के आधार प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।[2]

अम्बेडकर ने शिकायत रखी कि उनके समुदाय की लम्बे समय से उपेक्षा होती रही है, परन्तु आगे इसे बर्दाशत नहीं किया जायेगा। उन्होने कहा ''अनुसूचित जाति मुस्लिमों से शिक्षा नौकरियों और सामाजिक सुविधाओं को प्राप्त करने में तुलनात्मक रूप से काफी पीछे है। इस तरह इस सम्मेलन में यह जबरर्दस्त ढ़ग से उभरकार सामने आया कि, "Sixty million of the scheduled Castes were a major element in the national life and should be treated as such in any further attempt at a settlement."[3]

मन्त्रिमण्डल योजना 1946 :–

1945 के आम निर्वाचन में श्रमिक दल की विजय से भारत ब्रिटिश सम्बन्धों में नाटकीय परिवर्तन होने लगे। भारत के परिचित मित्र क्लीमेट एटली इग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री बन गये। साम्राज्य को समाप्त करने के वायदे पर जीते नये प्रधानमन्त्री के वक्तव्यों से यह विदित होने

---

1. Kusum Sharma - Dr. Ambedkar and the Indian Constitution, Page No. - 196
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 196
3. Times of India - June 29, 1945

लगा कि शिमला सम्मेलन की असफलतावाद के बाद समझौते के दरवाजे बन्द नहीं हुये है। 19 फरवरी 1946 की ब्रिटिश सरकार की घोषणा का भारतीय नेताओं ने अवश्य स्वागत किया जिसमें यह कहा गया कि लार्ड पेथिक लारेन्स (भारतमन्त्री), सर स्टेफोर्ड क्रिप्स (प्रेसीडेन्ट ऑफ बोर्ड ऑफ ट्रेड) व ए0वी0 एलेक्जेन्डर (प्रथम लॉर्ड ऑफ एडमिरेलिटी) को भारतीय संविधान के निर्माण के सम्बन्ध में भारतीय नेताओं से विचार विमर्श के लिये भेजा जायेगा।"[1] मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्यों का आयोग 23 मार्च, 1946 को दो सदस्यों के साथ भारत पधारा – भारतीय संविधान के आधार समझौते को तैयार करना व सत्ता हस्तान्तरण हेतु एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना। आते ही मिशन ने भारत के राजनीतिक दलों के महत्वपूर्ण नेताओं से वार्ता प्रारम्भ कर दी ।

इन मुलाकातों में 5 अप्रैल 1946 को डा0 अम्बेडकर से भेट की। इस भेंट में डा0 अम्बेडकर ने यह आग्रह किया कि अस्पृश्यों का अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिये स्वतन्त्र मतदार संघ, स्वतन्त्र आवासीय बस्ती की आवश्यकता, केन्द्रीय और प्रादेशिक विधानसभाओं में यथेष्ट प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों और सेवायोजना कार्यालयों में सुरक्षित स्थान, दलित विद्यार्थियों को यथोचित आर्थिक अनुदान – इन मांगों को प्रस्तुत किया और राष्ट्र के संविधान में उनका समावेश हो यह आग्रह भी किया।[2] डा0 अम्बेडकर ने शिडयूल्ड कास्ट फेडरेशन की ओर से कैबिनेट मिशन को ज्ञापन दिया जिसमें यह इंगित किया गया था कि –

(A) Though Congress could win the reserved seats on the strength of a Caste Hindu Majority, it Could not represent the interests of the Dalits. The SCF was the only party which Could represent the intrests of the Dalits.

(B) The caste Hindus Could be on overwhelming majority in the proposed contituent As -sembly. Hence, it could not separately.

(C) The Scheduled Castes should be represented separately.

(D) The Scheduled Castes ought to be adequately represented in the proposed Interim Ministry, in the legislatures and in the Services.

(E) There should be provision in the Central and provincial Budgets For Finacial Assistance to the Schedueled Caste students prosecuting Castes should be on

---

1. Mitra (ed) ; The Indian Annual Register, Vol. No. I, 1946, Page No. - 38

2. बसन्तमून, डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, पृष्ठ – 147

insparable part of the Contitution itself.[1]

इस प्रकार डा0 अम्बेडकर भारत की संवैधानिक विकास की प्रक्रिया में माउन्टफोर्ड रिफोर्मस, (1919 से लेकर केबिनेट मिशन योजना 1946 तक) लगातार जुड़े रहे। उनका ध्येय व्यापक था। उन्होंने न केवल ब्रिटिश सरकार के संवैधानिक प्रस्तावों को दलित हित को आगे रखा वरन् राष्ट्र के हित में कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये। प्रान्त में वित्त व्यवस्था, कार्यपालिका एवं विधायिका के परस्पर सम्बन्ध, दोहरी शासन प्रणाली, केन्द्र राज्य सम्बन्ध, भारतीय संघ व्यवस्था, अल्पसंख्यकों के अधिकार संघीय विधानमण्डल, संघीय न्यायालय, केन्द्र और राज्यों के बीच वित्त विभाजन, औपनिवेशिक स्वराज्य आदि के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न आयोगों एवं सरकार के समक्ष सुरक्षापरक तथ्य प्रस्तुत किये। दलित समुदाय के लिये संविधान में पहल करके न्याय को सुनिश्चित करना उनका ध्येय था अतएव संविधानिक विकास प्रक्रिया से सम्बन्धित विभिन्न आयोगों के समक्ष दलितों के हित में विभिन्न सुरक्षोउपाय एवं प्रतिनिधित्व की मांगों को रखा। इसलिये प्रस्तुत अध्याय में उन्हीं मूल बिन्दुओं को विश्लेषण किया गया है जिनका सम्बन्ध दलितों को न्याय दिलाने से था।

स्वतंत्र भारत में संविधान के निर्माण में उन्होंने महान योगदान दिया। यह निर्विवाद है कि डा0 अम्बेडकर ने संविधान के निर्माण, संशोधन के निर्माण, संशोधन प्रक्रिया और आधारभूत सरंचना के निर्धारण में आश्चर्यजनक एवं संतुलित भूमिका का प्रमाण दिया। संविधान के आलोचकों एवं समीक्षकों ने भी विरोधी स्वरों में डा0 अम्बेडकर के संवैधानिक योगदान की प्रशंसा की उनकी चतुर्मुखी प्रतिभा को पहचाना और उन्हें, 'आधुनिक मनु' 'मुख्य शिल्पकार' तथा 'संविधान के मुख्य निर्माता' की संज्ञाओं से अलंकृत किया जो हम सबके लिये गौरव की बात है।[2]

S. Sahaya said, "The achievement of independence would go to the credit of mahatmaji and its codification to one of mahatmaji worst, viz the great architect of our great constitution, Dr. Ambedkar. "[3]

अल्लादी कृष्णा स्वामी अय्यर ने इसी प्रकार कहा है कि "I would be failing in my

---

1. R. K. Kshirsagar, The Political Parties founded by Dr. Baba Saheb Ambedkar, Page No. 158, Quoted - K. N. Kadam (ed.) - Dr. B. R. Ambedkar, Emancipation of the Oppressed .
2. डा0 डी0 आर0 जाटव, डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, पृष्ठ – 7
3. W. N. Kuber, Dr. Ambedkar ; A Critical Study, Page No. 148 - 149

duty if I do not express my high appreciation of the skill and ability with which my friend, The hon Dr. Ambedkar has piloted this constitution and his untiring work as the chairman of the drafting committee."[1]

वहीं कुछ विचारक डा0 अम्बेडकर को संविधान का जनक व निर्माता नहीं मानते। अतः प्रसिद्ध लेखक प्रो0 के0 वी0 राय, से जिन्होंने स्थिति का बहुत बारीकी से अध्ययन किया है, के अनुसार "संविधान के अध्ययन से मेरा निष्कर्ष यह है कि डा0 अम्बेडकर को संविधान का जनक मानना अनुचित होगा। यदि कोई व्यक्ति इसके अधिकारी हैं तो वे नेहरु और पटेल हैं। लेकिन मैं उन्हें पीठासीन देवता ही कहना चाहूंगा, क्योंकि वे संविधान के सभी विचारों के स्रोत व संविधान के वास्तविक निर्माता थे। उन्हें या प्रारूप समिति की पितृत्व का अधिकारी माना जा सकता है, मैं डा0 अम्बेडकर की इससे अलग रखना चाहूंगा। सटीक अर्थ में हम डा0 अम्बेडकर को 'संविधान की जननी' कह सकते है। मैं यह शब्द किसी दुर्भावना या परिहास के रूप में नहीं कह रहा हूं। वास्तव में डा0 अम्बेडकर ने दूसरों के विचारों को लिया, उन्हें पोषित किया और अन्ततोगत्वा जन्मा जैसे कि यह सभी कुछ उनका हो किन्तु यह सब उन्होंने बहुत प्रशंसनीय ढंग से किया।''[2]

राज्य और अल्पसंख्यक :–

"राज्य एवं अल्पसंख्यक" यह ज्ञापन उन्होंने अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ की ओर से संविधान सभा में अनुसूचित जातियों के सुरक्षोपायो हेतु 1946 में प्रस्तुत किया। इसका मुख्य ध्येय यही थी कि अल्पसंख्यकों के अधिकार क्या है और उन्हें स्वतंत्र भारत में कैसे सुनिश्चित किया जा सकता है। इसके लिये उन्होने कुछ निश्चित प्रावधान किये –

प्रस्तावित अनुच्छेद 2

अनुच्छेद 2, अनुभाग 1– नागरिकों के मूल अधिकार

अनुभाग 2– मूल अधिकारों पर आक्रमण के विरूद्ध उपचार

खण्ड 1– न्याय संरक्षण

खण्ड 2– असमान व्यवहार से संरक्षण

---

1. Ibid, Page No. - 149
2. जे0 सी0 जौहरी, आर0 के0 पुरवार, भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ – 314

खण्ड 3– भेदभाव से संरक्षण

खण्ड 4– आर्थिक शोषण से संरक्षण

अनुच्छेद 2, अनुभाग 3 – अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिये उपबंध

खण्ड–1 साम्प्रदायिक कार्यपालिका से सरंक्षण

खण्ड–2 सामाजिक और शासकीय अत्याचार से संरक्षण

खण्ड–3 सामाजिक बहिष्कार से संरक्षण

खण्ड–4 लोक प्रयोजनों के लिये, जिसमें अल्प संख्यकों के लिये लाभप्रद प्रयोजन भी शामिल है, संघ और राज्य सरकारों का धन खर्च करने का प्राधिकार और बाध्यता।

अनुच्छेद 2– अनुभाग 4– अनुसूचित जातियों के लिये सुरक्षोपाय

भाग 1 – प्रत्याभूतियाँ

खण्ड 1– विधान मण्डल में और स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व का अधिकार।

खण्ड 2– कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व का अधिकार

खण्ड 3– सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार

भाग 2– विशेष उत्तरदायित्व

खण्ड 1– उच्च शिक्षा के लिये

खण्ड 2– पृथक बस्तियों के लिये

भाग 3– सुरक्षापायो तथा सुरक्षोपायो के संशोधन की मंजूरी

खण्ड 1– सुरक्षोपाय संविधान में लेखबद्ध हो

खण्ड 2– सुरझोपायो का संशोधन

भागन्य देशी राज्यों में अनुसूचित जातियों का संरक्षण

भाग 5– निर्वाचन [1]

यह ज्ञापन "राज्य एवं अल्पसंख्यक" इस नाम से इस पुस्तक के रूप में 1947 को प्रकाशित हुयी।

---

1. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 2, पृष्ठ – 174 – 175

संविधान निर्माता के रूप में डा0 अम्बेडकर :–

16 मई 1946 को मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के सुझावों द्वारा संविधान सभा के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ। जुलाई 1946 में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के माध्यम से संविधान सभा का निर्वाचन सम्पन्न हुआ। 1945 में कांग्रेस दल ने प्रान्तीय विधान सभाओं के कुल 1, 585 स्थानों में से 925 स्थानों या 58 प्रतिशत स्थानों पर विजय प्राप्त की थी।[1] इस परिणाम ने अगले वर्ष होने वाले संविधान सभा के चुनावों कांग्रेस के भारी बहुमत से बिजयी होने की पृष्ठिभूमि तैयार की। इसी कारण, संविधान सभा प्रान्तीय विधान सभाओं के संगठन की छवि मात्र थी। कांग्रेस दल ने मुस्लिम व सिखों के अलावा अन्य समुदायों के वर्ग (सामान्य स्थानों) में से कुल 212 स्थानों में से 203 स्थान जीते थे। इसके अतिरिक्त इस दल के 4 मुसलमान व एक सिख उम्मीदवार भी विजयी हुये। इस प्रकार प्रान्तीय विधान सभाओं के कुल 292 स्थनों में कांग्रेस की कुल 208 स्थान प्राप्त हुये। मुस्लिम लीग ने मुसलमान के लिये निर्धारित संख्या से 7 कम स्थान पाये। शेष 16 स्थानों का विभाजन इस प्रकार था सिख–3 यूनियनिस्ट दल (पंजाब)–3 साम्यवादी–1, अनुसूचित जाति (डा0बी0 आर0 अम्बेडकर)–1, और निर्दलीय 81 इसके अलावा, देश के विभाजन के कारण सभा में से मुस्लिम लीग के निकल जाने पर कांग्रेस दल 82 प्रतिशत बहुमत हो गया। इसी सभा में मनोनीत सदस्यों की संख्या 93 थी जो देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे।

9 दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा का पहला अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता डा0 सच्चिदानन्द सिन्हा ने की। 11 दिसम्बर, 1946 को डा0 राजेन्द्र प्रसाद को संविधान का स्थाई अध्यक्ष चुना गया। [2]

13 दिसम्बर को प. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान के उद्देश्यों "स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता सम्पन्न प्रजातंत्र" की घोषणा की जिसका समर्थन श्री पुरूषोत्तम दास टंडन ने किया मुस्लिम लीग तथा भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि इस अधिवेशन में शामिल नहीं हुये। उन्होंने अधिवेशन का बहिष्कार किया। डा0 एम0 आर0 जयकर ने यह संशोधन पेश कि जब तक उक्त

---

1. जे0 सी0 जौहरी, आर0 के0 पुरवार, भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ – 303
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 97

दोनों–मुस्लिम लीग तथा रियासतों के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं होते तब तक प्रस्ताव पर विचार न किया जाये। डा0 अम्बेडकर ने डा0 जयकर के इस संशोधन प्रस्ताव का समर्थन किया।

संविधान सभा के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने सबसे पहले डा0 अम्बेडकर को अपने विचार प्रस्तुत करने के लिये आमंत्रित किया। बाबा साहब अम्बेडकर ने कहा, "नेहरू जी द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव का पहला भाग विवादपूर्ण है। दूसरा भाग यद्यपि विवाद रहित है तथापि कोरा सिद्धान्तवादी है। उसमें केवल अधिकारों की व्याख्या है, लेकिन पीड़ित लोगों के लिये किसी समाधान का उल्लेख नहीं किया गया है।"[1]

आगे बोलते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा,'' मैं जानता हूँ कि आज हम राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से बँटे हुये है। हम विरोधी शिविरों में है। सम्भवतः मैं भी उनमें से एक हूं। परन्तु इन सबके बावजूद मुझे विंश्वास है कि अवसर आने पर संसार की कोई शक्ति इस देश को संगठित होने से नहीं रोक सकती। मुझे कहने में कोई संकोच नहीं विभिन्न जातियों और समुदायों के बावजूद हम सब किसी न किसी रूप में अवश्य संगठित होंगे।

संविधान सभा का द्वितीय अधिवेशन 20 जनवरी, 1947 को हुआ जिसमें उपसमितियां गठित की गयी। राष्ट्रध्वज सम्बन्धी समिति में बाबा साहब डा0 अम्बेडकर एक सदस्य थे। 'अशोक चक्र' और 'चरखा' दो चिन्हों पर जब बहस हो रही थी, उस समय डा0 अम्बेडकर ने सारनाथ के अशोक चक्र की व्यावहारिक, दार्शनिक और कलात्मक श्रेष्ठता पर सारगर्भित भाषण दिया। उसके महत्व को समझकर इस उपसमिति ने 22 जुलाई, 1947 को राष्ट्र ध्वज के लिये अशोक चक्र स्वीकार कर लिया।

30 अगस्त 1947 को संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिये संविधान प्रारूप समिति गठित हुई। इस समिति से सात सदस्य थे। 1. सर्व श्री अलादि कृष्ण स्वामी अय्यर 2. एन0 गोपाल स्वामी आयंगर 3. के.एम. मुंशी 4. सैय्यद मुहम्मद सादुल्ला 5. बी0 एन0 मित्रा 6. डी0 पी0 खेतान 7. बी0 आर0 अम्बेडकर। डा0 अम्बेडकर इस समिति के चेयरमैन चुने गये।

प्रस्तावित संविधान के प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा सभा की विभिन्न समितियों ने तैयार की थी। उदाहरणार्थ संघ संविधान समिति, संघ शक्ति समिति मूल अधिकार समिति आदि।

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 98

इन समितियों के प्रतिवेदनों पर साधारणतः विचार विमर्श करते हुये उन्होंने 29 अगस्त, 1947 की एक प्रारूप समिति की स्थापना की। इस प्रारूप समिति ने जिसके अध्यक्ष डा0 अम्बेडकर थे सभा के विनिश्चय को और उसके साथ अनुकल्पिक और अतिरिक्त प्रस्तावों को सम्मिलित करते हुये भारत के संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया । इसे फरवरी, 1948 में प्रकाशित किया गया। प्रारूप के उपबन्धों पर खंडवार विचार करने के लिये संविधान सभा की बैठक इसके बाद नवंबर, 1948 में हुई। अनेकों सत्रों के बाद खंडों पर विचार करने की प्रक्रिया 17 अक्टूबर 1949 को पूरी हुई। संविधान सभा की बैठक तृतीय वाचन के लिये 14 नवम्बर 1949 को हुई और यह वाचन 26 नवम्बर 1949 को समाप्त हुआ । इसी तारीख को संविधान पर सभा के सभापति के हस्ताक्षर हुये और उसे पारित घोषित किया गया।[1]

डा0 अम्बेडकर भारतीय समाज एवं राष्ट्र की शक्ति तथा समृद्धि की नीव को मजबूत बनाने के लिये सांगोपाग समर्पित थे। अतएव भारत की पारम्परिक सामाजिक सरचना में व्याप्त असमानता, अन्याय एवं परवशता को समाप्त करने के लिये उन्होंने लोक जीवन में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, समानता एवं स्वतंत्रता की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिये संविधान के द्वारा महत्वपूर्ण पहल की। उन्होंने भारत में केवल राजनीति लोकतंत्र की स्थापना को अपूर्ण माना क्योंकि उनका अटूट विश्वास था : कि सामाजिक लोकतंत्र के अभाव में राजनीतिक लोकतंत्र अर्थहीन है। इस बात को डा0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में अपने समापन भाषण में कहा था :

"यदि राजनीतिक लोकतंत्र का आधार सामाजिक लोकतंत्र नहीं है तो वह नष्ट हो जायेगा। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है इसका अर्थ है वह जीवन पद्धति जो स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता को मान्यता देती है ...."[2] अतएव आर्थिक न्याय के लिये निर्देशक तत्वों में प्रावधान किया गया "राज्य का उद्देश्य जिनके पास धन है उनसे छीनकर निर्धनता का उन्मूलन करना नहीं है बल्कि राष्ट्रीय धन और सम्पत्ति स्रोतों में अनेक गुना वृद्धि करके उनका उन सभी लोगों में साम्यपूर्ण वितरण करना है जो उत्पादन में अपना अभिदाय करते है। जिस सीमा तक हम इस उद्देश्य की प्राप्ति करेंगे उस सीमा तक हमारे इस उपमहाद्वीप में आर्थिक

---

1. डी0 डी0 बसु, भारत का संविधान, पृष्ठ – 18

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 24

लोकतंत्र स्थापित होगा।

स्वतन्त्रता अर्थात सही अर्थ में लोकतंत्र की स्थापना तभी हो सकेगी जब स्वतंत्र और सभ्य जीवन के लिये आवश्यक न्यूनतम अधिकार समुदाय के प्रत्येक सदस्य को सुनिश्चित हो जाते है। उद्देशिका में व्यक्ति के इन आवश्यक अधिकारों का "विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" के रूप में उल्लेख किया गया है। इन अधिकारों को संविधान के भाग–3 द्वारा राज्य के सभी प्राधिकारियों के विरूद्ध प्रत्याभूत किया गया है।[1]

समानता अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रत्याभूत करना अर्थहीन हो जायेगा यदि सामाजिक संरचना से असमानता दूर नहीं की जाती है और प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिष्ठा और अवसर की समानता सुनिश्चित नहीं की जाती है जिससे उसका सर्वोत्तम विकास हो सके तथा इन अधिकारों को प्रवृत्त कराने के साधन उसे प्रत्याभूत नहीं किये जाते है। संविधान में इस उद्देश्य की सुनिश्चित करने के लिये एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच राज्य द्वारा किये जाने वाले सभी विभेदों को अवैध घोषित किया गया है । ये ऐसे विभेद है जो केवल धर्म मूलवश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर (अनुच्छेद 15) है। संविधान ने सभी सार्वजनिक स्थानों को सभी नागरिकों के लिये खोल दिया है अनुच्वेद 15 (2)। अस्पृश्तया का अन्त कर दिया है (अनुच्छेद 17) सम्मान के लिये दी जाने वाली उपाधियों को समाप्त कर दिया है। राज्य के अधीन नियोजन से सम्बन्धित सभी विषयों के लिये अवसर की समानता प्रदान की है (अनुच्वेद 16) विधि के समक्ष समता या विधि के समान संरक्षण को ऐसा अधिकार बनाया गया है जिस पर न्यायालय निर्णय दे सकता है (अनुच्छेद 14)।

नागरिक समानता सुनिश्चित करने के लिये उपरोक्त उपबन्धों के अतिरिक्त संविधान में राजनैतिक समानता लाने के लिये सार्वजनिक व्यस्क मताधिकार का उपबन्ध किया है (अनुच्छेद 326) और यह उद्घोषित किया है कि किसी भी व्यक्ति को केवल धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर साधारण निर्वाचन नामावली से न तो अपवर्जित किया जायेगा और न ही किसी विशेष नामावली में सम्मिलित किया जायेगा।[2]

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 24 – 25
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 25

संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के[1] हितों की सुरक्षा के लिये विशेष उपबन्ध किये गये है जैसे –

(1) अनुसूचित जातियों और जनजातियों क़ी उन्नति के लिये किये गये उपबन्धों पर (अनुच्देद 15 (4)) अनुच्छेद 15 में अन्तर्विष्ट मूलवंश और इसी प्रकार के अन्य आधारों पर विभेद करने के विरूद्ध साधारण प्रतिबन्ध लागू नहीं होता है। इसका अर्थ हुआ कि यदि राज्य द्वारा इन जातियों और जनजातियों के सदस्यों के पक्ष में विशेष उपबन्ध किये जाते है तो अन्य नागरिक ऐसे उपबन्धों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप नहीं कर सकते कि वे उनके विरूद्ध विभेदकारी है।

(2) दूसरी ओर, भारत के राज्य क्षेत्र में अवाध संचरण और निवास करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्रत्याभूत है किन्तु अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों की दशा में राज्य उनके हितों की सुरक्षा के लिये विशेष निर्बन्धन अधिरोपित कर सकता है। उदाहरणार्थ, उनकी सम्पत्ति के अन्य संक्रामण या विभाजन कों रोकने के लिये राज्य यह उपबन्ध कर सकता है कि वे अपनी सम्पत्ति का अन्यसंक्रामण निर्दिष्ट प्रशासनिक प्राधिकारी की सहमति से विशेष दशा में ही कर सकेंगे अन्यथा नहीं (अनुच्छेद 19 (5)) ।

(3) संघ या राज्य के क्रिया कलापों से सम्बन्धित सेवाओं और पदों के लिये नियुक्तियां करने में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के दावों की प्रशासन की दक्षता बनाये रखने के लिये संगति के अनुसार ध्यान में रखा जायेगा (अनुच्छेद 335)।

(4) मूल संविधान के अनुच्छेद 338 में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति का उपबन्ध था और ये उल्लिखित था कि विशेष अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिये इस संविधान के अधीन उपबंधित रक्षोपायों के कार्यकरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन करें।

संविधान (65वां संशोधन) अधिनयिम 1990 द्वारा अनुच्छेद 338 प्रतिस्थापित कर दिया गया है। नये अनुच्छेद में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग की स्थापना का उपबन्ध है। इस आयोग को बहुत से अधिकार और कर्तव्य सौंपे गये हैं। इसमें अनुसूचित जनजातियों को उनके अधिकारों और रक्षोपायो से वंचित करने की शिकायतों की जांच करना भी है। यह संशोधन

---

1. डी० डी० बसु, भारत का संविधान – एक परिचय, पृष्ठ – 373

12 मार्च 1992 से प्रवृत्त हो गया है।

5. राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिये आयोग की नियुक्ति, आदेश द्वारा किसी भी समय कर सकेगा और इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति करेगा। आदेश में आयोग की संरचना, शक्तियां और प्रक्रिया परिनिश्चित की जा सकेगी और उसमें ऐसे आनुषंगिक या सहायक उपबन्ध समाविष्ट हो सकेंगे जिन्हें राष्ट्रपति आवश्यक या वांछनीय समझे (अनुच्छेद 339(1)) ।

6. संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य की ऐसे निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिये निदेश में आवश्यक बताई गई स्कीमों के बनाने और निष्पादन के बारे में है। (अनुच्छेद 339(2))।

संसद के सदस्यों को और जनता के अन्य सदस्यों की सरकार के उपर्युक्त कृत्यों के सम्यक निर्वहन में सहभागी बनाने के लिये तीन संसदीय समितियां स्थापित की गई हैं। उनका कार्य अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिये योजनायें बनाना और उनके कार्यकरण का पुनर्विलोकन करना तथा इन जातियों और जनजातियों से सम्बन्धित विषयों पर भारत सरकार की सलाह देना है।

7. अनुच्छेद 275 (1) में इन कल्याण योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिये वित्तीय सहायता का उपबन्ध किया गया है। इस अनुच्छेद में यह अपेक्षा है कि संघ राज्यों को उन विकास योजनाओं के खर्चे को पूरा करने के लिये सहायता अनुदान देगा जो उस राज्य में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की अभिवृद्धि करने या उस राज्य मे अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन स्तर को उस राज्य के शेष क्षेत्रों के प्रशासन स्तर तक उन्नत करने के लिये हो।

8. अनुच्छेद 164 के परन्तुक में यह अभिकथित है कि बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा राज्य में जन जातियों के कल्याण का प्रभारी एक मंत्री होगा जो अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण का प्रभारी भी हो सकता है। व्यवहार में ऐसे कल्याण विभाग न केवल उन तीन राज्यों में बनाये गये है जिनके लिये संविधान में अपेक्षा की गई थी बल्कि अन्य राज्यों में भी है।

9. संविधान की पांचवी और छठी अनुसूची में अनुच्छेद 244 के साथ पठित, अनुसूचित जन जातियां जिस क्षेत्र में निवास करती है उनके प्रशासन के लिये विशेष उपबन्ध किये गये है।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 46 में यह साधारण निर्देश है कि राज्य जनता के दुर्बल

वर्गों के विशिष्टतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी संरक्षा करेगा।

इन उपबन्धों के अतिरिक्त विधानमण्डलों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण और विशेष प्रतिनिधित्व के लिये "अस्थायी उपबन्ध" (अनुच्छेद 330, 332, 334) है। साथ ही संविधान में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिये कुछ अस्थायी उपबन्ध भी किये गये है –

(क) लोक सभा में 1–अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियों असम के जनजाति क्षेत्रों की अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर, और असम के स्वशासी जिलों की जनजातियों के लिये स्थान आरक्षित होगें (अनुच्छेद 330) । प्रत्येक राज्य की विधानसभा में भी,[1] असम के जनजातीय क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थान आरक्षित होगे (अनुच्छेद 32)। यह आरक्षण संविधान के प्रारम्भ से पचास वर्ष [2] के अवसान पर समाप्त हो जायेगा अर्थात् जनवरी, 2000 में (अनुच्छेद 334) ।[3]

इसी प्रकार आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये भी संविधान के नीति–निर्देशक तत्वों में विविध कार्य करने का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख व्यवस्थायें इस प्रकार है : 1–राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरूष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा और प्रत्येक नागरिक को चाहे वह स्त्री हो, या पुरूष, समान कार्य के लिये समान वेतन प्रदान करेगा। 2–राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रणं की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सके। 3– राज्य इस बात का

---

1. मूल संविधान में विहित दस वर्ष की अवधि को, संविधान (8वां संशोधन) अधिनियम, 1959 द्वारा 20 वर्ष के लिए विस्तारित किया गया । इसके बाद संविधान (23वां संशोधन) अधिनियम, 1969 द्वारा इस आधार पर कि उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाई है इसे 30 वर्ष तक विस्तारित किया गया । संविधान (45वां संशोधन), अधिनियम, 1980 द्वारा जो 25 जनवरी, 1980 को पारित किया गया था, इसे बढ़ाकर 40 वर्ष कर दिया गया । संविधान (62वां संशोधन), 1989 द्वारा (20–12–1989) से इसे पचास वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया है (अनुच्छेद 334)

2. इंद्रा बनाम संघ (1992), स.प. (3), एल0सी0सी0, 217 ।

3. डी0 डी0 बसु, भारत का संविधान, एक परिचय, पृष्ठ – 376

भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीयकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुँचे। 4– राज्य श्रमिक पुरूषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न होने देगा। 5– राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें एवं बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सके। [1]

यह भारतीय राज्य का एक महत्वपूर्ण हस्तक्षेप है कि राज्य के विभिन्न संस्थाओं तथा इकाइयों में दलितों के प्रतिनिधित्व को संवैधानिक रूप से अनिवार्य बनाया गया है। सरकारी नौकरियों, संसद राज्य विधान सभाओं और कुछ हद तक शैक्षणिक संस्थाओं में कुछ सुविधायें भारतीय राज्य – व्यवस्था के सकारात्मक महत्वपूर्ण कदम है। इस नीति के तहत उपरोक्त क्षेत्रों में जनसंख्या के समानुपातिक अनुसूचित जाति/जनजाति को आरक्षण के सुविधा प्रदान की गई। हालांकि यह भी सत्य है कि संविधान के लक्ष्य के अनुरूप समतामूलक समाज की स्थापना का कार्य आज भी अधूरा है।

शैक्षिक–प्रयास

शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, समाज की चतुर्मुखी उन्नति व सभ्यता के सर्वांगीण विकास की आधारशिला है। शिक्षा, शारीरिक, मानसिक, भौतिक, आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरन्तर, सामजस्यपूर्ण विकास करके व्यक्ति को आत्म–साक्षात्कार के योग्य बनाती है। यह मनुष्य की पाश्विक प्रवृत्तियों का शोधन करके उसे सफल सामाजिक व्यक्ति बनाती है। डा0 अम्बेडकर ने सबसे अधिक जोर शिक्षा पर दिया। वह मानते थे कि शिक्षा मनुष्य की एक विशेष योग्यता है, तथा समानता की मजिंल पर ले जाने वाली पहली पीढ़ी है। उनका युग नारकीय पीड़ा का युग था। दलित–शोषित एवं अछूत वर्ग हाशियों की जिन्दगी जी रहा था। सार्वजनिक तालाब मन्दिर, स्कूल तथा सड़कें अछूत वर्ग के लिये बन्द प्राय थे। घोर अशिक्षा एवं अज्ञानता से धिरा सम्पूर्ण दलित समाज गुलामी, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय एवं जातिवाद जैसे गम्भीर अमानवीय कृत्यों के विरूद्ध संघर्ष करने में असमर्थ था।

---

1. जैन, फड़िया – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, पृष्ठ – 269

डा0 अम्बेडकर ने अथक परिश्रम से उच्च शिक्षा प्राप्त कर भारत का गौरव बढ़ाया और तथाकथित अछूत वर्ग पर लगे पारम्परिक अविद्या के कलंक को धो डाला। देश विदेश में सम्मानपूर्ण छवि अर्जित की। डा0 अम्बेडकर ने 1915 में 'प्राचीन भारतीय वाणिज्य' **(Ancient Indian Commerce)** नामक शोध प्रबन्ध (Thesis) लिखकर एम0ए0 की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् प्रोफेसर सेलिग्मन के मार्गदर्शन में अम्बेडकर ने भारत का राष्ट्रीय लांभाश (National Devidend of India) विषय पर पी0एच0डी0 हेतु शोध प्रारम्भ की। उन्होने जून 1916 में अपना यह शोध प्रबन्ध कोलम्बिया विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया। विश्वविद्यालय ने इसे स्वीकार कर लिया परन्तु उस समय यह शोध प्रबन्ध छप नहीं सका । पश्चात् इस शोध प्रबन्ध में कतिपय परिर्वतन एवं परिवर्द्धन कर इसका नाम ब्रिटिश भारत में प्रान्तीय वित्त का विकास रखा गया। इस शोध प्रबन्ध की बाधित प्रतियां अम्बेडकर ने विश्वविद्यालय में प्रस्तुत की और तब इस शोध पर इनको विधिवत् पी0एच0डी0 की उपाधि प्रदान की गयी। [1]

डा0 अम्बेडकर ने एम0एस0सी0 के लिये 'प्रोविशियल डिसेन्ट्रलाइजेशन आफ इम्पीरियल फिनान्स इन बिट्रिश इण्डिया नामक प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जिस पर जून, 1921 में लन्दन विश्वविद्यालय ने उन्हें एम0एस0सी0 की डिग्री प्रदान की । फिर डा0 अम्बेडकर डी0एस0सी0 की डिग्री के लिये उन्होने जो शीर्षक चुना था वह था 'दि प्राब्लम आफ दि रूपी' अर्थात् रूपये की समस्या। विषय कठिन था। उसकी सामग्री के लिये बाबा साहेब ने लन्दन के पुस्तकालय तो छाने ही, जर्मनी जाकर भी सामग्री जुटाई । डा0 अम्बेडकर ने लन्दन यूनिवर्सिटी में अपना शोध प्रबन्ध (थीसिस) प्रस्तुत किया। इस शोध प्रबन्ध में भारत के विषय में बिटिश सरकार की आर्थिक नीति की कटु आलोचना की गयी थी। इससे ब्रिटिश परीक्षक बौखला उठे। डा0 अम्बेडकर से अपने शोध प्रबन्ध में लिखित विचारों में कुछ संशोधन करने के लिये कहा गया। लेकिन वे तैयार न हुये क्योंकि उन्होने अपने कथन की पुष्टि के लिये प्रमाणों का उल्लेख किया था। छः महीने के बाद जनवरी 1923 में उन्हें डी0एस0सी0 (डाक्टर आफ साइन्स) की उपाधि प्रदान की गयी। लन्दन में ही 'ग्रेज इन' से उन्होने बैरिस्ट्री की परीक्षा पास की।[2]

निःसन्देह डा0 अम्बेडकर के लिये यह बहुत कठिनाइयों का समय था लेकिन उन्होने

---

1. डा0 रामस्वरूप संखवार, अम्बेडकर – जीवन चरित्र, पृष्ठ – 35 – 36
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व, बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 18

जिस साहस के साथ उन्हें झेलते हुये अपना अध्ययन कार्य पूरा किया वह सभी विद्यार्थियों के लिये और विशेष कर दलित समाज के विद्यार्थियों के लिये आज भी अनुकरणीय है। उन्होने अपनी समस्त बौद्धिक उर्जा शोषित समाज के उत्थान में लगा दी।

1917 में डा0 अम्बेडकर बड़ौदा रियासत में मिलिट्री सेकेट्री पद पर नियुक्त हुये। परन्तु इतने उच्च पदासीन अधिकारी के रूप में भी शूद्र वर्ण और महार जाति में पैदा होने के कारण अपमान और घृणा की ही व्यवहार मिला। अतएव उन्होने यह सोचा कि जब मेरे जैसे उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति के साथ अछूत होने के कारण ऐसा अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है तब मेरे अंकिचन और अनपढ़ अछूत भाइयों का क्या हाल होता होगा। उनके मुख से यह वाक्य निकला, "यदि मै अछूतों का उद्धार न कर सका, सदियों से कुसंस्कार के फलस्वरूप अछूतों को अपने शूद्र समझने की भावना को नष्ट करके उनको सम्मान और आत्मनिर्भरता का पाठ न सिखा सका तथा अस्पृश्यता का निवारण करके हिन्दू समाज के अन्याय तथा अत्याचार से अछूत समाज को बचा न सका तो मेरी ज्ञान साधना का मूल्य ही क्या और मेरे जीवन की सार्थकता ही क्या।"[1]

अतएव डा0 अम्बेडकर ने दलित समुदाय के शैक्षिक विकास के लिये जीवन पर्यन्त संघर्ष किया मानव जीवन की प्रगति के लिये डा0 अम्बेडकर शिक्षा को बड़ा महत्वपूर्ण मानते थे। इस देश में शिक्षा की निम्न दशा के लिये काफी चिन्तित थे। केवल दलितवर्ग के लिये नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज का शिक्षित होना अनिवार्य मानते थे। बाम्बे लेजिस्टलेटिव असेम्बली 21 फरवरी 1939 को बजट चर्चा में भाग लेते हुये उन्होने कहा था "पहले शिक्षा का प्रश्न उठाते है इसमें प्रौढ़ शिक्षा की स्थिति इस बात में इस प्रकार है – जहाँ तक पुरूषों का सम्बन्ध है इनकी जनसंख्या के केवल 14.3 प्रतिशत लोग ही साक्षर है। जहाँ तक महिला जनसंख्या का सम्बन्ध है केवल 2.4 प्रतिशत महिलायें ही साक्षर है। इसका अर्थ यह है कि 86 प्रतिशत पुरूषों और 98 प्रतिशत स्त्रियों को प्रारम्भिक अक्षर ज्ञान की आवश्यकता है जिससे कि वे अपने जीवन की गतिविधियों को अन्य वर्गो के कपट के शिकार बने बिना चला सके..................................बच्चों की शिक्षा को लीजिये आप जानते है कि इस प्रेसीडेसी में इसकी क्या स्थिति है ?.............................. अब प्राथमिक शिक्षा को लीजिये। सरकार ने इस सम्बन्ध में क्या किया है ? इस सिलसिले में जो आकंड़े मै कल इकट्ठा कर पाया हूँ, उससे ज्ञात होता है कि स्थिति यह है : प्राथमिक शिक्षा

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 22

अधिनियम 6 से 11 वर्ष की आयु के बच्चों पर लागू होता है। इस आयु वर्ग में कुल 24,79,000 बच्चे है। इनमे से 7,54,000 बच्चे स्कूल जाते है और बाकी बच्चे स्कूल नहीं जाते। इस अनुपात को इस रूप में समझा जाये कि हर तीन बच्चों में से एक बच्चा स्कूल जाता है और दो बच्चे स्कूल नहीं जाते। इस प्रश्न की जाँच सुविधाओं की दृष्टि से करें, जिन्हें सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिये देती है। सरकार आँकड़ों के अनुसार इस प्रेसीडेंसी के कस्बों में 184 प्राथमिक स्कूल है।''[1]

प्राथमिक शिक्षा के लिये डा0 अम्बेडकर बहुत चिन्तित थे और 12 मार्च 1927 को बजट भाषण में उन्होने कहा था कि ''प्राइमरी शिक्षा सभी बच्चों के लिये अनिवार्य हो। प्राइमरी शिक्षा का उद्देश्य यह है कि कोई भी विद्यार्थी जो स्कूल में दाखिल होता है वह जब तक शिक्षित न हो जाये तब तक वह स्कूल न छोड़ सके। शिक्षित होने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जीवन भर शिक्षित बने रहना।''[2]

1938 में बाबा साहब बम्बई लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्य थे। उस वर्ष बजट में कोई नया कर नहीं लगाया गया । लोगों ने बजट की बड़ी प्रशंसा की। लेकिन बाबा साहब ने अपने 2 मार्च के भाषण में उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं। उन्होने उस बजट को धनी लोगों के लिये हितकारी और गरीबों के लिये हानिकारी बताया। उन्होंने कहा, ''जब नये कर नहीं लगाये गये है तब नये कार्य भी नहीं होगे, न ही स्कूल और अस्पताल खुलेगे। जिससे गरीब लोग सरकारी स्कूलों के अभाव में शिक्षा से वंचित रह जायेगे, और वे अशिक्षित के अशिक्षित ही रह जायेंगे इसी प्रकार नये अस्पताल न खुलने से हानि गरीबों की होगी, धनिकों की नहीं। वे तो धन खर्च करके किसी भी डॉक्टर को घर पर बुलाकर दवा करवा लेंगे। इसलिये यह बजट गरीबों का विरोधी बजट है। गरीब तो अधिक से अधिक चाहता है।''[3]

शिक्षा के लिये अनुदान* की चर्चा में भाग लेते हुये विभिन्न जातियों की शिक्षा के क्षेत्र

---

1. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 45–46
2. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 148
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 148

* बोम्बे लेजिस्लेटिव काउंसिल, डिबेट्स, खण्ड – 19, पृष्ठ – 971

में तुलनात्मक प्रगति के बारे में असमानता का खाका का प्रस्तुत किया।[1]

प्राथमिक शिक्षा :–

(विद्यार्थी, अपनी जनसंख्या के प्रति एक हजार में)

विकसित हिन्दू	119
मुसलमान	92
मध्यवर्ती वर्ग	38
पिछड़ी जातियां	18

सैकेडरी शिक्षा :–

(विद्यार्थी, अपनी जनसंख्या के प्रति एक लाख में)

विकसित हिन्दू	3,000
मुसलमान	500
मध्यवर्ती वर्ग	140
पिछड़ी जातियां	14

कालिज शिक्षा:–

(विद्यार्थी, अपनी जनसंख्या के प्रति दो लाख में)

विकसित हिन्दू	1,000
मुसलमान	52
मध्यवर्ती वर्ग	14
पिछड़ी जातियां	शून्य (या लगभग एक अगर है भी तो)

इन आँकड़ों से निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा के मामले में विभिन्न जातियाँ एक समान नहीं हैं।

1942 में यूनिवर्सिटी रिफार्म कमेटी को बाबा साहब ने जो ज्ञापन दिया था उससे शिक्षा सुधार की उनकी स्पष्ट रूपरेखा सामने आ जाती हैं । इसमें उन्होने शिक्षा के मूल उद्देश्य को बतलाते हुये लिखा शिक्षा ऐसी होनी चाहिये ''जो विद्यार्थी के दिमाग में केवल सिद्धान्त और

---

1. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 3, पृष्ठ – 58

आंकड़े ही न ठूंसती हो, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध न होता हो, जिसमें केवल याद करने की दिमागी कसरत ही न करनी पड़ती हो। शिक्षा विद्यार्थी को कठिनाइयों का अनुभव कराये और साथ ही साथ सत्य तक पहुंचने का मार्ग तथा जीवन मूल्य भी बताये।''[1] शिक्षा उन जातियों के लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट करे जिनके लिये शिक्षा के द्वार बन्द कर दिये थे।

डा0 अम्बेडकर द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थायें :–

शिक्षा एवं शिक्षण के आधारभूत माध्यम विद्यागृह ही होते है। यही कारण है कि डा0 अम्बेडकर ने शिक्षणालयों को स्थापित करने में प्राथमिकता दी थी। 20 जुलाई, 1924 को डा0 अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' का गठन किया जिसके मुख्य उद्देश्यों में से दलित शोषित वर्गो में शिक्षा के प्रसार के लिये – 1– छात्रावास स्थापित करना, 2–कृषि एवं औद्योगिक विद्यालय स्थापित करना, 3–पुस्तकालयों की स्थापना करना था। [2] बहिष्कृत हितकारिणी सभा ने दलित समाज के लोगों में स्वाभिमान जगाया । सभा के स्टूडेन्टस विंग ''विद्यार्थी शाखा'' ने एक पत्रिका चालू की जिसका नाम था– 'सरस्वती विलास' इसी विद्यार्थी वर्ग ने बम्बई में एक वाचनालय स्थापित किया। लोगों को शराब, जुऐ आदि से रोकने तथा बेकार घूमने–फिरने के बजाय खेलने–कूदने में मन लगाने के लिये महार हॉकी क्लब स्थापित किया।

शिक्षा के क्षेत्र में डा0 अम्बेडकर के कृत्य बेजोड़ थे। वह दलित एवं अछूत बच्चों की प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा से ही सन्तुष्ट नहीं थे अपितु उनको शिक्षा के शिखर पर भी देखना चाहते थे। अस्तु उनहोने 20 जुलाई 1946 में 'पीपुल्स, एजुकेशन सोसाइटी' की स्थापना की। इस संस्था ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। इस संस्था के माध्यम से सर्वप्रथम डा0 साहब ने भगवान बुद्ध के नाम पर बम्बई में सिद्धार्थ कालेज की नीव रखी। जो इस समय भारत के अग्रणी कालेजों में गिना जाता है। शुरू में इसे कियूज रोड पर कटियों में चलाया गया लेकिन बाद में फोर्ट क्षेत्र में इसके लिये दो इमारते खरीदी गयी जिनके नाम मेकबा बिल्डिंग और अल्बर्ट बिल्डिंग थे। खरीदने के बाद पहली बिल्डिग का नाम 'बुद्ध भवन' और दूसरी बिल्डिग का नाम 'आनन्द भवन' रखा गया। कियूज रोड़ से 1951 में सिद्धार्थ कालेज को इन भव्य भवनों में स्थान्तरित किया गया। सिद्धार्थ कालेज समूह के अन्तर्गत उक्त दोनों भवनों में संचालित

1. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 149
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 153

निम्नलिखित संस्थायें निरन्तर चल रही है[1] –

1– सिद्धार्थ कालेज आफ आर्ट्स एण्ड साइन्स, बम्बई, (1951)

2– सिद्धार्थ कालेज आफ कामर्स एण्ड इकोनामिक्स, बम्बई, (1953)

3– सिद्धार्थ कालेज आफ ला, बम्बई, (1955)

4– कालेज आफ जर्नलिज्म, बम्बई।

5– सिद्धार्थ इन्स्टीट्यूट आफ कामर्स, बम्बई

6– सिद्धार्थ नाइट हाई स्कूल, बम्बई।

दूसरा कालेज डा0 अम्बेडकर ने औरंगाबाद में स्थापित किया। जिसका नाम बौद्ध राजा मिलिन्द के नाम पर मिलिन्द कालेज रखा। इस कालेज के लिये डा0 अम्बेडकर ने एक विस्तृत भूभाग, निजाम हैदराबाद से प्राप्त किया था। इस विस्तृत भूक्षेत्र के एक भाग का नाम डा0 अम्बेडकर ने 'नागसेन वन' रखा था। नागसेन सम्राट मिलिन्द के गुरू थे। वे एक सुयोग्य भिक्षु थे। यह कालेज भी महाराष्ट्र के अग्रणी कालेजों में एक है। [2]

इस समय कालेज समूह में निम्नलिखित विद्यालय है [3] –

1– मिलिन्द कालेज ऑफ आट्र्स, औरगांबाद

2– मिलिन्द कालेज आफ साइन्स, औरगांबाद

3– मिलिन्द मल्टीपर्पज हाई स्कूल, औरगाबाद

तृतीय कालेज ग्रुप के अन्तर्गत ''पीपुल्स एजूकेशन सोसाइटी'' ने डा0 अम्बेडकर के नाम पर कालेजों की स्थापना की। इस समूह में निम्नलिखित कालेज है [4] –

1– डा0 बाबा साहब बी0 आर0 अम्बेडकर आर्ट्स, साइन्स एण्ड कामर्स कालेज महाड

2– डा0 बाबा साहब अम्बेडकर कालेज आफ कामर्स, वडाला

3– डा0 बाबा साहब अम्बेडकर कालेज आफ ला, औरगांबाद

4– डा0 बाबा साहब अम्बेडकर कालेज आफ आर्ट्स एण्ड कामर्स, औरंगाबाद

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 154

2. डा0 रामस्वरूप संखवार, अम्बेडकर का जीवन–चरित्र, पृष्ठ – 51

3. डा0 अंगनेलाल, बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पृष्ठ – 155

4. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 155

सोसाइटी द्वारा स्थापित और संचालित प्रमुख महाविद्यालय है। उनके नाम पर देश के हजारों शैक्षिक संस्थायें विद्यालय, छात्रावास, पुस्तकालय एवं वाचनालय चल रहे हैं। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा उनके नाम पर लखनऊ में बाबा साहब डा0 बी0 आर0 अम्बेडकर विश्व विद्यालय स्थापित किया गया है। इसी प्रकार उनकी जन्म भूमि 'महूँ' जिला इन्दौर (म0प्र0) में डा0 अम्बेडकर ने 'नेशनल इन्सटीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज' स्थापित किया गया है। वास्तव इस तरह के शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना द्वारा डा0 अम्बेडकर के द्वारा किये गये शैक्षिक प्रयासों को जारी रखा जा सकता है।

शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो इस परम उद्देश्य को पूरा करने की आकांक्षा से डा0 अम्बेडकर ने पत्र पत्रिकाओं का संपादन भी किया। दलित एवं सुसुप्त मानव को जाग्रत करने और उनको ऊपर उठाने का पत्र पत्रिकायें भी सशक्त माध्यम होती है। डा0 अम्बेडकर ने सबसे पहले 1920 में 'मूक नायक' पत्र का सम्पादन किया।[1] दुसरे पत्र का नाम 'बहिष्कृत भारत' था जिसका प्रारम्भ 3 अप्रैल, 1927 को हुआ। सन् 1930 में डा0 अम्बेडकर ने 'जनता' नाम का तीसरा पत्र निकाला इसके पश्चात् 'इक्वैलिटी' (समता) एवं 'प्रबुद्ध भारत' का भी सम्पादन किया। [2]

इस प्रकार एक शिक्षाविद के रूप में डा0 अम्बेडकर ने अछूतों के शैक्षिक विकास के लिये महान कार्य किये। अपने प्रयासों से दलित विद्याथियों को शिक्षा के लिये जाग्रत किया। उनका प्रयास था कि शिक्षा के द्वारा दलित बौद्धिक रूप से उन्नत होकर अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो और अपना सम्पूर्ण विकास करे। निश्चित रूप से उनका स्वयं का व्यक्तित्व इस आदर्श के अनुरूप था। उन्होने विषम परिस्थितियों में शिक्षा प्राप्त करके जीवन पर्यन्त लाखों करोड़ो अधिकार विहीन लोगों के लिये निरन्तर संघर्ष किया।

---

1. डा0 रामस्वरूप संखवार, अम्बेडकर का जीवन चरित्र, पृष्ठ – 51

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 52

सप्तम अध्याय

डा0 अम्बेडकर के न्याय दर्शन का प्रभाव - वर्तमान संदर्भ में

1. डा0 अम्बेडकर, बौद्ध धर्म एवं दलित
2. आरक्षण एवं सामाजिक न्याय
3. दलित राजनीति एवं डा0 अम्बेडकर

डा0 अम्बेडकर के न्याय दर्शन का प्रभाव वर्तमान संदर्भ में

डा0 अम्बेडकर अपने युग की उपज भी थे और निर्माता भी। धर्म, दर्शन, शिक्षा, अर्थनीति, समाजतन्त्र और राजनीति के क्षेत्र में उन्होने न केवल विशिष्ट विचार रखे बल्कि देश और समाज की नूतन अभिरचना में उनका व्यापक प्रयोग किया। उनके जीवन में दर्शन और कर्म का अपूर्व समन्वय है। यही उनकी जीवन की प्रमुख विशेषता हे। डा0 अम्बेडकर ने हिन्दु धर्म को न्याय के आधार पर प्रतिकूल पाया। असमानता को हिन्दु धर्म का मूल मानते हुये उन्होने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया। आज उनके बाद दलितों के धर्मान्तरण प्रक्रिया में उनके धम्मदर्शन का कितना प्रभाव है इसका विश्लेषण अनिवार्य है। उनका सामाजिक दर्शन तीन शब्दों में निहित है। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व कर इसके लिये उन्होने लम्बा संघर्ष किया और संविधाननिर्माता के रूप में दलित समुदाय को संवैधानिक संरक्षण के माध्यम से शिक्षा सरकारी नौकरियों एवं लोकतंत्र की निर्णय प्रक्रिया में भागीदार बनाया । अतः आरक्षण दलितों के उत्थान में कितना प्रभावी सिद्ध हुआ है, इसका मूल्यांकन अपेक्षित है।

डा0 अम्बेडकर के दर्शन के प्रति दलित राजनीति कितनी प्रतिबद्ध है या उनकी विरासत को किसी तरह से आगे बढ़ाया जा रहा है इसका विश्लेषण युग व परिस्थितियों की माँग है क्योंकि डा0 अम्बेडकर ने कहा था "मैने तुम्हारे लिये जो भी किया है वह बेहद मुसीबतों, अत्यन्त दुखों और बेशुमार विरोधियों का मुकाबला करके किया है। यह कारवाँ आज जिस जगह पर मै बड़ी मुसीबत के साथ लाया हूँ, तुम्हारा कर्तव्य है कि कारवाँ आगे बढ़ता रहे बेशक कितनी रूकावट क्यों न आये । यदि मेरे अनुयायी इसे आगे न बढ़ा सके तो वे इसे यही पर छोड़ दे पर किसी भी हालत में पीछे न जाने दें अपने लोगों से मेरा यही संदेश है"[1] आज दलित राजनीतिक आन्दोलन उनके वैचारिक अधिष्ठान पर कितना कायम है, इन बिन्दुओं पर अध्ययन ही उपरोक्त तथ्य के विश्लेषण हेतु अनिवार्य है।

---

1. डा0 भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 10

अतएव डा0 अम्बेडकर ने अपने न्याय दर्शन के व्यापक पूष्ठ भूमि में जो आदर्श के व्यापक कार्यक्रम क्रियान्वित किये उनका वर्तमान सन्दर्भ में जो प्रभाव है–प्रस्तुत अध्याय में इसी के विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

1– डा0 अम्बेडकर बौद्ध धर्म एवं दलित :–

डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की आलोचना की है कि हिन्दू धर्म रूढ़ान्धता से ग्रसित। उनके विचार से हिन्दू धर्म का सामाजिक संगठन असमानता और अस्पृश्यता पर आधारित है । असमानता हिन्दू धर्म का मूल तत्व है । जातिप्रथा, कर्मसिद्धान्त और जन्म के आधार पर समाज में स्थिति का निर्धारण यह सब अत्याचार के साधन हैं । जिनके द्वारा हिन्दुओं ने अछूतों का सदियों तक शोषण किया ।[1] डा0 अम्बेडकर जब भारतीय क्षितिज पर आये तो उन्होने सर्वप्रथम दलित वर्ग की दुर्दशा के कारणों का अध्ययन किया। प्रारम्भ में उनकी धारणा थी कि यदि हिन्दु समाज का सुधार कर दिया जाये तो दलितों को दूसरों के बराबर दर्जा मिल जायेगा। इसलिये उन्होने समाज सुधार हेतु महाड़ तालाब, कालेराम मन्दिर प्रवेश आदि कई आन्दोलन चलाये परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्ततः वह निष्कर्ष पर पहुंचे कि उच्च जातियों के निहित स्वार्थो के कारण हिन्दु समाज में कोई भी सुधार होना संभव नहीं है। अतः उन्होने हिन्दु धर्म से मुक्त होने के मार्ग को तलाशना शुरू किया।

डा0 अम्बेडकर ने स्वयं हिन्दू धर्म छोड़ने अर्थात् धर्मान्तरण की घोषणा 1935 में की थी। उन्होने कहा था कि "मै हिन्दू पैदा हुआ यह मेरे बस की बात नहीं थी लेकिन हिन्दू रहकर मरूँगा नहीं यह मेरे बस की बात है।"[2] उन्होने 1956 में धर्म परिवर्तन किया। इस 21 वर्ष की अवधि में वे दलितों के लिये वैकल्पिक धर्म की खोज में लगे रहे। उन्होने ईसाई इस्लाम एवं सिक्ख धर्म के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पहलुओं का गहन अध्ययन किया। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यद्यपि इन धर्मो में सैद्धान्तिक तौर पर मानवीय समानता की बात कही गयी है परन्तु व्यवहार में वे भी हिन्दु जाति व्यवस्था पर ही अमल करते है। इसके अतिरिक्त वह दलितों को भारतीय संस्कृति से काटना नहीं चाहते थे। अतः एक लंम्बे चिंतन–मनन एवं परीक्षण के उपरान्त

---

1. विश्वप्रकाश गुप्ता, मोहिनी गुप्ता, भीमराव अम्बेडकर, व्यक्ति एवं विचार, पृष्ठ – 110 – 111
2. बसन्तमून, डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर, पृष्ठ – 86–87

वह इस निर्णय पर पहुंचे कि केवल बौद्ध धर्म ही जैसा धर्म है जो न केवल सिद्धांत में वरन् व्यवहार में भी मानवीय समानता स्वतन्त्रता, बन्धुत्व एवं न्याय की मानता है। इसके अलावा बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है, उन्होने 14 अक्टूबर 1956 को 5 लाख दलितों सहित बौद्ध धर्म ग्रहण किया जो कि एक अपूर्व ऐतिहासिक घटना है।[1] उनका धर्मान्तर पलायनवाद नहीं अपितु दलितों को मानसिक आध्यात्मिक एवं सामाजिक मुक्ति दिलाना था।

उनके अनुसार "दुख निवारण के लिए बौद्ध धर्म का मार्ग ही सुरक्षित है । बौद्ध धर्म पूर्णतया भारतीय है और गौतम बुद्ध न केवल भारत के उद्धारक थे बल्कि सम्पूर्ण मानवता के उन्नायक थे ।"[2]

डा0 अम्बेडकर आधुनिक बोधिसत्व थे । उन्होंने आधुनिक भारत में बौद्ध धर्म का पुनरूत्थान किया । अम्बेडकर ने अस्पृश्य परिवार में जन्म लेने के कारण अनेक यातनायें और अत्याचार सहे । उनका निष्कर्ष था कि वह- तथा उनके अनुयायी जातिबद्ध हिन्दू समाज में रहकर न्याय नहीं पा सकते । उनके विचार से बौद्ध धर्म संसार का सबसे अधिक लोकतंत्रात्मक और समतायुक्त धर्म है । यह प्राणीमात्र के लिए करूणा और समता से ओत–प्रोत है । उनकी पुस्तक 'बुद्धा एण्ड हिज धम्मा' जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था अपने विषय कालजयी ग्रन्थ है। डा0 अम्बेडकर ने गौतम बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स की शिक्षाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया था और उनका विचार था कि मानवता के लिए बुद्ध का मार्ग कार्ल मार्क्स के मार्ग की अपेक्षा अधिक निरापद है । डा0 अम्बेडकर ने भारत तथा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए एक विस्तृत योजना तैयार की लेकिन आकस्मिक मृत्यु के कारण अपनी योजना को कार्यरूप में परिणित नहीं कर सके ।[3]

यद्यपि असामयिक निर्वाण के कारण बाबा साहब का नेतृत्व लुप्त हो गया परन्तु उनके द्वारा चलाया गया धम्मचक्र आज भी गतिमान है । आज भारत में सैंकड़ो की संख्या में दलित बौद्ध धर्म अपना रहे हैं। आज अनेक अम्बेडकरवादी बौद्ध संगठन धम्मदर्शन के प्रसार में लगे हैं इस क्रम में भारतीय अम्बेडकरवादी बौद्धों की संस्था Society for promoting Buddism knowledge, Lord

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 185

2. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड – 7

3. विश्वप्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता, भीमराव अम्बेडकर, व्यक्ति एवं विचार, पृष्ठ – 170

Buddha Club, Federation of Ambedkrite, Buddhist Organisation U.K., आदि प्रमुख हैं । अनुसूचित जाति – जनजाति संगठनों के अखिल भारतीय राष्ट्रीय चेयरमेन उदित राज के अनुसार – Lord Buddha Club is frontal organisation all other wings of our activities and all open social and religious activities are mainly undertaken by it . India is the land of the Buddha and the Buddhism is for humanity, non-violence, equality and justice and what not . Indian society is full of sorrows and miseries and the caste system has destroyed the overall development of the country since long . Majority of people in this country have suffered because of the caste system and we are commited to destroy this devil by spreading Buddhism .[1]

आज भारत में अनुसूचित जातियाँ बौद्ध धर्म अपनाने को इच्छुक हैं, भारत में अन्य हिन्दू जातियाँ भी बुद्ध के मानवतावादी दर्शन और उनके भारतीय संस्कृति में योगदान को स्वीकारती है । आज दलित बौद्ध धर्म को अपनाकर प्रसन्न और संतुष्ट है ।[2]

डा0 अम्बेडकर ने कहा था कि बुद्ध के मार्ग पर चलकर ही संसार में शांति स्थापित की जा सकती है । बौद्ध धर्म ही दलितों के लिए सबसे अच्छा है । उनका यह विचार आज शत–प्रतिशत सत्य हो जाता है कि आज जहाँ भी दलितों ने इस्लाम या इसाईयत को स्वीकार किया कोई खास भला नहीं हुआ । मीनाक्षीपुरम की एक घटना ने जहाँ पूरे गाँव ने इस्लाम स्वीकार कर लिया था हिन्दुत्व की संकीर्ण राज़नीति को बढ़ाने में निर्णायक भूमिका निभायी और इससे दलितों को नुकसान ही हुआ। दूसरी ओर रिपोर्ट बताती है कि धर्मान्तरण से मीनाक्षीपुरम के दलितों का भी कुछ खास भला भी नहीं हुआ।[3]

डा0 अम्बेडकर बौद्ध धर्म को अन्य धर्मों की तुलना में इसलिए अच्छा समझते थे क्योंकि इसने समाज के पुनर्निमाण के लिए तीन बुनियादी सिद्धान्त निर्धारित किये – 1. प्रज्ञा 2. करूणा 3. समता । प्रज्ञा का अर्थ है मनुष्य की विवेकशक्ति । यह अंधविश्वासों और चमत्कारों के विरोध में है । आज दलित नवबौद्धों की संख्या बढ़ रही है किन्तु बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त प्रज्ञा के प्रति पूरी तरह से ईमानदार नहीं है । धर्मांतरित दलित हिन्दू धर्म की परम्परावादी जड़ रीतिरिवाजों से

---

1. Uditraj - Appeal to Buddhist avialable at Buddha - Buddha@ndf.vsnl.net.in
2. धम्माचारी, लोकमित्रा – बुद्धिज्म इन मॉर्डन वर्ड एप्रीसिएशन ऑफ डा0 अम्बेडकरस कन्ट्रीब्यूशन टू बुद्धिज्म, उघृत – डा0 बी0 आर0 अम्बेडकर – द इमेनिसिपेशन ऑफ द आप्रेस्ड, संपादक – के0 एन0 कदम, पृष्ठ – 142
3. राजकिशोर – लेख अम्बेडकर की विरासत के कुछ सच, अमर उजाला, 20 जनवरी 2001

बँधा रहता है । अतः जब तक वह पूरी तरह से हिन्दू धर्म से अपने को मुक्त नहीं करता तब तक धर्मान्तरण का व्यापक उद्देश्य सफल नहीं होगा ।[1]

डा0 अम्बेडकर के बुद्ध धम्म पर चलना है तो स्वभाव में नम्रता, मन में करूणा और आचरण में सदस्यता के आवश्यकता है परन्तु कभी–कभी अम्बेडकरवादी कुछ नवबौद्ध एवं बौद्धभिक्षु अपनी मांग के समर्थन में प्रदर्शन करते हैं और धरना देते हैं तो स्थिति विस्फोटक हो जाती है । मसलन, 6 मई 1993 को बुद्धपूर्णिमा के दिन जब महाराष्ट्र के 800 से अधिक नव बौद्ध महाबौधि मंदिर प्रांगण (बौद्यगया) में घुस आये और हिन्दु देवी, देवताओं की मूर्तियों को क्षति पहुंचाने की कोशिश की'' ।[2] नव बौद्धों के इरादों को नाकाम करने के लिये एवं महाबौद्यि मंदिर पर अपना दबदबा बनाये रखने के लिये विश्व हिन्दु परिषद एवं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं ने भी कमर कस ली। यदि विहार सरकार ने सैनिक हस्तक्षेप नहीं किया होता साम्प्रदायिक दंगे भड़कने का खतरा था। इन कमियों को दूर करके ही दलित बुद्ध धम्म के प्रज्ञा, करूणा, समता का वास्तविक रूप से पालन कर सकेगा ।

डा0 अम्बेडकर इस देश में बौद्ध धर्म के अभिनव व्याख्याता हैं डा0 अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म के रूप में दलितों को एक नूतन बौद्ध संस्कृति का उत्तराधिकारी बनाया। दि बुद्धा एण्ड हिज धम्मा पुस्तक चिंतन को एक नया आयाम दिया। आज उनके अनुसरण में अनेक दलित बौद्ध धर्म अपना रहे हैं । अनेक संगठन बुद्ध धम्म के लिए कार्य कर रहे हैं । प्रगति भी हुई है लेकिन कुछ कमियाँ हैं जिसको दूर करके ही बुद्ध धम्म के सार को आत्मसात किया जा सकेगा और इस कार्य के लिए सच्चे और ईमानदार नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण है । [3]

आरक्षण एवं सामाजिक न्याय :–

डा0 अम्बेडकर की सम्पूर्ण न्याय अवधारणा स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व पर आधारित है जो वर्णाधारित हिन्दू समाज में से जाति–पांत छुआ–छूत, दासता, धर्मान्धता एवं भेदभाव को समाप्त कर बंधुत्व की पक्षधर है। आर्थिक जीवन में, परतन्त्रता, शोषण एवं अन्याय की प्रवृत्तियों को समाप्त कर समानता स्थापित करना चाहती है और राजनीतिक जीवन में सार्वजनिक नीतियों

---

1. The Bhopal Documents, Page No. 38
2. रामचन्द्र मौर्य, (लेख) बोधगया को अयोध्या बनने से रोकना जरूरी ।
4. दलित टुडे, अप्रैल – मई – 1999 (पत्रिका), सम्पादकीय – वेद कुमार, पृष्ठ – 3

को निर्धारित करने की प्रक्रिया में सबको प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर एवं सबकी सत्ता में भागीदारी को सुनिश्चत करती है अर्थात् प्रस्तुत अर्थ में उनका सामाजिक न्याय – बन्धुता, आर्थिक न्याय, समानता और राजनीतिक न्याय स्वतन्त्रता के आदर्श को प्रमुखता देता है। इस प्रकार उनकी सम्पूर्ण न्याय दर्शन और उस पर आधारित विभिन्न आन्दोलनात्मक, सांगठनिक, शैक्षिक, कानूनी एवं संवैधानिक प्रयास शोषण के विरूद्ध और नव–मूल्यवादी नैतिक संस्थापनाओं के लिये था। उनके समग्र अनुचिन्तन की प्रमुख विशेषता यही है कि इन्होने समाज की विषय परिस्थितियों की अन्तर पीड़ा को भोगते हुये न केवल उसके कारणों की खोज की अपितु उसका व्यवहारिक तथा यथार्थपरक समाधान भी तलाश किया और उसके अनुरूप सामाजिक व्यवस्था में आमूल–चूल परिर्वतन के लिये सशक्त कदम भी उठाये । डा0 अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की अवधारणा का व्यापक प्रभाव 1990 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट लागू होने के बाद हुये सामाजिक आन्दोलन से सामने आया । इसके अन्तर्गत पिछड़े वर्ग को सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने की घोषणा की गई ।[1]

उन्होने अपने न्याय दर्शन के व्यवहारिक प्रयोग से दलित समुदाय के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक शैक्षिक, एवं राजनैतिक क्षेत्र का पुर्ननिर्माण प्रयास किया। यह विदित है कि दलितों के हित में सभी प्रावधानों तथा सकारात्मक कार्यक्रमों की स्वीकृति एवं विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के बहुत पहले ही हो चुका था। लेकिन एक संविधान निर्माता के रूप में डा0 अम्बेडकर ने दलित जातियों के संवैधानिक, संरक्षण और आरक्षण की जो पहल की यह भारतीय राजव्यवस्था में डा0 अम्बेडकर का महत्वपूर्ण सकारात्मक हस्तक्षेप है क्योंकि इसके द्वारा सदियों से दबे–कुचले दलित समुदाय को राजनीतिक सत्ता, शैक्षिक एवं नौकरियों में आरक्षण प्रदान किया गया। जो निश्चित रूप से दलित समुदाय के हित में समाज में स्वतन्त्रता समानता और बन्धुत्व को स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है । अतएव उनके न्याय दर्शन के समग्र मूल्याकंन के लिये आवश्यक है की आरक्षण व्यवस्था के व्यवहारिक परिणामों उसमें अन्तर्निहित तथ्यों का समुचित विश्लेषण किया जाये।

---

1. डी0 डी0 बसु – भारत का संविधान, पृष्ठ – 375

1. आरक्षण व्यवस्था की उपलब्धियां – एक मूल्यांकन :–

राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम दो दर्शकों में डा0 अम्बेडकर के प्रयासों से समाज–सुधार और दलितोद्धार और भी राष्ट्रीय आन्दोलन के अभिन्न अंग बन गये थे । अग्रेंज शासकों ने जाति विभेदों का भी साम्प्रदायिक भेदों की तरह ही विघटन कारी तत्वों के रूप में लाभ उठाया [1] और 1930–32 के विचार विमर्श के पश्चात ही उनके लिये भी आरक्षण का सिद्धान्त पूरा पैक्ट के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जबकि महात्मा गांधी ने पूरी ताकत से इसका विरोध किया था। बाद में , भारत सरकार अधिनियम, 1935 में यह व्यवस्था रखी गई थी कि प्रांतों की विधान सभाओं में ऐसी जातियों और जनजातियों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखे जायेगे। कुछ प्रान्तीय सरकारो, जैसे बम्बई और मद्रास में सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं में इन जातियों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये और कुछ छात्रवृत्तियों की व्यवस्था भी की गई। यही सिद्धान्त स्वतन्त्र भारत के संविधान में अपनाये गये 'सामाजिक न्याय और समानता के आदेशों को प्राप्त करने का आधार बन गया। [2]

आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था के तहत डा0 अम्बेडकर ने तीन महत्वपूर्ण अधिकार अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिये प्राप्त किये [3]

1. Representation in government jobs and legislative bodies,
2. Free-ships and Scholarships for the SC/ST Students and
3. Reservation in admissions in state -run/aided educational institutions.

अतः यहाँ प्रासंगिक है कि आरक्षण प्राप्त वर्गो पर राजनीतिक आरक्षण, शैक्षिक और व्यवसायिक अथवा नौकरियों में आरक्षण का जो प्रभाव पड़ा है उसका विश्लेषण किया जाये –

क. राजनीतिक आरक्षण :–

अनु0 330, 332 और 334 के अन्तर्गत राजनीतिक आरक्षण के फलस्वरूप संसद व राज्य विधायिकाओं में अनु0 जाति व जनजाति के प्रतिनिधियों के लिये स्थान आरक्षित किये गये।

---

1. एस0 सरस्वती, "ब्रिटिश काल में आरक्षण नीति का जन्म तथा विकास", मन्थन, अंक – 2, फरवरी 1982, पृष्ठ – 103–104
2. Anirudh Prasad, " Reservation Policy and Practice in India, A means to an end", New Delhi, Deep & Deep, Publications - 1991, Page No. - 117 - 121

1989 के अधिनियम के अनुसार लोकसभा में 79 और 41 तथा राज्य विधायिकाओं में 557 और 527 स्थान क्रमशः अनु0 जाति व जनजातियों के लिये आरक्षित है।[1] वर्तमान में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के 122 सांसद चुने जाते है और कई सौ विधायक राज्य विधानसभाओं में चुने जाते है।[2]

इससे राजनीतिक रूप से दलित समुदाय की राजनीतिक शक्ति बढ़ी है और भारतीय राजनीति में उनकी भूमिका बढ़ रही है। क्योंकि संसद और राज्य विधानमंडलों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की संदस्य सख्या विभिन्न निर्वाचनों में उनका सक्रिय सहभाग तथा उच्च राजनीतिक पदो पर उनकी नियुक्ति से यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि देश की राजनीति में इन जातियों की भूमिका बढ़ रही है और उनमें राजनैतिक जागृति तेजी से बढ़ रही है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि –

Did Ambedkar win rights after Capturing political Power ?

समकालीन अध्यायों से यह बात स्पष्ट होती है कि दलितों की राजनैतिक सहभागिता या सत्ता में भागीदारी के आशा जनक परिणाम नहीं निकले। डा0 अम्बेडकर का राजनीतिक सत्ता में भागीदारी की मांग का प्रमुख उद्देश्य सत्ता के माध्यम से दलित समुदाय के शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई को सशक्त ढ़ग से लड़ना था। उन्होने स्वयं सत्ता में सक्रिय भागीदारी करके कई महत्वपूग्र प्रश्न उठाये और सफलता भी पायी लेकिन वर्तमान में दलित नेतृत्व अपनी राजनीतिक भूमिका द्वारा डा0 अम्बेडकर के राजनीतिक न्याय के संकल्प को पूरा करने मे असफल ही रहा है। इसके प्रमुख कारण निम्नवत है।

1. समकालीन अध्ययनों के अनुसार एक तरफ तो सामान्य क्षेत्रों से इन वर्गो के चुने जाने की घटनाओं में ह्रास हुआ है वही दूसरी ओर आरक्षित क्षेत्रों से चुने गये संसद सदस्य और विधायक इन वर्गो को प्रभावी नेतृत्व प्रदान करने में बहुत सफल नहीं रहे है।[3]

2. इनके प्रतिनिधि प्रायः निर्णयन में बहुत प्रभावी भूमिका नहीं निभा पाते और जितना थोड़ा बहुत प्रभाव होता है उसे वैयक्तिक लाभ के लिये प्रयुक्त करते है। ये प्रतिनिधि वास्तव में एक असमजंस की स्थिति का सामना करते है यदि वे अपने समुदाय की समस्याओं को उठाते है तो वे 'हरिजन

---

1. भारत, 1990, पृष्ठ – 202–203

2. The Bhopal Documents, Dalit Agenda, Page No. - 37

3. Padmini, R. Narayan, "Reservation in Politics and the scheduled caste elite"

या आदिवासी नेता' की संज्ञा पाते है और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन पर अभिजन प्रवृत्ति अपनाने तथा अपने भाइयों की अवहेलना का आरोप लगाया जाता है। [1]

3. अधिकाशंतः इनका प्रयोग प्रभावी दलीय नेतृत्व द्वारा वोट बैक के निर्माण और रख रखाव के लिये ही किया जाता है। व्यवहार में इसका परिणाम औपनिवेशिक सामाजिक विभाजन की व्यवस्था को बनाये रखने और प्रोत्साहित करने में ही देखा जा सकता है। [2]

शैक्षिक आरक्षण :-

संविधान के अनु0 15 (4) और 29 के अनुसार सभी राजकीय शिक्षण व तकनीकि संस्थानों में अनु0 जाति व जनजाति के विद्यार्थियों के लिये क्रमशः 15 व 5 प्रतिशत स्थान आरक्षित किये गये है। आरक्षित स्थानों हेतु प्रवेश योग्यताओं में छूट दिये जाने का प्रावधान होने के बावजूद ये स्थान प्रायः खाली रह जाते है और जो ऐसे विद्यार्थी प्रवेश पा भी जाते हैं, उनमे से बहुत कम ही शिक्षा तथा प्रशिक्षण पूरा कर पाते है। [3] यह देखा गया है कि यदि उच्च शिक्षा अथवा तकनीकी संस्थानों में पढ़ने वाले इन पिछड़े वर्गो के विद्यार्थियों को गहन प्रशिक्षण दिया गया है तो उनके सफल होने के अवसरों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। परन्तु ऐसे प्रयत्न अभी कम है। यद्यपि सरकार इस प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम चला रही है, उनकी असफलता के अनेक कारण है जैसे इन जातियों की साक्षरता की दर निम्न होना, स्कूली शिक्षा की दर भी अन्य जातियों से निम्न होना, स्कूल शिक्षा के स्तर पर अन्तर, वित्तीय स्रोतों का अभाव, सुविधाओं में कमी इत्यादि परिणामतः एक ओर तो आरक्षण की सुविधा का लाभ अनु0 जातियों व जनजातियों का केवल विशिष्ट वर्ग ही उठा रहा है। [4]

वहीं दूसरी ओर विशिष्ट वर्गीय संस्थानों का चरित्र अभी बदल नहीं सका है ।[5] और

---

1. The Times of India, April - 23.1990 and May 4.1990
2. Mark Galanter, "Compensatory discrimination in political representation ; A preliminary assessment of India . Thirty year experience with reserved seats in legislatures". EPW , Vol. 14
3. Subash Kak, " The politics of Quota's in South Asia", Journal of Social, political and economic studies, Vol. 16, No. - 4, winter 1991, Page No. - 401-421
4. Suma Chitnis, "Measuring upto reserved admissions", Shah and Agarwal, Op. cit., Page No. 32-46
5. Ghanshaym Shah, "Stratification and reservation; Case of Scheduled Castes and Tribes" Main stream, Vol. 19, No. 41, June - 13, 1981

शिक्षा के क्षेत्र में संरक्षणात्मक विभेदीकरण् पर आधारित आरक्षण की नीति संरक्षण कम और विभेदीकरण अधिक में परिणत हो गई है । इस नीति से इन जातियों में जो सामाजिक परिवर्तन लाने की आशा की गई थी वह पूर्णतया फलीभूत नहीं हो सकी है ।[1] इसके लिए आरक्षण के साथ–साथ सामाजिक मानसिकता और संस्कृति में भी बदलाव आवश्यक है ।

आज शैक्षिक आरक्षण की सुविधा का लाभ भी नगण्य हो रहा है क्योंकि इन जातियो–जनजातियों की साक्षरता की निम्न दर है। अनुसूचित जाति के 80 प्रतिशत छात्र और अनुसूचित जनजाति के 8.78 छात्र माध्यमिक स्कूल तक स्कूल पढ़ाई छोड़ देते है। मानव विकास मन्त्रालय की रिपोर्ट 1993 के अनुसार"1988–89 के शैक्षिक सत्र में माध्यमिक स्कूल (10वीं कक्षा) तक 79.88 प्रतिशत अनुसूचित जाति के छात्र एवं 86.78 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति के छात्रों की पढ़ाई बीच में ही छूट गयी है।" इस अनुपात से दलितों में उच्च शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

शिक्षा के क्षेत्र में राज्य छात्रवृत्तियों, कई तरह के उन्मुक्तियों तथा कुछ हद तक नामांकन में आरक्षण का प्रावधान करता है यद्यपि परिणामात्मक रूप से यह सहयोग नगण्य हो रहा है फिर भी दलितों के उत्थान में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है। [2]

उदाहरण के लिये "प्राथमिक स्तर से मैट्रिक तक राज्य सरकारें छात्रवृत्ति तथा आर्थिक सहयोग की देखरेख करती है। लेकिन सरकार यहाँ एक निश्चित आय सीमा निर्धारित करती है, जिसके परिणामस्वरूप कभी–कभी तृतीय श्रेणी के दलित कर्मचारियों के बच्चे भी इस लाभ से वचिंत रह जाते है। लोकप्रिय मान्यता के विपरीत यह आर्थिक सहयोग सभी अर्हता प्रांत दलित छात्रों को मिलने के स्थान पर यह प्रावधान कक्षा के कुछ छात्रों तथा सीमित है। अधिकांश राज्यों में छात्र वृत्ति की मात्रा भी नगण्य ही है। उदाहरण के लिये उत्तर प्रदेश में छात्रवृत्ति की यह दर प्राथमिक स्तर 12 रूपये से प्रतिमाह है साथ ही कक्षा में कितने ही दलित छात्र क्यों न हो केवल 14 छात्र ही इस प्रावधान का लाभ उठा सकते है।"[3]

---

1. Peter Nelson, "The impact of education on social statification in India", Journal of social research, Vol. No. XV, No. - 2, Sep. 1972
2. चन्द्रभान प्रसाद – विश्वासघात, पृष्ठ –
3. पूर्वोक्त

अतः शैक्षिक आरक्षण की मूलभूत सफलता के साथ–साथ आवश्यक है कि उनकी निम्न शिक्षादर को बढ़ाना होगा । इस दृष्टि से मध्य प्रदेश के तत्वावधान में सम्पन्न हुआ भोपाल सम्मेलन जनवरी 2002 । इसमें भारतीय समाज के सबसे कमजोर तबके के बौद्धिक नुमाइन्दों ने इसमें भाग लिया। दलित बृद्धिजीवियों ने दलितों की शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुधारने हेतु भोपाल घोषणा पत्र तैयार किया, उसमें दलितों की शिक्षा के संदर्भ में कुछ उपाय सुझाये गये हैं–[1]

1. दलितों के लिये निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था तत्काल लागू हो । दलित क्षेत्रों के स्कूलों में वेहतर सुविधायें हो और व्यवसायिक एवं तकनीकि शिक्षा के जरिये दलितों को बाजारोन्मुखी शिक्षा दी जाये। दलित बच्चों के लिये छात्र वृत्तियों तथा निरक्षरों की संख्या के अनुपात को देखते हुये धनराशि आवंटित की जाये ।

2. सरकारी, निजी, विद्यालयों तकनीकी और व्यावसायिक संस्थानों में दलित बच्चों के प्रवेश में आरक्षण लागू किया जाये। अग्रेंजी माध्यम वाले सभी स्कूलों में दलितों के बच्चों को दाखिलें में पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जाये।

साथ ही राज्य को दलित शिक्षा सम्बन्धी ठोस रणनीति का विकास करना होगा। इस सन्दर्भ में 93 संविधान संशोधन विधेयक निश्चित रूप से सराहनीय एवं प्रगतिशील है जिसमें अन्तर्गत 14 वर्ष आयु वर्ग तक के बच्चों के लिये शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया गया है। यह संशोधन मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के शिक्षा विभाग द्वारा अधिसूचित होने के बाद से प्रभाव में आ जायेगा इसके बाद सभी राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेश सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से शिक्षा देने के लिये आवश्यक प्रबंन्ध करेगें''[2]। इसी तरह के सकारात्मक कदमों के द्वारा गरीब शोषित दलितों के शैक्षिक ग्राफ को बढ़ाया जा सकता है।

सरकारी नौकरियों में आरक्षण :–

संविधान के अनु0 16 (4) 320 (4) और 335 के अनुसार सभी सरकारी व सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में 15 और 7 प्रतिशत स्थान क्रमशः अनु0 जातियों व जनजातियों के लिये आरक्षित किये गये। आरक्षित स्थानों को भरने के लिये इन वर्गो के उम्मीदवारों के लिये योग्यताओं

---

1. राष्ट्रीय सहारा, 26 जनवरी 2002

2. दैनिक जागरण, 17 दिसम्बर 2002

में कुछ छूट दी जाती है। यद्यपि इन प्रावधानों से कुछ लाभ अवश्य हुआ है तथापि नौकरियों में और विशेषत उच्च पदों पर प्रभावी प्रतिनिधित्व अथवा समान सहभागिता के स्तर तक पहुंचने के लिये अभी इन जातियों व जनजातियों को एक लम्बा सफर तय करना है। नवीनतम जानकारी के अनुसार –

केन्द्रीय सेवाओं में अनुसूचित एवं जनजाति का प्रतिनिधित्व

1995	कुल	अनुसूचित	%	जनजाति	%
प्रथम श्रेणी	0065408	006637	10.14	1891	2.89
द्वितीय श्रेणी	0108857	013797	12.67	2913	2.68
तृतीय श्रेणी	2341863	378172	16.15	133179	5.69
चतुर्थ श्रेणी	1041082	221380	21.26	67453	6.48

(सफाई कर्मियों को नहीं सम्मिलित किया गया है ।)

सार्वजनिक उपक्रमों में अनुसूचित एवं जनजाति का 1 जनवरी 1996 तक प्रतिनिधित्व

1995	कुल श्रमिक बल	अनुसूचित	%	जनजाति	%
ए	198625	16710	8.41	4505	2.27
बी	164402	15921	9.68	5788	3.52
सी	1132860	216801	19.14	98816	8.72
डी	1973141	356366	18.06	160067	8.11

(सफाई कर्मियों को नहीं सम्मिलित किया गया है ।)

सार्वजनिक उपक्रमों के बैंकों में अनुसूचित एवं जनजाति का 1 जनवरी 1996 तक प्रतिनिधित्व

वर्ग	कुल श्रमिक बल	अनुसूचित	%	जनजाति	%
अधिकारी	252898	28102	11.11	9235	3.65
लिपिक	473133	69493	14.69	22269	4.71
निम्न श्रेणी	218980	62400	28.49	12794	5.48

स्त्रोत : अनुसूचित एवं जनजाति, राष्ट्रीय आयोग नई दिल्ली की चौथी रिर्पोट, वोल्यूम – 1 (1996, 1997-98)

इस प्रकार आरक्षण पर आधारित विशेष संरक्षण के बावजूद अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों का प्रतिनिधित्व सरकारी नौकरियों में उनकी जनसंख्या के अनुपात में कम है। इसके प्रमुख कारण निम्नवत हैः–

1. निम्न पदों पर ही आरक्षण प्रभावी हो सका है ऊँचे महत्वपूर्ण पदों पर तो उनकी संख्या

नगण्य है इसमें प्रमुख बाधा यह है कि एक ओर तो इन जातियो, के योग्य उम्मीदवारों का उपलब्ध न होना है, वही दूसरी ओर भर्ती करने वाले अभिकरणों में इन जातियों के उम्मीदवारों के प्रति इस दुर्भावना युक्त अभिवृत्ति का पाया जाना भी कि ये जातियां इन पदों के योग्य नहीं है।[1]

2. आरक्षण के सरकारी आदेश होने के बाद क्रियान्वयन में ढ़ील बरती जाती है उदाहरणार्थ सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकेण्डरी एजुकेशन ने पदोन्नति पर लागू होने वाले आरक्षण के आदेशों को 5 वर्ष तक लटकायें रखा और बाद में अनुसूचित जातियों व जनजातियों के आयुक्त के हस्तक्षेप पर ही इन आदेशों को क्रियान्वित किया।[2]

3. कई बार तो यह भी होता है कि भर्ती अभीकरण या नीति निर्माता पदों का आरक्षण समाप्त करने के प्रस्ताव तक रख देते है जबकि न्यूनतम योग्यताओं वाले उम्मीदवार उपलब्ध होते है।[3] पिछले कुछ वर्षो के लिए क, ख, ग, घ, में सीधी भर्ती के लिये रिक्त पदों का आरक्षण समाप्त करने के प्रस्ताव तक रख देते है जबकि न्यूनतम योग्यताओं वाले उम्मीदवार उपलब्ध होते हैं।[4]

इस तरह आरक्षण को पूरी तरह से लागू नहीं किया गया।[5] फिर भी इस आरक्षण व्यवस्था के कारण दलितों में एक मुखर मध्यम वर्ग के उद्‌भव के लिये भौतिक आधार प्रदान किया है। फिर भी दलितों के मध्य से एक संगठित मध्यम वर्ग का उभार अभी कई दशक ले सकता है।[6] सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के सवैधानिक आरक्षण व्यवस्था को व्यवहारिक रूप से प्रभावी बनाने के लिये 81 सवैधानिक संशोधन अधिनियम 2000 और 82 संवैधानिक संशोधन अधिनियम 2000 महत्वपूर्ण है। "The 81st Amendment empowers the state to fill up backlog vacancies of SC/ST as special group and the 50% ceiling of the reservation will not be applicable In case of filling up of backlog of quota . The 82nd Amendment empowers the

---

1. महेशचन्द्र शर्मा, "सेवाओं में आरक्षण", समरस सहभागिता की खोज, विचार मंथन, वर्ष – 4, अंक – 2, फरवरी 1982, पृष्ठ – 49 – 58
2. घनश्याम शाह, मुमताज अली खान, प्रोटेक्टिव डिस्क्रीमिनेशन
3. Report of the commissioner for scheduled caste and scheduled tribes, 1975-76 and 1976-77 P.No. 50 - 51
4. भारत 1990, पृष्ठ – 204
5. एस0 के0 थोरात, 21वीं सदी में दलित, सत्यशोधक सम्वाद, मई 1999, पृष्ठ – 15
6. चन्द्रभान प्रसाद, विश्वासघात

state to relax qualifying maps in any examination or lowering the standards of evalution, for reservation in matters of promotion to any class or classes of service or posts for SC/ST's.[1]

इस प्रकार हमारे संविधान को लागू हुये आज आधी शताब्दी से अधिक का समय बीत चुका है। डा0 अम्बेडकर ने आरक्षण व्यवस्था के द्वारा दलित–वंचितों को लोकतन्त्र में निर्णायक भागीदारी प्रदान की। और यह सत्य है कि ''अम्बेडकर द्वारा संविधान में प्रदत्त प्रतिनिधित्व के अधिकार के चलते दलित समाज को शिक्षा का अवसर प्राप्त हुआ। लोकसभा एवं राज्य विधान सभाओं में लगभग एक चौथाई सदस्य दलित समाज से आने लगे। राज्य के तहत नौकरियों में की जगह मिली......................कुल मिलाकर अम्बेडकर के बाद का दलित समाज, अम्बेडकर के समय के दलित समाज से हर मायने में बेहतर स्थिति में पहुंच गया। दलित समाज लड़ने में अब अधिक सबल हो गया।''[2] शिक्षा के कारण अपने परम्परागत धंधों से भी दलितों को मुक्ति मिली है। आज चर्मकार या कसाई के बच्चे पढ़ लिखकर किसी भी दूसरी नौकरी में जा सकते है। आरक्षण की वजह से संगठित क्षेत्र में तो दलितों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ पर असंगठित क्षेत्र में उसकी स्थिति खराब हुई है। अतएव उनकी भागेदारी को और शसक्त बनाने हेतु सरकार को अभी और कोशिश करनी होगी। आरक्षण तक पहुंचने के जिन संसाधनों की आवश्यकता है उनका इनके पास अभाव है, अतः उन सुविधाओं की ओर ध्यान देना होगा।

आज लोकसभा और राज्यविधानसभाओं में यद्यपि लगभग एक चौथाई सदस्य दलित समाज से आते हैं, लेकिन संख्यात्मक हिस्सेदारी ही पर्याप्त नहीं है इसे गुणात्मक स्वरूप देना होगा। इसके लिए आरक्षित सीटों से चुने जाने वाले दलित प्रतिनिधियों को दलितों की शैक्षिक आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समानता के लिए सशक्त ढंग से कार्य करना होगा ।

लेकिन इस सत्य को भी झुठलाया नहीं जा सकता कि आरक्षण का फायदा दलित वर्ग के क्रीमीलेयर ने ही उठाया है । 1996 अम्बेडकर शोध एवं शिक्षा संस्थान के एक सर्वे के अनुसार "पिछले दो दशकों में आई0ए0एस0, आई0पी0एस0 तथा पी0सी0एस0 जैसी परीक्षाओं में उन्हीं दलित परिवार के बच्चे सफल हुये हैं जो पहले से इन सेवाओं में से तथा अन्य सरकारी

---

1. The Bhopal Documents, Page No. 122

2. चन्द्रभान प्रसाद, (लेख) समकालीन दलित चेतना, मनोरमा – ईयरबुक– 2001, पृष्ठ – 21

योजनाओ के लाभों पर भी इस दलित वर्ग ने 86.4 प्रतिशत हिस्से पर कब्जा कर लिया ।[1] यह रिपोर्ट पिछले आधा दशक के अनुसूचित जाति – जनजाति विकास पर कुछ विशेष क्षेत्रों पर आधारित है । इस प्रकार "दलित वर्ग के क्रीमीलेयर के अधिकारियों, व्यवसायिकों के बच्चे ही आरक्षण का पूरा लाभ उठा रहे हैं और जनसाधारण इससे वंचित है । अतः आरक्षण सुविधा को जहाँ एक ओर उसके वास्तविक हकदार में बांटना होगा, वहीं दूसरी ओर सवर्णों में यही भावना पैदा करनी होगी कि आरक्षण मेहरबानी नहीं, एक राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है ।

एक प्रश्न यहाँ निःसंदेह आकर ठहर जाता है कि "आगामी 50 वर्षों में जब आर्थिक उदारीकरण के चलते तमाम सरकारी नौकरियाँ समाप्त हो जायेंगी, तब दलित समाज का क्या होगा? सरकारी नौकरियों के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं ढूँढा गया तो आगामी 50 वर्षों में दलित समाज गुलामी के नये दौर में प्रवेश कर जायेगा .... आज पैदा होने वाला दलित शिशु जब नौजवान होगा तो उसे लगेगा डा0 अम्बेडकर का दलितों की शिक्षा एंव आर्थिक प्रश्नों से कोई लेना देना नहीं है । इस खतरे से बचने की जरूरत है तथा मुक्ति की सफल लड़ाई के लिए मुक्तिदाता डा0 अम्बेडकर की रक्षा करनी होगी ।"[2] डा0 अम्बेडकर ने आरक्षण के द्वारा दलितों को उस स्तर पर खड़ा करना चाहा था जहाँ पहुँचकर आने वाले समय में अपनी लड़ाई वह स्वयं लड़ सकें। लेकिन दुर्भाग्य है कि दलित नेतृत्व अभी तक भावनात्मक मुद्दों की राजनीति कर रहा है । यही कारण है डा0 अम्बेडकर के बाद दलितों ने कोई बड़ी लड़ाई नहीं जीती । हाँ, इस संदर्भ में दलित समाज के बुद्धिजीवी वर्ग ने 12–13 जनवरी सन् 2002 में भोपाल सम्मेलन में अमरीका में प्रचलित डाइवर्सिटी के सिद्धान्त पर एक स्वर से सहमति दी । डाइवर्सिटी यानि विविधिता का अर्थ है कि अश्वेतों, रेड इण्डियन्स आदि का जो प्रतिशत अमेरिका की जनसंख्या में है उसी अनुपात में अश्वेत आदि अमेरिका के हर क्षेत्र – सरकारी, गैर–सरकारी नौकरियों और उद्योग, व्यवसाय, पूँजी बाजार एवं शिक्षा आदि में दिखाई पड़ते हैं । अमेरिका में प्रचलित डाइवर्सिटी सिद्धान्त बहुत कारगर हुआ। भारत में यह सम्भव हो सकता । मध्य प्रदेश की द्विग्विजय सरकार इस डाइवर्सिटी के सिद्धान्त के प्रति संकल्पित है ।

---

1. नवभारत टाईम्स – 1998

2. चन्द्रभान प्रसाद, (लेख), दूसरी गुलामी से बचने के लिए, राष्ट्रीय सहारा, 5 अप्रैल 2002

दलित राजनीति :-

आज भारत के दलित नेतृत्व विहीन व दिशाविहीन है। कोई नेता या संगठन ऐसा नहीं दिखाई देता जो डा0 अम्बेडकर के मिशन को सही दिशा में आगे बढ़ाये।[1] राजनैतिक क्रान्ति से सामाजिक क्रान्ति करना अधिक कठिन होता है। डा0 अम्बेडकर ने अछूतों का हृदय परिवर्तन करके उन्हें उनके राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अधिकारों के प्रति सचेत किया था। वास्तव में वह दलित हितों के प्रतिबद्ध नेता थे। उनके बाद आज दलित अपने स्वाभाविक अस्तित्व को तभी प्राप्त कर सकता है जब इसके बीच से ही दलितों के लिये प्रतिबद्ध नेतृत्व उभरेगा जिसके पास वर्गगत समस्याओं की ठोस जानकारी-हो नहीं तो दलित संगठनों का जो हश्र विगत वर्षो में होता रहा है, वहीं होता रहेगा । रिपब्लिकन पार्टी से लेकर बहुजन समाज पार्टी तक दलित संगठनों का इतिहास गवाह है कि सभी संगठन व्यक्ति केन्द्रित है और धीरे–धीरे व्यक्ति तक ही सीमित रह गये।[2]

दलितों के पास अम्बेडकर के बाद ईमानदारी और प्रतिबद्ध नेतृत्व की नितांत कमी रही। जगजीवन राम को जितनी लोकप्रियता अपने जीवन काल में मिली संभवतः उतनी किसी दलित नेता को नहीं मिली लेकिन क्या उन्होने कभी अपने इस प्रभाव का इस्तेमाल इस वर्ग को संगठित करने और अपने हितों के लिये संघर्ष करने की प्रेरणा देने के लिये किया ? इसका उत्तर स्पष्ट नकारात्मक है। हाँ जब सत्ता के गलियारों में उनका वांछित नहीं मिला और उनके समकक्ष स्व0 इन्दिरा गांधी ने एक दूसरे हरिजन नेता श्री वी0 पी0 मौर्य को खड़ा कर दिया तो उनका सम्मान आहत हो उठा और भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या नामक पुस्तक लिखकर सम्भवतया सत्तारूढ दल को यह बताने की कोशिश की कि वे एक विपुल जनसंख्या वाले वर्ग के प्रतिनिधित्व है। लेकिन उन्हें यह याद नहीं रहा कि भारतीय राजनीति में डा0 अम्बेडकर का कद छोटा करने के लिये ही उन्हें लाया गया था । यह भटकाव दलित नेतृत्व में सदैव ही देखने को मिलता है।[3]

---

1. गामा राम – नेतृत्व विहीन दलित, भारत अश्वघोष, अक्टूबर 1998, पृष्ठ – 22
2. एन0 सिंह – "डा0 अम्बेडकर और उनके बाद का दलित नेतृत्व", उद्धृत – दलित साहित्य, 1999, पृष्ठ – 94
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 99

श्री भोलापासवान, रामधन, वी० पी० मौर्य, चाँदराम, रामविलास पासवान आदि कई दलित नेता राजनैतिक परिदृश्य पर उभरे, लेकिन यह लोग भी डा० अम्बेडकर के दलित एजेण्डा शिक्षा, संगठन, संघर्ष को आगे नहीं बढ़ा पाये ।

कांग्रेस के सौजन्य से ही सही, अगर डा० अम्बेडकर से अलग बाबू जगजीवन दलितों के नये नेता के रूप में उभरे तो इस पर बहस का कोई कारण नहीं खासकर तब जबकि खुद दलितों के एक बड़े वर्ग ने उन्हें अपने नेता के रूप में स्वीकार कर लिया। बहैसियत दलित नेता जगजीवन राम सत्ता के शीर्ष पदों तक पहुंचे लेकिन जिस दलित अँगडाई पर सवार हो कर वे सत्ता शिखर पर चढ़े वहाँ से समाज के सर्वांगीण विकास में कोई बड़ा नीतिगत फैसला नहीं कर पाये [1] हाँ रेलवे व डाक तार विभाग में वे मंत्री रहे तथा यही वे दो विभाग है,जहाँ दलितों का आरक्षण लगभग पूरी तरह से लागू हुआ।[2]

आज कुछ लोग बुद्धिप्रिय मौर्य का नाम तक भूल गये हो लेकिन रिपब्लिकन पार्टी के मंच पर रहने तक उनका पद जगजीवन राम से कतई छोटा नहीं था। सत्ता राजनीति के कारण बुद्धिप्रिय मौर्य भी कांग्रेस के समुन्दर में आ गये। बुद्धिप्रिय मौर्य के दलित राजनीति में अप्रांसगिक हो जाने के बाद कांग्रेस की नजर सरकारी नौकरी में सेवारत जगजीवन राम की पुत्री मीरा कुमार पर पड़ी। कांग्रेस ने मीरा को संसद में भेज दिया ताकि वह जगजीवन राम की छिन्न–भिन्न विरासत को उनकी झोली में डाल सके। रामविलास पासवान कभी चंद्रशेखर और विश्वनाथ प्रताप सिंह से जुड़ें रहे । लम्बे भटकाव के बाद मंडल आयोग से रामविलास पासवान की राजनीति की दिशा एक समय मिलती दिखी थी। दलितों के साथ–साथ वह पिछड़े वर्ग को भी उद्देलित करने में सफल हुये थे। परन्तु वह भी दलितों की शिक्षा एवं रोजगार के विषय में कोई निर्णायक लड़ाई नहीं छेड़ पाये। बदले में उन्होनें 'आत्मसम्मान' का भावनात्मक नारा दिया था।[3]

1977 में जनता पार्टी के सत्ता में आने और उसके टूटने के क्रम में दो शक्तियाँ कांग्रेस के विरोध में सत्ता के दावेदार के रूप में उभरकर आयी। साम्प्रदायिक हिन्दुवादी शक्ति

---

1. राजकुमार सिंह (लेख) दलित राजनीति, संडे आब्जर्वर, 19 – 25 अप्रैल 1992
2. चन्द्रभान प्रसाद, विश्वासघात, पृष्ठ – 185
3. राजकुमार सिंह (लेख) दलित राजनीति, संडे आब्जर्वर, 19 – 25 अप्रैल, 1992

जिसका प्रतिनिधित्व भाजपा करने लगी और जाट, यादव कुर्मी आदि पिछड़ी जातियों की राजनीतिक शक्ति जो उत्तर भारत में कुछ समय तक चरण सिंह के इर्द–गिर्द संगठित हुई।

इसी काल में दलित राजनीति जो अब तक काग्रेंस की धरोहर थी। स्वतन्त्र रूप से अपना स्थान बनाने की दिशा में क्रियाशील हुई। दलितों को आरक्षण के कारण प्रशासनिक सेवाओं में तो स्थान मिलने लगा था, लेकिन राजनीति में उनका स्थान नगण्य था। जो कुछ थोड़ा प्रभाव राजनीति में था, वह कांग्रेस के वोट बैंक रूप में ही । चूंकि दलित समाज के सबसे गरीब वर्ग जैसे भूमिहीन मजदूर नगरों के सफाई मजदूर थे उनका स्वाभाविक रिश्ता समाजवादी आन्दोलन से बनता था। लेकिन समाजवादी आन्दोलन स्वयं दिशाहीन हो गया था और सारी दुनिया के अनुभवों की पृष्ठभूमि में पश्चिमी ढंग की औद्योगिक व्यवस्था के संबध में कौन सी नीति या रणनीति बनायी जा सकती है, इस सवाल पर दुविधा ग्रस्त होने से पक्षाघात का शिकार था। इससे दलितों की राजनीति व्यवस्था परिवर्तन की अर्थनीति से विमुख हो शुद्ध जातिवादी मुहिम में शामिल हो गयी इनके लिये व्यवस्था परिवर्तन सिर्फ जाति व्यवस्था के पारम्परिक अन्याय से मुक्त रह गया। यह अपने आप में महत्वपूर्ण था लेकिन दलितों को समाज परिवर्तन के व्यापक लक्ष्य से काटने वाला था जिसे समाज के तमाम शोषित और गरीब लोगों को जोड़कर ही प्राप्त किया जा सकता था।[1]

दलित राजनीति, जिसके व्यापक सामाजिक परिवर्तन के मुहिम से जुड़ने की सबसे अधिक संभावना थी अपने को अतीत की कटु यादों और उसके वर्तमान, अवशेषों से जूझने मे ही सिमट गयी है । इस मुहिम के अगुआ बनकर कांशीराम उभरे । 6 दिसम्बर 1978 को इन्होने अनुसूचित जाति, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक समुदाय के शिक्षित और अपेक्षाकृत जागृत वर्ग को एक अखिल भारतीय संगठन के साथ जोड़ने में सफलता प्राप्त की। वामसेफ को कांशीराम ने पूरी तरह गैर राजनीतिक और गैर आन्दोलन कारी संगठन बनाया। लेकिन वामसेफ ने ही वह जमीन तैयार की, जिस पर आज बहुजन समाज पार्टी की फसल खड़ी है। वामसेफ के माध्यम से कांशीराम ने आर्थिक संसाधन और कार्यकर्ता तो जुटा लिये लेकिन अपने आन्दोलन के विस्तार के लिये उन्हें अब एक ऐसे संगठन की जरूरत थी, जो बहुजन समाज को अपनी सामाजिक लड़ाई के लिये खड़ा कर सके, इसके लिये 6 दिसम्बर 1981 को दलित, शोषित, समाज संघर्ष समिति

---

1. सच्चिदानन्द सिन्हा – राजनीतिक संकट किसे कहते हैं, पृष्ठ – 16, उद्यृत – भारत का राजनीतिक संकट, संपादक राजकिशोर

की (डी0एस0फोर) का गठन किया गया।[1] वामसेफ और डी0 एस0 फोर के द्वारा बहुजन चेतना के विस्तार को राजनीति संघर्ष से जोड़ने के उद्देश्य से कांशीराम ने 14 अप्रैल 1984 को बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की। बहुजन समाज पार्टी दलितों की प्रथम ऐसी राजनीतिक पार्टी है जिसे राष्ट्रीय पार्टी की मान्यता मिली है। इस पार्टी ने उत्तर प्रदेश में सरकार बनाने में सफलता भी पायी है। इसकी नेता मायावती तीसरी बार इस प्रदेश की मुख्यमन्त्री बनी है। लेकिन इस सामयिक आधारहीन सफलता से किसी दूरगामी भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।[2] क्योंकि राजसत्ता के में आंशिक हिस्सेदारी से आम दलित की स्थिति नहीं सुधरेगी । दलित विकास आम विकास के प्रखर कार्यक्रम से ही संभव है, जिसके बारे में दलित राजनीति सोचना तक नहीं चाहती, जबकि सर्वाधिक सरोकार उसी का होना चाहिये।[3] लेकिन इस बातों से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय स्तर पर दलित चेतना के उभार का श्रेय कांशीराम को देना होगा और इस नाते उन्होने ऐतिहासिक काम किया है।

डा0 अम्बेडकर के नाम से दलित राजनीति करने वाली किसी भी राजनीतिक पार्टी ने अब तक सचेतन रूप से अनिवार्य शिक्षा एवं भूमि सुधार के मामलों को उठाया है .... दलितों की अशिक्षा अन्धविश्वास के चलते ही डा0 अम्बेडकर ने दलितों को नारा दिया था – "शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो" । अनिवार्य शिक्षा से दलितों का सुनिश्चित रूप से विकास होता, इसमें दो राय नहीं है। सामान्य शिक्षा कानूनों के तहत भी अपनी शिक्षा के दौरान तमाम अनचाही किस्म के संघर्षो से गुजरकर भी दलितों का एक छोटा हिस्सा शिक्षित हुआ है। अतः शिक्षा को अनिवार्य बनाने से सबसे अधिक फायदा दलितों को ही होता क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में भी तमाम आर्थिक दबावों एवं भेद–भावों के चलते सबसे अधिक नुकसान दलितों को ही हुआ है।''[4]

भूमि सुधार कानून अर्थात जमीन जमीदारों से लेकर दलित किसानों के वापस अर्थात् जमीन जोतने वाली की व्यवस्था को लागू करने से निश्चित रूप से दलितों को बहुत फायदा

---

1. विनोद अग्निहोत्री, कांशीराम और उनकी बसपा, पृष्ठ – 81, उद्यृत – हरिजन से दलित, सम्पादक – राजकिशोर
2. राजकिशोर – जाति कौन तोड़ेगा, पृष्ठ – 134, उद्यृत – जाति का जहर, सम्पादक – राजकिशोर
3. राजकिशोर – सम्पादकीय – जाति का जहर, पृष्ठ – 9
4. मणि शेखर – राष्ट्रपति का साक्षात्कार और दलित राजनीति, भारत अश्वघोष, पृष्ठ – 33–34

होता। लेकिन अनिवार्य शिक्षा एवं भूमि सुधार की बात डा0 अम्बेडकर के नाम की माला जपने वाली पार्टियाँ ही नही उठाती है, राष्ट्रीय हित एवं दलितों के हितों के नाम पर में कांग्रेस और भाजपा से गठबन्धन करके चुनाव जीत लेती है। लेकिन दलित हित में अनिवार्य शिक्षा एवं भूमि सुधार की मांगे नहीं उठायी जाती है।[1]

डा0 अम्बेडकर ने गणतान्त्रिक संविधान को एक व्यक्ति एक वोट अश्पृश्यता के उन्मूलन भेदभाव एवं अन्य लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों की सीमित अर्थों में राजनीतिक समानता की दिशा में प्रगति माना। दलितों की वास्तविक मुक्ति का संघर्ष जारी रहना था, और वह कार्य प्रणाली को रूप देने वाले थे। उनके द्वारा बुद्ध धम्म का ग्रहण भारत की मुक्ति की दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम था। उनहें इसे नैतिकता सभ्यता और चेतना की स्वतन्त्रता में जमाये समाजवादी विकल्प की दिशा में विकसित करना था।[2] परन्तु आज दलित राजनीति इस बिन्दु पर मौन है।

डा0 अम्बेडकर भारत में नायक पूजा, व्यक्तिवाद और तानाशाही के खतरों के सम्बन्ध में बहुत चिंतित थे विशेषतः इसलिये क्योंकि भारत में भक्ति की परम्परा रही है। उन्होने इस तरह के खतरों के प्रति कड़ी चेतावनी दी और लोकतान्त्रिक मूल्यों और संस्थाओं की रक्षा करने के लिये सावधान और सर्तक रहने की आवश्यकता पुनश्च बाबा साहब के अनुयायी नायक पूजा और तानाशाही प्रवृत्तियों का बचाव इस आधार पर कि जो कुछ ब्राह्मण ने किया है दलितों को भी करना चाहिये, व इसे वे न्यायोचित ठहराते है।[3]

दलित चेतना के संदर्भ में डा0 अम्बेडकर के सम्पूर्ण न्याय दर्शन में तीन केन्द्रीय तत्व परिलक्षित होते है –[4] 1. वर्णसमाज का विनाश 2. दलित समाज की मुक्ति 3. समता एवं सार्वभौमिक न्यायिक आधार पर दलित नेतृत्व में नये समाज की सरंचना । डा0 अम्बेडकर को जब संविधान रचने का मौका मिला तब वह निश्चित हो गया कि वर्ण समाज की नियमकारी भूमिका का त्रिकोण और लोकतन्त्र की मूल्य पद्धति पर आधारित नई शासन व्यवस्था का उदय। नई लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था में राज्य को दोहरे कर्तव्य निभाने की कल्पना – प्रथम नये समाज की

---

1. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 35
2. थामस मैथ्यू, सावंतराम, अशोक भारती – क्रांतिप्रतीक अम्बेडकर, पृष्ठ – 131
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 131
4. चन्द्रभान प्रसाद, समकालीन दलित चेतना, मनोरमा – ईयरबुक – 2001, पृष्ठ – 20–21

सरंचना, दूसरा कानून व्यवस्था का पालन। इस प्रक्रिया में दलित मुक्ति हेतु संविधान में दलित अधिकारों की गारन्टी इन दोनों प्रक्रियाओं के उपसंहार के साथ नये समाज के निर्माण में दलित नेतृत्व की अपरिहार्यता इस पूरी प्रक्रिया में राज्य की दलित–उद्धारक की भूमिका की स्थापना। डा0 अम्बेडकर ने दलित राजनीति के सन्दर्भ में तीन महत्वपूर्ण सूत्र छोड़े है – [1]

1– भारत के परम्परागत वर्ण–समाज के अन्दर से प्रगतिशील शक्तियां नहीं उभरेगी जो नष्ट कर एक नये समाज की सरंचना कर डालेगी जैसा यूरोप और दुनिया के अन्य हिस्सों में हुआ है। अतः इस कार्य को आधुनिक राज्य पूरा करेगा।

2– दलित समाज तब तक शासक वर्ग की सारी योग्यतायें हासिल न कर लें – मसलन जब तक दलित जनता अपनी जीविका के लिये दूसरों की भूमि या उद्योग पर निर्भर है, जब तक दलित जनता शिक्षित न हो जाये, जब तक दलित जनता आधुनिक सार्वजनिक संस्थाओं में अपनी भागेदारी स्थापित न कर ले तथा जब तक दलितों में एक प्रकट मध्य वर्ग न पैदा हो जाये, दलित समाज शासक वर्ग नहीं बन सकता ।

3– दलित सामाजिक अल्पसंख्यक है। भारतीय समाज की मुख्य विभाजन रेखा दलित और गैर दलितों के बीच से जाती है। दलित समाज की न तो कोई सामाजिक श्रेणी स्थायी मित्र होगी और न स्थायी शत्रु पर वर्ण समाज दलितों का स्थायी शत्रु होगा और राज्य स्थायी मित्र।''

1956 में डा0 अम्बेडकर का देहावसान हो गया। दलित समाज से उन्हें अपेक्षा थी कि वह इस अम्बेडकरवादी नामक दार्शनिक व्यवस्था से लैस होकर लम्बी लड़ाई में कूद जायेगा। परन्तु आज दलित राजनीति के सन्दर्भ में कई प्रश्न उभरे है –[2]

1– डा0 अम्बेडकर दलितों के रोजमर्रे के जीवन की समस्याओं को फौरी तौर पर लेते थे और उनकी कोशिश रहती थी कि दलित शिक्षित बने और आजीविका के लिये स्वयं के साधनों पर निर्भर बने यानि उत्पादन के साधनों पर इनका अधिकार बन जाये । उनके बाद का दलित नेतृत्व दलितों को शासक वर्ग की योग्यतायें प्रदान कराये बगैर सीधे शासक वर्ग बनने की लड़ाई में जुट गया।

2– आज लगभग आधी दलित आबादी भूमिहीन कृषि मजदूर है तथा आधे से अधिक निरक्षर है पर दलित नेतृत्व दलितों की इन मूलभूत समस्याओं को हल किये बगैर सीधे शासक वर्ग बन जाने

---

1. पूर्वोक्त

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 24

का नारा दे रहा है। दलित चेतना में यह एक बड़ा दोष उत्पन्न हो गया है।

3– डा0 अम्बेडकर केवल अपने समूह के नेता ही नही थे। राष्ट्र की आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं के बारे में उन्होने समाधान परक विचार प्रस्तुत किये । आज समाज की उभरती शक्ति के रूप में उनका चिंतन व्यापक होना चाहिये "अगर पिछड़ो एवं दलितों के नेता राजनीति के अपराधीकरण के बारे में, शिक्षा के गिरते स्तर के बारे में राष्ट्र की संप्रभुता पर खतरे के बारे में आक्रोश और चिंता व्यक्त करेगे तो वे समूहों के नेता नहीं रह पायेगे।"[1]

4– आज दलित नेतृत्व देश के सामाजिक आर्थिक ढांचे के विरूद्ध तो है लेकिन उनकी अपनी आर्थिक नीति क्या होगी इस विषय पर ठोस आर्थिक चिंतन का अभाव है। जैसे कि देश की आर्थिक विषमता को कांशीराम जातीय आधार पर देखते है, उनके अनुसार जमीन और उद्योगों के स्वाभित्व पर सवर्णो का नियन्त्रण है जो दलित पिछड़ों के श्रम के शोषण से मुनाफा कमाते है। लेकिन वह सवर्णो की भूमि अधिग्रहण और उसे भूमिहीन दलितों में बॉटने और उद्योगों पर दलित श्रमिकों के नियंत्रण की बात नहीं करते बल्कि सार्वजनिक भूमि के वितरण और खाली पड़ी भूमि के अधिग्रहण पर ज्यादा जोर देते है। कृषि मजदूरों की मजदूरी और अन्य सुविधायें बढ़ाने के पक्ष में वह जरूर है।"[2]

अतएव यह बहुत स्वाभाविक सवाल है कि दलित नेतृत्व की इस लंबी श्रंखला के बावजूद डा0 अम्बेडकर का सपना साकार क्यों नहीं हो सका ? क्योंकि डा0 अम्बेडकर के मार्ग पर चलने के लिये आवश्यक है "ऐसी राजनीति जो यथार्थ में व्यवहार में और सचमुच में दलितों की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक विकास के लिये की जाती है।"[3] डा0 अम्बेडकर ने दलितों के विकास के लिये शिक्षा को मूल माना और इसके लिये काफी रचनात्मक कार्य शुरू किये लेकिन डा0 अम्बेडकर के बाद दलित नेतृत्व में शिक्षा और ज्ञान के साधन के प्रति रूझान कम दिखायी देता है । आज के दलित नेतृत्व की दृष्टि दलित राजनीति से आगे जाती ही नही, देश का नागरिक होने कारण दलित की व्यापक भूमिका। डा0 अम्बेडकर केवल दलित समस्याओं के

---

1. किशन पटनायक, तीसरी दुनिया का जनतंत्र, उद्यृत – भारत का राजनीतिक संकट, पृष्ठ – 152
2. विनोद अग्निहोत्री, कांशीराम और उनकी बसपा, पृष्ठ – 87
3. अविनाश चन्द्र गोचर, दलित राजनीति की समस्यायें – 1, उद्यृत – दलित लिब्रेशन टुडे, नवम्बर – 1996, पृष्ठ – 12

बारे में ही नहीं सोचते थे, उनका दृष्टिकोण व्यापक था । भारत–विभाजन, रूपये की समस्या पर उन्होने लंबा प्रबन्ध लिखा । अतः दलित राजनीति अपने सन्दर्भ एवं सरोकारों को व्यापक करके ही अपने को मुक्त कर सकता है ।

भूमि का राष्ट्रीकरण डा0 अम्बेडकर का प्रिय मुद्दा था । जिस पर उन्होने 'स्टेट एण्ड माइनॉरिटी' में विशेष सिद्धांत प्रस्तुत किये आज लगभग आधी आबादी भूमिहीन कृषि मजदूरों की है तथा बगैर भूमि के पुनर्वितरण के उनका जीवन नारकीय बना रहेगा पर आज इस पर दलित आन्दोलन चुप है। [1]

अतः डा0 अम्बेडकर के इस आर्थिक न्याय के पहलू पर दलित नेतृत्व का सजगता से विचार करना होगा। डा0 अम्बेडकर के बाद दलितों ने दलित समाज के लिये एक भी बड़ी लड़ाई नहीं जीती । अतः दलितों वचिंतों को शिक्षा, भूमि सुधार, रोजगार आदि की समस्याओं के हल को डा0 अम्बेडकर की अन्तर्वस्तु से जोड़कर दलित राजनीति एक क्रान्तिकारी कदम उठा सकती है। इसके लिये इससे पूर्व दलित राजनीति को अपनी दिशा तय करनी होगी, शून्य को भरना होगा क्योंकि दलित आन्दोलन की एक बड़ी समस्या आज राजनीति को लेकर है। "कांग्रेस में दलित नेताओं के हाशिये पर चले जाने तथा रामविलास पासवान जैसे नेता द्वारा समय–समय पर प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ हाथ मिला लेने के बाद बहुजन समाज पार्टी ही दलित राजनीति की पहचान बन गयी है। यूँ महाराष्ट्र में रिपब्लिकन पार्टी भी है लेकिन आठ धड़ों में विभक्त होने के कारण वह पूरे देश में तो क्या महाराष्ट्र में भी उतनी असरकारी नहीं रह गयी हैं। बहुजन समाज पार्टी की स्वीकार्यता और उसको समर्थन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। लेकिन उत्तर प्रदेश में सत्ता पर काबिज होने के प्रयास में बसपा द्वारा जिस तरह भाजपा के साथ गठजोड़ किया गया है। उसने यह प्रश्नचिन्ह लगा दिया है कि ब्राह्मणवादियों, मनुवादियों से दोस्ती कर क्या बसपा ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष जारी रख सकेगा।"[2]

भारतीय समाज एक तीखे संक्रमण के दौर से गुजर रहा है । सामाजिक संरचना में उथल–पुथल और केन्द्रीय राजनीति में पिछले वर्षों से जारी अस्थिरता इसी प्रक्रिया के अंग हैं ।

---

1. चन्द्रभान प्रसाद, दूसरी गुलामी से बचने के लिए, राष्ट्रीय सहारा, 5 अप्रैल 2002
2. डा0 जयप्रकाश कर्दम – 21वीं शताब्दी में दलित, आंदोलन के समक्ष चुनौतियाँ (पत्रिका) – अम्बेडकर इन इण्डिया, सम्पादक – दयानाथ निगम

वंचित और उत्पीड़ित तबके सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन एवं निर्णायक राजनीतिक दावेदारी के लिए दृढ़ता से कदम बढ़ा रहे हैं । इसपर दलित उभार को नेतृत्व देने का दावा करने वाले और अपने को दलितों का असली रहनुमा बताने वाले लोगों के मौजूदा राजनीतिक आचरण और वैचारिक लिजलिजेपन इस प्रक्रिया के सामने कई प्रश्न उठ खड़े हुये हैं ।(1) आज जब भाजपा का ब्राह्मणवादी साम्प्रदायिक एजेण्डा गुजरात में एक बार फिर व्यापक रूप से उजागर हो चुका है तभी सुश्री मायावती उसका विरोध करने के बदले उनसे साँठ–गाँठ कर सत्ता में जमीं हैं । यह एक राजनीतिक विश्वासघात है। बसपा .... मनुवाद ब्राह्मणवाद की रट लगाते लगाते उसी खेमे में पहुंच गये।(2)

डा0 तुलसीराम के अनुसार सुश्री मायावती ने गुजरात में हिन्दु राष्ट्री की अवधारणा को साकार करने में सहायता देने को न सिर्फ़ अपना नैतिक कर्तव्य समझा बल्कि उन्होने धर्म की राजनीति का विरोध करने वालों पर जमकर हमला भी बोला। इन सबके पीछे दलित सत्ता की एक कुतार्किक अवधारणा है जिसे वे संघ परिवार की सहायता से साकार करना चाहतीं हैं। क्योकि तीन – तीन बार उसके ही सहयोग से वे उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बन चुकी हैं।(3)

दूसरे डा0 अम्बेडकर ने समाज की जड़ व्यवस्था को झकझोरने का कार्य किया। उन्होने भावनात्मक मुददों की जगह समाज के ठोस यथार्थ पर मौजूदा समस्याओं के लिये वैचारिक संघर्ष किया परन्तु आज की दलित राजनीति अभी भी भावनात्मक मुददों पर जमी हुई है। वे दलित मुक्ति के प्रयासों से दूर हो रही है। यदि दूसरी गुलामी से बचना है तो डा0 अम्बेडकर की विरासत की रक्षा करनी होगी और इसके लिये उसे अपने भटकावों से आगे बढ़ते हुये मूलगामी समाजिक बदलाव के एजेन्डे की ओर बढ़कर उनकी विरासत को तार्किक परिणति तक ले जाना होगा। अर्थात समाज में व्याप्त जातिगत एवं धार्मिक पाखण्ड गैरबराबरी पर जी0 बी0 पन्त से परे नये संस्कृति का वाहक बनना होगा इसके लिये डा0 अम्बेडकर के विचारों से निर्मित मूलदृष्टि जो तर्क वितर्क के धरातल पर शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक समस्यओं के

---

1. रामसुजान अमर – दलित दर्शन और राजनीति का द्वंद
2. रामसुजान अमर – हिन्दुत्व की माया और दलित
3. डा0 तुलसीराम – सम्पादकीय, राष्ट्रीय सहारा – 23 दिसम्बर 2002 (लेख) – साम्प्रदायिकता की गिरफ्त में दलित राजनीति

यथार्थपरक समाधान को प्रस्तुत करती है व्यापक रुप से अपनाना होगा।

दलित राजनीति के समक्ष आज के तारीख में ये कई चुनौतियॉ है, जिन पर उन्हें गम्भीरता से विचार करना होगा। निश्चित रूप सें डा0 अम्बेडकर के विचारों से निर्मित अन्तर्दृष्टि को अपना कर ही वह सफल और समृद्ध हो सकती है।

अष्ठम अध्याय

उपसंहार

1. डा0 अम्बेडकर का योगदान
2. डा0 अम्बेडकर के न्याय दर्शन की प्रासंगिकता

डा0 अम्बेडकर का योगदान

डा0 अम्बेडकर का व्यक्तित्व एवं योगदान बहुआयामी है । एक समाजशास्त्री, समाज सुधारक, अर्थशास्त्री, राजनीति–चिंतक, राजनेता, धर्म के व्याख्याकार, शिक्षाशास्त्री एवं संविधान विद् के रूप में उनकी भूमिका अद्वितीय है । इन सभी रूपों में उनका योगदान न्याय के विस्तार के प्रयोगक्षेत्र हैं । वास्तव में डा0 अम्बेडकर ने अपने विभिन्न विचारों को परखने की कसौटी को न्याय, स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व से जोड़ा ताकि आधुनिक मनुष्य और समाज को खुला व स्वतन्त्र रूप दिया जा सके । वह कट्टर परम्परावाद और निरर्थक पुरातनवाद से हटकर एक नई व्यवस्था के पोषक थे । उनकी यह सशक्त मान्यता थी कि भारतीय विचार–पद्धति में बुनियादी परिवर्तन हो और पूर्वाग्रही विकृत मूल्यों की जगह वैज्ञानिक सोच के द्वारा आम आदमी के कल्याण एवं उत्थान की दृष्टि से प्रयास किये जायें । निश्चित रूप से, उन्होंने वैज्ञानिक विचार पद्धति को आगे बढ़ाया ।

डा0 अम्बेडकर सामाजिक परिवर्तन के अग्रदूत थे । देश के कल्याण के लिए उन्होनें राजनीतिक परिवर्तन से ज्यादा सामाजिक परिवर्तन को दिया । सामाजिक विकृतियों, धर्म के नाम पर चल रही असमानतामूलक अन्यायपरक कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए उन्होंने जाति–व्यवस्था हिन्दू धर्म का निर्भय होकर वैज्ञानिक विश्लेषण किया । उन्होंने इंगित किया कि जाति व्यवस्था को ध्वस्त किये बिना भारत में यथार्थपरक जनवादी–करण की प्रक्रिया की शुरूआत नहीं हो सकती । उनके आगमन से सामाजिक अन्याय और असमानता के विरूद्ध विद्रोह को बढ़ावा मिला। अस्पृश्य लोगों के लिए सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए डा0 अम्बेडकर ने 1924 में "बहिस्कृत हितकारिणी सभा" की स्थापना की । लेकिन लेखन और उपदेश के साथ–साथ उन्होंने अस्पृश्यों के लिए नैतिक, सामजिक एवं धार्मिक न्याय प्राप्त करने के लिए सामाजिक जीवन में कई आन्दोलन प्रारम्भ किये, जिसका मूल उद्‌देश्य आत्मसम्मान की लड़ाई में दलित समुदाय को सीधे जोड़ना था । वास्तव में दलित–शोषितों में अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर संघर्ष करने की दिशा में यह महत्वपूर्ण योगदान था । उनका सामाजशास्त्री चिन्तन उदारता, स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व पर आधारित है । जिसका सर्वोपरि लक्ष्य ऐसे समाज की स्थापना करना

है जहाँ सभी स्त्री पुरूष को शिक्षा के समान अवसर व अधिकार सुलभ हो । सभी के साथ मनोवांछित व्यवहार हो और सभी को उन्नतिशील और सर्वोकृष्ट बनाने के लिए उन्मुक्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वातावरण मिले ।

एक धर्म व्याख्याकार के रूप में, उन्होंने धर्म की भूमिका और उसकी गुणवत्ता, सामाजिक जीवन को न्यायपूर्ण बनाने के संदर्भ में आँकी । उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रत्येक धर्म को न्याय और उपयोगिता के आधार पर ही परखा जाना चाहिये । न्याय, मुक्ति, समानता और भाईचारे का दूसरा नाम ही उनके अनुसार सच्चा धर्म है । डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म द्वारा अनुप्राणित दैवीय सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व का उद्‌भाव होने के कारण उसे जन–कल्याणकारी नहीं माना । उन्होने 1956 में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया क्योंकि इसको इन्होंने वर्तमान परिस्थितियों में संसार के लिए हितकर माना । उन्होंने कहा था, "मैं बौद्ध धर्म को इसलिए प्राथमिकता देता हूँ, क्योंकि इसमें तीन ऐसे सिद्धान्त एक ही स्थान पर मिलते हैं जो किसी धर्म में नही मिलते । बौद्ध धर्म क्रांति की अपेक्षा सूझ–बूझ की शिक्षा देता है। वह करूणा, दया, प्रेम और भ्रातृत्व तथा समता सिखाता है, ये वे तत्व हैं जो अच्छे–सुखी जीवन के लिए प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है । न तो ईश्वर और न आत्मा ही मानव समाज को विनाश से बचा सकते हैं । मार्क्सवाद और कम्युनिज्म ने सम्पूर्ण विश्व की धार्मिक प्रणाली को झकझोर दिया है ।" अम्बेडकर ने वेद, पुराण, मनुस्मृति आदि संस्कृत ग्रंथों की आलोचना पूर्वाग्रह ग्रस्त होकर नहीं की है । वे मामूली आदमी नहीं थे । उनका कहना था कि, "यह सत्य है कि धर्म को सबसे खराब नमूने से नहीं, बल्कि सबसे अच्छे परिणाम से परखना चाहिये, लेकिन क्या मामला यही समाप्त हो जाता है ? मैं कहता हूँ नहीं ! प्रश्न अभी तो उठता कि सबसे खराब इतने अधिक क्यों हैं और सबसे अच्छे इतने थोड़े से क्यों ?"[1]

डा0 अम्बेडकर का आर्थिक न्याय सम्बन्धी विचारों का आधार सामाजिक, धार्मिक और नैतिक मूल्य है । उनके आर्थिक विचारधारा का प्रमुख लक्ष्य अन्याय एवं शोषण की पृवत्तियों को समाप्त कर गरीब, बेसहारा लोगों के लिए आर्थिक समानता का निर्माण करना है । मनुष्य की मूलभूत आर्थिक असमानताओं की संतुष्टि एवं सम्पूर्ति सम्पूर्ण मानवस्थिति के अंतर्गत जन्म–जाति

---

1. एच. एल. पाण्डेय – गाँधी, नेहरू, टैगोर एवं अम्बेडकर, पृष्ठ – 113

तथा धर्म के भेद—भाव के बिना होनी चाहिये । साथ ही भौतिक आवश्यकताओं तथा आध्यात्मिक उत्थान के बीच नैतिकता एवं धर्म के माध्यम से संतोष को संतुलन का केन्द्र बनाया जाये, डा0 अम्बेडकर का सम्पूर्ण दर्शन इसी मानववादी दृष्टिकोण न्यायोचित समाज की स्थापना की अनिवार्य शर्त है ।

एक राजनीतिक चिंतक के रूप में वह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जहाँ जनतांत्रिक व्यवस्था में सभी नागरिकों के समान अधिकारों की गारन्टी मिले। एक व्यक्ति एक मूल्य को लोकतंत्र का आधार बनाया जाये । एकाधिकार, सर्वसत्तावाद और मत की राजनीति को उन्होंने नकारा । राजनीतिक प्रजातंत्र की सफलता के लिए उन्होंने सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र को आधार माना । उनके राजनीतिक प्रजातंत्र में सामाजिक विषमता, ऊँच—नीच की भावना का कोई स्थान नहीं है । डा0 अम्बेडकर भारत में नायक पूजा, व्यक्तिवाद और तानाशाही के खतरों के सम्बन्ध में बहुत चिंतित थे, विशेषतः इसलिए क्योंकि भारत में भक्ति की परम्परा रही है । उन्होंने इस तरह के खतरों के प्रति कड़ी चेतावनी दी और लोकतांत्रिक मूल्यों और संस्थाओं की रक्षा करने के लिए सावधान और सतर्क रहने की आवश्यकता बताई । एक राजनीतिज्ञ के रूप में, उन्होंने सामाजिक असंगतियों और अन्यायपूर्ण स्थितियों के विरूद्ध निरंतर संघर्ष किया । एक राजनेता के रूप में, उन्होंने किसान, दलित—समुदाय के लिए काफी संघर्ष किया । उन्होंने इंडिपेडेंट लेबर पार्टी, शैडयूल कास्ट फेडरेशन, डिप्रेस्ट क्लासिज लीग आदि अनेक संगठन बनाये थे, परन्तु वे केवल एक वर्ग तक सीमित न होकर तमाम उपेक्षितों को एक मंच व स्वर प्रदान करते थे ।

एक शिक्षाशास्त्री के रूप में, डा0 अम्बेडकर ने शिक्षा को जीवन में पहला स्थान दिया। सदियों से शिक्षा से वंचित अछूतों की शिक्षा के लिए उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये । इस समुदाय के विद्यार्थियों को और प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से डा0 अम्बेडकर ने छात्रावास स्थापित किये और वहाँ छात्रों को निःशुल्क पुस्तकें एवं कपड़े उपलब्ध कराये । ऐसे छात्रावासों से इन समुदायों में प्राइमरी तथा हाईस्कूल शिक्षा को बढ़ावा देने में काफी मदद मिली । न केवल उन्होंने शिक्षण संस्थाओं का गठन किया बल्कि उन्होंने दलित समुदाय को इस बात के लिए राजी किया कि वे अपने बच्चों को शिक्षित करे । डा0 अम्बेडकर स्त्री शिक्षा पर भी जोर देते थे। मनु सिद्धान्त में बँधे हुये हिन्दू समाज में स्त्री की स्वतन्त्र अवस्था के लिए उन्होंने स्त्रियों के शिक्षित

होने पर जोर दिया ।

नारी को सम्मानीय स्थान दिलाने के लिए डा0 अम्बेडकर ने महिलाओं को सभी सामाजिक संघर्षों में शामिल किया । महाड़ सत्याग्रह में बड़ी संख्या में महिलाओं ने हिस्सा लिया। लगभग 500 महिलाओं ने सार्वजनिक तालाब में अछूतों के पानी पीने के अधिकार के लिए निकाले गये ऐतिहासिक जुलूस की अगुवाई की । जैसे–जैसे आन्दोलन बढ़ता गया और अनुभव प्राप्त करता गया, डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित एक सफल विचार विकसित किया । उन्होनें भारतीय नारी की स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति में उत्तराधिकार, तलाक, विधवा विवाह, बाल–विवाह निषेध एवं गर्भवती महिलाओं को प्रसूति अवकाश जैसे अधिकारों के लिए काफी कार्य किया । हिन्दू कोड बिल इसी दिशा में एक प्रयास था । यद्यपि शुरू में यह बिल पास नहीं हो पाया । लेकिन हिन्दू कोड बिल में डा0 अम्बेडकर द्वारा प्रस्तावित प्रावधानों में से अधिकांश बाद में 1955–56 में, हिन्दुओं पर चार विधेयकों – विवाह, विरासत, अव्यस्कता एवं अभिभावकता व निर्वाह में शामिल कर लिये गये । यह निश्चित रूप से, भारतीय नारी की सामाजिक समानता की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है ।

भारतीय संविधान की रचना डा0 अम्बेडकर का एक महत्वपूर्ण कार्य था । डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने डा0 अम्बेडकर के प्रति आभार व्यक्त करते हुये कहा था – "दूसरों की अपेक्षा मुझे इसकी कल्पना अधिक है कि मसविदा समिति ने और विशेष रूप से डा0 भीमराव अम्बेडकर ने कितनी निष्ठा, लगन और जोश के साथ इस कार्य को पूरा किया । डा0 अम्बेडकर को मसविदा समिति ने सम्मानित करके और इसके बाद उसका अध्यक्ष चुनकर हमने जो कार्य किया, उससे बढ़कर हम दूसरा अच्छा कार्य नहीं कर सकते ।" संविधान का निर्माण करते हुये भी उन्होंने भारतीय जीवन के विरोधाभास तथा असंगतियों को ध्यान में रखकर ऐसी व्यवस्था की कि जिससे विरोधाभास में समता–सूत्र स्थापित हों सकें और भेदभाव रहित समाज का निर्माण हो सके।

यहाँ एक बात और महत्वपूर्ण है कि डा0 अम्बेडकर जिन सिद्धान्तों के लिए जीवनभर लड़ते रहे, उनकी मूलभूत संविधान निर्माण के समय अवहेलना क्यों हुई ? डा0 अम्बेडकर ने 1946 के संवैधानिक प्रस्तावों में अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी । 1950 में अंगीकार किये गये भारत के संविधान में अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों एवं सामान्य जनता के हितों की सुरक्षा

के कई मूल प्रावधान शामिल नहीं किये गये । जबकि 1946 के प्रस्तावों में निजी सम्पत्ति के अधिकार को एक अहस्तांतकरणीय अधिकार की कल्पना भी नहीं की थी, भारत के संविधान में सम्पत्ति के अधिकार को एक केन्द्रीय स्थान दिया गया । दूसरी तरफ आर्थिक पुनर्निमाण के प्रावधानों को उन मूल अधिकारों में शामिल नहीं किया गया जो वादयोग्य हैं बल्कि निर्देशक सिद्धान्तों में शामिल किया गया, जो पवित्र कामनाओं से अधिक कुछ नहीं है । भारत के संविधान में उन सुरक्षा कवचों का प्रावधान नहीं किया गया जो डा0 अम्बेडकर ने अल्पमतों एंव अनुसूचित जातियों के लिए पहले प्रस्तावित किये थे । न तो वेटेज के सिद्धान्त को और न ही कैबीनेट में विशेष प्रतिनिधित्व के प्रस्ताव को संविधान में स्वीकृत किया गया ....[1]

क्या यह डा0 अम्बेडकर की राजनीतिक पराजय थी या उन्होंने अपने आदर्शों के साथ समझौता कर लिया था । पूरी जिन्दगी कांग्रेस और गाँधीजी का विरोध करने वाले डा0 अम्बेडकर ने देखा कि शक्ति का हस्तान्तरण होने वाला है तो उन्होंने कांग्रेस के नेताओं के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित कर लिया । उन्होनें यह स्वीकार किया कि प्रभावी राजनीतिक शक्ति अब कांग्रेस के हाथ में केन्द्रित होगी । यह समझौता कई स्वस्थ्य परिणाम लेकर आया । न केवल वह प्रारूप समिति के अध्यक्ष बने बल्कि उन्होंने संविधान निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य कांग्रेस की ठोस सहायता या अनुमोदन से ही पूर्ण कर पाया । यदि इस प्रकार का स्वस्थ्य सहयोगात्मक रवैया कांग्रेसी नेताओं और शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के बीच पहले हो जाता तो निश्चित रूप से – The harvest of sweet fruits of this collaboration would have been reaped by the nation.

एक अनुमोदन यह भी लगाया जा सकता है कि व्यवहारिक राजनीतिक दृष्टि से उनको कांग्रेस के भारी बहुमत के साथ चलना पड़ा जिसमें एकात्मक ढ़ांचे, संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र एवं अल्पसंख्यकों एंव दलित वर्गों के लिए वेटेज एवं गारन्टियों के बिना बहुमत शासन का पक्ष लिया । [2]

(1). कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि अम्बेडकर की राजनीतिक भूमिका क्या स्वतन्त्रता प्राप्ति के मार्ग में बाधक रही ? और क्या संकीर्ण वर्ग भेद के दायरे में उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ

---

1. थॉमस मैथ्यू, सावंत राम, अशोक भारत – क्रांति प्रतीकं अम्बेडकर, पृष्ठ – 96

2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 97

हलचल करती रहीं ?[1]

2. दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि जब महात्मा गाँधी राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान राष्ट्र के सभी लोगों को एक राष्ट्रीय नेतृत्व में संगठित करना चाहते थे तब भारतीय राष्ट्रवाद का अर्थ केवल ब्रिटिश शासन का विरोध ही नहीं था बल्कि साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एंव नस्लवाद विरोधी भी हो गया था और इस रूप में इसका उद्देश्य प्रत्येक प्रकार के शोषण के अंत का था। लेकिन डा0 अम्बेडकर ने इसमें भाग नहीं लिया ।[2]

3. There is not one instance, not one single solitary instance in which Ambedkar participated in any activity connected with that struggle to free the country . Quite the contrary at every possible turn he opposed the compaigns of the National Movement, at every setback to the movement he was among those cheering the failure . [3]

डा0 अम्बेडकर स्वाधीनता के पक्षधर थे । किन्तु वे अछूतोद्धार की समस्या को विशेष महत्व देते थे । उनका मूल उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता नहीं, दलितोद्धार था । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वतन्त्रता के इतिहास में उनका कोई योगदान नहीं था। अछूतोद्धार की समस्या भी उस समय विकराल थी और कम से कम एक समस्या से वे ईमानदारी के साथ लड़े । [4]

डा0 अम्बेडकर का राष्ट्रवाद दोहरा था । वह बाहरी शासन के साथ–साथ आन्तरिक शोषण एवं परतन्त्रता को खत्म करना चाहते थे । वे एक ओर जहाँ राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा बनाये रखने के पक्षधर थे वहीं वह सदियों से दबे–कुचले लोगों के लिए समानता और नागरिक अधिकार चाहते थे । उनका दृष्टिकोण मानवतावादी होने के साथ–साथ राष्ट्रवादी भी था । [5] उनके अनुसार राष्ट्रवाद साम्प्रदायिकतावाद नहीं है । इस देश के लोंगों के अन्दर एक हाने की भावना है । [6] उनके अनुसार जाति और वर्ण में विभक्त इस देश में राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज नहीं है । यहाँ का हर नागरिक अपनी पहचान अपनी जाति से करता है । जातियाँ

1. एच0 एल0 पाण्डेय – गाँधी नेहरू टैगोर एवं अम्बेडकर, पृष्ठ – 135
2. W. N. Kuber, Dr. Ambedkar - A critical Study, Page no. 312
3. Arun Shourie - Worshipping False Gods, Page No. - 3
4. एच0 एल0 पाण्डेय – गाँधी नेहरू टैगोर एवं अम्बेडकर, पृष्ठ – 135
5. Kusum Sharma - Ambedkar and Indian Constitution - Page No. 11
6. Ibid, Page No. 11

राष्ट्र विरोधी है । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा है – हम एक राष्ट्र है, ऐसा मानना मेरे से आत्म प्रवंचना है । हजारों जातियों में बँटे लोग एक राष्ट्र कैसे हो सकते हैं ?[1]

डा0 अम्बेडकर का यह प्रयास रहा कि देश में ही अपने देशवासियों के अधीन गुलाम बने करोड़ों अछूतों को स्वतन्त्रता, समता और भाईचारे का अधिकार दे दें ताकि देश की सम्पूर्ण जनता एक तन, एक प्राण होकर इस देश से अंग्रेजों को उखाड़ फेंके । अहमदाबाद की एक जनसभा को सम्बोधित करते हुये डा0 अम्बेडकर ने कहा "आजादी मुझे भी प्यारी है । मैं भी इस देश की आजादी चाहता हूँ । मुझे यह कहने की आज्ञा दीजिये कि लन्दन की गोलमेज सभा में आजादी के लिए जितना मैं लड़ा हूँ, झगड़ा हूँ और अंग्रेज हुकूमत की मैंने जैसी नुक्ताचीनी की है, वैसी किसी ने नहीं की । लेकिन मैं देश की आजादी से ज्यादा जरूरी अपने अछूत भाईयों की आजादी चाहता हूँ ।"[2]

डा0 अम्बेडकर का मानना था कि अगर देश स्वतन्त्र भी हो गया तो सत्ता समाज के उच्च लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जायेगी । तब देश में सामाजिक, सांस्कृतिक भेदभावों का दूर करना सम्भव नहीं होगा । उन्होंने एक देश की स्वतन्त्रता और उस देश में रहने वाले लोगों की स्वतंत्रता में स्पष्ट अन्तर किया । उनकी प्राथमिकता लोगों की स्वतन्त्रता थी ।[3] उन्होंने स्पष्ट किया कि, "It is entirely wrong to concentrate all our attention on the political independence of our country, and to forget the foremost serious problem of social and economic independence. It is suicidal to imagine that political independence necessarily means real all-sided freedom ."[4]

यही कारण रहे कि राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भूमिका गौण रही । इस प्रकार डा0 अम्बेडकर का समग्र योगदान उनकी न्याय के विस्तार के प्रयोग क्षेत्र है । जीवन के हर पक्ष की बेहतरी हेतु उन्होंने कार्य किया । इससे बिल्कुल इन्कार किया जा सकता है कि अछूतोद्धार के साथ–साथ इस देश की सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं के

---

1. बुद्धशरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, पृष्ठ – 100
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 101
3. W. N. Kuber - Dr. Ambedkar - A Critical Study, Page No. 154
4. The Times of India, Bombay, 21 March 1940

समाधान हेतु सुझाव के साथ–साथ महत्वपूर्ण कार्य किये ।

डा0 अम्बेडकर के न्याय दर्शन की प्रासंगिकता :–

डा0 अम्बेडकर का समग्र न्यायदर्शन और उसके प्रयोग क्षेत्र शोषण, अन्याय और असमानता के विरूद्ध और समाज में नवमूल्यवादी नैतिक संस्थापना के लिए था । उन्होंने अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक समस्याओं के सन्दर्भ में जो विचार एवं उन पर आधारित कार्यक्रम प्रस्तुत किये, उनकी प्रासंगिकता आज की समस्याओं के संदर्भ में निश्चित रूप से है –

लोकतन्त्र का उद्देश्य आम–आदमी को सामाजिक, आर्थिक एंव राजनीतिक न्याय प्रदान करना है । जनता द्वारा जनकल्याण हेतु गठित लोकतांत्रिक सरकार का प्रमुख उद्देश्य आम आदमी हेतु ऐसे वातावरण का सृजन करना होता है, जिसमें मानव अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। लेकिन लोकतंत्र में भी उदान्त मानवीय मूल्यों की सैद्धान्तिक गारन्टी चाहे जितनी हो इसकी सार्थकता तो तभी है जब उससे की गई अपेक्षाओं के पूरा होने की सहज सम्भावना भी दिखाई देती है । राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ–साथ आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के बिना लोकतंत्र कभी सफल नही हो सकता है । वर्तमान लोकतंत्र तभी जीवित रह सकता है ।

भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के 54–55 वर्षों बाद यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि केवल, राजनीतिक स्वतन्त्रता जनसाधारण की खुशहाली के लिए काफी नहीं होती । भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी अधिकांश बालक–बालिकाओं को न तो शिक्षित प्रशिक्षित होने का अवसर मिला है, न ही युवा होने पर कोई रोजगार मिलता है । भारत में निरक्षरों, बेरोजगारों और दरिद्रों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है । इसका ज्वलंत प्रमाण यह है कि "15 प्रतिशत आबादी जिसके अन्तर्गत राजनीतिबाज, उद्योगपति तथा सरकारी और गैर–सरकारी क्षेत्रों के संगठित कर्मचारी आते हैं, कि सम्मिलित आय कृषकों की सम्मिलित आय से अधिक है जो देश की जनसंख्या में अब भी 65 प्रतिशत है ।"[1] आर्थिक असमानता लोकतन्त्र के सफल क्रियान्वयन में अवरोधक है। डा0 अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था – "हम सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से ग्रसित इस

1. भानुप्रताप सिंह 'यह संकट हमें कहाँ ले आया हैं (लेख) उधृत – भारत का राजनीतिक संकट – सम्पादक, राजकिशोर – पृष्ठ – 26

राष्ट्र को संसदीय लोकतन्त्र रूपी राजनैतिक समानता का अस्त्र तो दे रहे हैं लेकिन समानता के लिए हमें अनगिनत अन्तर्विरोधों से लड़ना होगा और यह एक दुश्कर कार्य होगा ।"[1] भारत में लोकतन्त्र का भविष्य यर्थाथ में उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय की व्यवस्थाओं पर भी निर्भर करता है अतः सरकार को आर्थिक दशा में काफी कार्य करने होंगे ।

डा0 अम्बेडकर ने आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए श्रम की महत्वतता, काम का समान अवसर, रोजगार पाने की स्वतन्त्रता, धन का समान वितरण को आवश्यक बताया । उनके आर्थिक न्याय सम्बन्धी विचार राजकीय समाजवाद और सामाजिक लोकतन्त्र में निहित हैं। उन्होंने तर्क दिया कि, "जहाँ आर्थिक अस्थिरता है वहाँ दिक्कतें अधिक पायी जाती हैं । इसलिए राजनैतिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए यह जरूरी है इसका आधार अच्छी तरह से आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र में निहित हो । आर्थिक प्रजातन्त्र में अधिक से अधिक धन का समान वितरण असम्भव है और प्रत्येक की जीविका के लिए समान अवसर प्राप्ति हो सकती हैं ।[2]

शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो अर्थात् अपना दीपक आप बनो । डा0 अम्बेडकर के इस विचार में शिक्षा को मनुष्य की मनुष्य की दासता से मुक्ति, मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा का मूल्य मार्ग माना गया है । शिक्षा के अस्त्र को लेकर एक व्यक्ति अपने अधिकारों के संघर्ष कर सकता है । डा0 अम्बेडकर का यह सार्थक मूल्य हर युग में समाज के दबे–कुचले अधिकार विहीन लोगों का सामाजिक असमानता, शोषण एवं अत्याचार की पोषक मान्यताओं, रूढ़ियों, परम्पराओं एंव विकृत मूल्यों से लड़ने की सशक्त प्रेरणा देता रहेगा । डा0 अम्बेडकर के मूलमंत्र शिक्षित बनो, संगठित रहो तथा संघर्ष करो की क्रांतिधर्मी ज्वाला भी है और अपने आत्मगौरव, सम्मान व सुख–समृद्धि के लिए श्रम स्वेद के सुमनों की मंजुलता भी है तथा सामाजिक समानता की संजीवनी से प्रवाहित सदानीय, सरिता का जलजीवन या जीवन जल भी है ।[3] दलित चेतना और सामाजिक परिवर्तन को एक सशक्त जन–आन्दोलन का रूप तभी दिया जा सकता है, जब समाज पूर्णतः साक्षर हो ।[4]

---

1. डा0 जैन एंव डा0 फड़िया, – भारतीय शासन एंव राजनीति, पृष्ठ – 980
2. Cf. M. V. Pylee, Constitutional Government in India, (Bombay, Asia Publishing Housing 2nd Ed. 1965) Page No. 771
3. डा0 पुरूषोत्तम प्रेमी – दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृष्ठ – 77
4. रामचन्द्र – समय और सांस्कृतिक सरोकारों से बेधड़क टकराती दलित पत्रकारिता (लेख) पृष्ठ –57, उद्धृत–भारत अश्वघोष मई–जून 1998

भारतीय नारी के संदर्भ में इस मूल्य का और महत्व बढ़ जाता है । सदियों से इस देश में पिछड़ी महिला की आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास के लिए डा0 अम्बेडकर का यह विचार प्रासंगिक है । पिछले दशक में यद्यपि शहरी महिलाओं ने शिक्षा और आत्मनिर्भरता के क्षेत्र में निश्चित रूप से नई उचाईयाँ पायी हैं लेकिन ग्रामीण महिलाओं का एक बहुत बड़ा तबका आजादी के इतने दिन बाद भी अपने संघर्ष के प्रति विमुख है । शिक्षा के द्वारा ही ग्रामीण महिलायें अपनी आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास को प्राप्त कर सकती हैं ।

डा0 अम्बेडकर ने कहा था कि राष्ट्रवाद तभी औचित्य ग्रहण कर सकता है जब लोगों के बीच जाति, नस्ल या रंग का अन्तर भुलाकर उनमें सामाजिक भ्रातृत्व को सर्वोच्च स्थान दिया जाये । राष्ट्रवाद उनके मत में एक होने की भावना है । वास्तव में, अम्बेडकर का यह विचार प्रजातन्त्र की भावना के अनुकूल है क्योंकि जातिवाद जाति–प्रथा से सम्बन्धित एक भयंकर सामाजिक भावना है जिससे प्रभावित होकर लोग अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की अवहेलना और प्रायः हनन करने को तैयार हो जाते हैं । मानव–भावनाओं का एक संकुचित रूप जातिवाद प्रजातन्त्र के लिए घातक है क्योंकि यह विभिन्न जातियों को एक–दूसरे से पृथक करता है ।[1] डा0 अम्बेडकर का विचार था कि जाति–प्रथा समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि अर्न्तजातीय विवाह को प्रोत्साहित किया जाये । आज यह बात तेजी से समाज में उठ रही है कि अर्न्तजातीय विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए सामाजिक सुधार आन्दोलन तेजी से चलाये जाये ।[2]

यह सत्य है कि संवैधानिक प्रावधानों एवं प्रशासनिक प्रयासों के बावजूद हमारी अस्पृश्यता सम्बन्धी मानसिकता अभी पूर्णरूपेण नहीं बदली है । यह सामाजिक जागरण से ही सम्भव है । इस सम्बन्ध में डा0 अम्बेडकर के विचार प्रासंगिक है । उनके अनुसार, "अस्पृश्य वर्ग को उनके नागरिकता के समस्त अधिकार देने के साथ–साथ हमें प्रदूषण रहित सामाजिक वातावरण बनाना होगा । .... हिन्दू जनता के मन में ऐसी क्रांन्ति हो कि वे अपने अछूत बन्धुओं को अपना भाई मानकर समानता का व्यवहार करे । गाँवों में उन पर कोई सवर्ण सामाजिक बहिष्कार न डाले । अछूतों को सवर्ण उनकी औकात बताकर हुक्का–पानी बन्द कर

---

1. रवीन्द्र नाथ मुखर्जी – भारतीय समाज और संस्कृति, पृष्ठ – 273
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ – 273

देते है। शारीरिक यातनायें देते हैं । इसको तुरन्त बन्द कर देना चाहिये । समाज सेवा की ऐसी सेना तैयार करने को कहा जो ऐसे कामों में अछूतों की मदद करे । उनकी बाधायें दूर करे ।[1]

दलित राजनीति के समक्ष कई चुनौतियाँ हैं आज दलितों को कुर्सी पर बैठने वाले नेताओं की नहीं वरन् कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने वाले सेनानी की जरूरत है । डा0 अम्बेडकर के आदर्शों को अपनाकर ही दलित नेतृत्व सामाजिक समस्याओं और सवालों का सृजनात्मक हल निकालने में सक्षम होगा ।

डा0 अम्बेडकर का सम्पूर्ण न्याय दर्शन स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व पर आधारित है । उनकी यह धारणा भारतीय संदर्भ में प्रत्येक नागरिक के लिए एक प्रगतिशील एवं शाश्वत दर्शन प्रस्तुत करती हैं जो निश्चित रूप से प्रजातन्त्र, राष्ट्रीय एकता एवं शोषण विहीन समाज के निर्माण का सशक्त आधार प्रस्तुत करती है । इनकी उपादेयता आज के साथ–साथ आने वाले समय में बनी रहेगी ।

---

1. डा0 अनिल गजमिये, डा0 एन0 जे0 वाघमारे – भारत रत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर – विचार मंथन, खण्ड– 1, पृष्ठ – 73

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(BIBLIOGRAPHY)

Bibliography

मूल स्रोत

1. श्री मदबाल्मीकीय रामायण – प्रकाशन गोविन्द भवन कार्यालय गीता प्रेस – गोरख पुर
2. गोस्वामी तुलसी दास – श्री रामचरित मानस, प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर
3. गीतापनिषद – भगवत यथारुप, प्रकाशक भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट बम्बई
4. ईशादि नौ उपनिषद – व्याख्याकार– हरि कृष्ण दास गोयनका, प्रकाशक गोविन्द भवन, कार्यालय गीता प्रेस, गोरखपुर
5. महाभारत – हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर 1958
6. मनुस्मृति – अनुवादक – प0 ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी रणधीर प्रकाशन हरिद्वार 2002
7. कौटिल्य – अर्थशास्त्र व्याख्याकार डा0 कृष्णकान्त त्रिपाठी – प्रकशन ग्रन्थम रामबाग कानपुर 1990
8. Harald J, Laski - A Grammar of politics, George Allen & Unwin (Publishers) Ltd. London - 1978.
9. B.R. Ambedker - Annihilation of caste, Bhim patrika Prakashan Jullander 1936.
10. B.R. Ambedkar - Evalution of provincial finance in British India, P.S. King and sons Ltd., London - 1925
11. B.R. Ambedkar - Federation versus Freedom, Gokhale Institute of Politics and Economics 1939, R. K. Tatnis Bombay (1939).
12. B.R. Ambedkar - Pakistan or Partition of India, Thacker and co. Ltd.,

Bombay 1946.

13. B.R. Ambedkar - States and Minorities What are their Rights and how to Secure, them in the constitution of free India.

14. B.R. Ambedkar - Thoughts on Pakistan, thacker and Co. Ltd. Bombay. (1941)

15. B.R. Ambedkar - Thoughts on Linguistic States, Published by B.R. Ambedkar 26 Alipur Road, Civil Lines, Delhi, 1955.

16. B.R. Ambedkar - The Buddha and His Dhamma, Sidhartha college publications, Bombay (1957).

17. B.R. Ambedkar - What Congress and Gandhi have done to the Untouchables. Thacker and Co. Ltd., Bombay (1946)

18. B.R. Ambedkar - Communal deadlock and away to solve it, Address on may 6, 1945 Bheem Patrika Prakashan, Jullundur City.

19. B.R. Ambedkar - On Poona pact, Bheem patrika prakashan Jullunder.

20. B.R. Ambedkar - Ranade, Gandhi and Jinnah (1943).

21. B.R. Ambedkar - Buddha and Karl Marx, Published by M. D. Panchbhai, Nagpur, 1964.

22. B.R. Ambedkar - Buddha and the Future of his religion, Bheem Patrika Publication, Jullunder (1980).

23. B.R. Ambedkar - The Untauchables- who are they and why they became untauchables ? (Amrit Book Co, New Delhi, 1948).

24. Dr. Baba Sahab Ambedkar - Riddles in Hinduism .

25. B. R. Ambedkar - My Personal Philosophy, 1956

26. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय –खण्ड–2

सम्पादक — प्रकाशन वर्ष

श्याम सिंह शशि — अम्बेडकर प्रतिष्ठान कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार नई दिल्ली–1 नवम्बर 1993।

27. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड 3
डा0 श्याम सिंह शशि
डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार
नई दिल्ली मार्च 1994

28. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाङ्मय – खण्ड 4
श्याम सिंह शशि
डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार
नई दिल्ली मार्च 1994

29. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाङ्मय – खण्ड 5
श्याम सिंह शशि
डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मन्त्रालय भारत
सरकार नई दिल्ली 1994

30. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय – खण्ड–6
श्री कैलाशचन्द्र सेठ
डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार
नई दिल्ली 1994

31. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड – 7
श्री कैलाश चन्द्र सेठ
श्री मोहनदास
डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली 1995

32. बाबा साहब डा0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड–8
कैलाशचन्द्र सेठ, श्री मोहन दास नैमिशराय
डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली 1995

33. बाबा साहेब डा0 अम्बेडकर - सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड–9
श्री कैलाश चन्द्र सेठ डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान
कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार
नई दिल्ली, अक्टूबर 1996

34. Government of Maharashtra, Dr. Babasaheb Ambedker writings and speeches Vol. 1, 1979.

35. Government of Maharashtra, Dr, Babasaheb Ambedker writings and speeches Vol. 2, 1982.

36. Government of Maharashtra, Dr, Babasaheb Ambedker writings and speeches Vol. 3, 1987 .

37. Government of Maharashtra, Dr. Babasaheb Ambedker wrihngs and speeches Vol. 6 1989 .

द्वितीय स्त्रोत :–

1. डा0 अंगने लाल – बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडकर जीवन और दर्शन – प्रकाशन– सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ

2. डा0 अनिल गजमिये, डा0 एन. जे. वाघमारे – भारतरत्न डा0 बाबा साहब अम्बेडकर विचार मन्थन खण्ड–1, प्रकाशन – शासकीय कला वाणिज्य विधि महाविद्यालय इन्दौर, (म.प्र.) 1994

3. Arun Shourie - Worshipping False Gods, Published by ASA Publication New, Delhi - 1997 .

4. A. L. Basham - The Wonder that was India, Rupa & Co. Calcutta, 1971.

5. बुद्ध शरण हंस – डा0 अम्बेडकर के विचार, प्रकाशक – अम्बेडकर मिशन, पटना

6. बसन्तमून – डा0 बाबा साहब अम्बेडकर, अनुवादक – प्रशान्त पाण्डेय, प्रकाशक – नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया नई दिल्ली – 1991

7. B.N. Ganguli - Indian Economic Thought, Tata Macrrew Hill, 1977

8. Bhagwan Das (E.D.) - Thus Spoke Ambedkar - selected speeches of Dr. Baba Saheb Ambedker.

9. C. Rajgopalchari - Ambedker Refuted, Hind kitab publishers, Bombay (1946)

10. C. B. Khairmody - Bhimrao Ramji Ambedker. A Biography Vol. I-IV Bharat Bhusan Printing Press, Bombay, 1929.

11. Chandra Brail - Social and political Ideas of B.R. Ambedker, Alkh Publishers, Jaipur, 1977.

12. Chandrika Prasad Jayasu - Baba sahib ka Jewan sangram, Lucknow - 1965.

13. डा0 डी.आर. जाटव – डा0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, प्रकाशक शकुन्तला जातक समता साहित्य सदन, जयपुर – 1996

14. डा0 डी.आर. जाटव – डा0 अम्बेडकर का मानववादी चिन्तन, प्रकाशन समता साहित्य सदन, जयपुर

15. दुर्गा दास बसु – भारत का संविधान एक परिचय Publised by - Practice - Hall of India private Limited - 1994.

16. धनजंय कीर – डा0 .अम्बेडकर लाईफ एण्ड मिशन बाम्बे पोपुलर प्रकाशन 1971

17. डी. सी. अहीर – लीगेसी ऑफ अम्बेडकर, दिल्ली – 1990

18. D. R. Jatav - The Political Philosophy of Dr. Ambedker, Phoenix publishing Agency, Agra - 1965.

19. D. C. Ahir - Dr. Ambedker and the Constitution, Buddha Vihar Lucknow (1973)

20. डा0 धर्मवीर – डा0 अम्बेडकर और दलित आन्दोलन, शेष साहित्य प्रकाशन दिल्ली

21. G. S. Lokande - Bhimrao Ramji Ambedker a study in Social Democracy Sterling Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1977

22. G. S. Ghurya - Caste ard Class in India, Popular Book Depot, Bombay - 1957

23. एच. एल. पाण्डेय – गांधी नेहरू टैगौर एवं अम्बेडकर प्रकाशन – प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

24. जे. सी. जौहरी, आर. के. पुरवार – भारतीय शासन और राजनीति विशाल पब्लीकेशन्स, दिल्ली।

25. जय प्रकाश कर्दम – दलित साहित्य 1999 अतिश प्रकाशन . 2001

26. डा0 जय दयाल सक्सेना – भारत की पौराणिक कथायें,प्रकाशक – किताब महल, इलाहाबाद 1998.

27- Jeanetle Robin - Dr. Ambedker and His Movement, Dr. Ambedker publication society Hyderabad-1964.

28- J.E. Sanjana - Caste and Out Caste, Thacker & Co. Ltd. Bombay 1946.

29- K.N. Kadam - Dr. Babasaheb Ambedkar and the signigficance of his move ment A chronalogy- Bombay Popular Prakashan - 1993.

30- K.N. Kadam - Dr. B.R. Ambedkar, the emancipator of the oppressed Popular Prakashan Bombay.

31. डा0 कालीचरण स्नेही – भारत रत्न डा0 भीमराव अम्बेडकर प्रकाशन–आराधना ब्रदर्स कानपुर 1997

34. कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, प्रकाशक यूनाइटेड बुक डिपो इलाहाबाद – 1994

35. K. Iyer - Ambedker Memorial lectures 1976.

36-K- Santhanam - Ambedker's Attack (The Hindustan Press, New Delhi, 1946)

35. के. एन. वर्मा – पाश्चात्य राजनीतिक विचार धारायें भाग–2 (बेन्थम से वर्तमान काल तक) प्रकाशन रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ : 1986–87

36- एल. पी. शर्मा – मध्यकालीन भारत (1000 ए.डी.–1761 ए.डी.) प्रकाशक – लक्ष्मी नारायण अग्रवाल – आगरा 2002

37- मधु लिमेय – डा0 अम्बेडकर एक चिन्तन

38- M.G. Bhagat - Untouchables Classes of Maharashtra (1942)

39- M.P. Jain - Political Theory Publeshed by Miss Geeta from 50-90 veshakha Enclave, Delhi-1985.

40- Narendra Jadhav - Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy. Popular Prakarhan Pvt. Ltd.- Bombay.

41. ओ.पी. गावा – राजनीति शास्त्र की रूपरेखा–नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली–1990

42- पंत गुप्ता, जैन – राजनीति शास्त्र के आधार

43. डा0 पुखराज जैन, डा0 बी. एल. फडिया – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त

44- Patwardhan and Ambedker, Speeches and writings of G.K. Gokhale, Asia Publishing House, Bombay.

45- डा0 पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी – दलित साहित्य और सामाजिक न्याय प्रकाशक समता प्रकाशन दिल्ली 1997 ।

42. डा0 राजेन्द्र मोहन भटनागर – डा0 अम्बेडकर जीवन और दर्शन प्रकाशक – किताब घर दरियागंज, नई दिल्ली–1992

43. राजकिशोर – आज के प्रश्न–हरिजन से दलित वाणी प्रकाशन नई दिल्ली

44. डा. रामस्वरूप संखवार – अम्बेडकर का जीवन चरित्र प्रकाशक – डा0 रामस्वरूप संखवार झींझक (कानपुर देहात)

45. राजकिशोर – आज के प्रश्न–8 भारत का राजनीतिक संकट, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली

46. राजकिशोर – आज के प्रश्न 13, जाति का जहर, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली

47. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी – भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन दिल्ली 1993

48. रामचन्द्र बनौधा – अम्बेडकर का जीवन संघर्ष, इलाहाबाद 1947

49. रमेशचन्द्र मजूमदार, हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिंकिकर दत्त – भारत का वृहत इतिहास प्राचीन भारत, Published by S.G. Wasani for Macmillan India Limited - Madras 1970

50. R. S. Sharma - Shudras in Ancient India (Motilal Banarasidas Delhi, 1958).

51. शंकरानन्द शास्त्री – युग पुरूष बाबा साहेब डा0 भीमराव अम्बेडकर जीवन संघर्ष एवं राष्ट्र सेवायें, प्रकाशक– बाबासाहेब डा0 बी.आर. अम्बेडकर रिसर्च इंस्टीट्यूट (इंडिया) नई दिल्ली।

52- S.S. Kharat - Baba Saheb Ambedker, Thokal Prakashan, Poona 1916

53- Shanti Deva and C.M. Wagh - Dr. Ambedker and conversion (Dr. Ambedker Publications. Society, Hyderabad, 1965).

54- Shankaranand Shastri - My Memories & Experiences of Babasaheb Dr. B.R. Ambedker Smt. S. Shastri, Ghajiabad (1989)

55- Surendra Adnyat - Buddha, Ambedker our Dhammapada Buddhist Publishing House (P) Ltd. Jalandhar (1983)

56- एस.पी. वर्मा – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि० नई दिल्ली।

57. सुषमा यादव, राम अवतार शर्मा – भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न–हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय – दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

58. विपिन चन्द्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, क. न. पनिकर, सुचेता महाजन– भारत का स्वतंत्रता संघर्ष प्रकाशन–हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय – 1994

59. विश्व प्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता –भीमराव अम्बेडकर व्यक्ति और विचार – राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली–1997

60. V.T. Rajshekar - Ambedker and His conversion, Dalit Sahitya Academy, Bangalor, 2nd Ed. 1980.

61. विजय कुमार पुजारी– डा० बाबा साहेब अम्बेडकर समता प्रकाशन नागपुर–1999

62. विद्याधर महाजन – मध्यकालीन भारत (1000 ई० से 1761 ई० तक) प्रकाशन एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी लि० नई दिल्ली 1990

63- W.N. Kuber - Dr. Ambedker - A critical Study People's Publishing House New Delhi - 1973.

वर्ष पत्रिकायें और लेख –

1990 (अप्रैल) – असली भारत – सम्पादक – अजय सिंह

लेख – 1. दलितोद्धार में सामाजिक संगठनों की भूमिका – मोहनदास नैमिशराय

2. समता का स्वप्न और दलित आन्दोलन की दिशा– डा० मस्तराम कपूर

3. दलित चेतना के विविध आयाम – रमेश कुमार सिंह

4. अम्बेडकर और धर्म परिवर्तन – मधु लिमये

5. दलित दुर्दशा के मूल बिन्दु – उपेन्द्र बाजपेयी

1996– दलित लिबरेशन टुडे (नवम्बर) सम्पादक–वेद कुमार

लेख – 1. धर्मान्तर पलायन नहीं है–भीमराव अम्बेडकर

2. दलित राजनीति की समस्याएं – अविनाशचन्द्र गोचर

1997 – दलित लिबरेशन टुडे (मई) सम्पादक–वेद कुमार (बौद्ध धर्म विशेषांक)

लेख – 1. बौद्ध धर्म के अभिनव व्याख्याता भीमराव जी अम्बेडकर – बुद्ध प्रकाश

2. डा0 अम्बेडकर का धार्मिक दर्शन – एस0 आर0 दारापुरी

1998 – भारत अश्वघोष (मार्च, अप्रैल) सम्पादक – डा0 तुलसीराम

लेख – 1. डा0 अम्बेडकर – राहुल सांकृत्यायन

2. अपनी रचनाओं में बाबा साहब अम्बेडकर – डा0 तुलसीराम

3. दलित साहित्य और डा0 अम्बेडकर – रामकुमार करौतिया

4. कल के वैज्ञानिक आज के दलित – डा0 जयदयाल सक्सेना

5. क्या आरक्षण नीति देश के लिये घातक है। – गामाराम

1998 – भारत अश्वघोष (अक्टूबर) सम्पादक तुलसीराम

लेख – (1) गीता : वैज्ञानिक विवेचन – डा0 जयदयाल सक्सेना

(2) नेतृत्व विहीन दलित – गामाराम

(3) दलित चेतना – डा0 शत्रुघन कुमार

(4) राष्ट्रपति का साक्षात्कार और दलित राजनीति – मणि शेखर

दलित लिबरेशन टुडे (अक्टूबर–नवम्बर) सम्पादक – वेदकुमार

लेख (1) आजादी के 50 साल बाद भी दलित मानवीय अधिकारों से वंचित – एस0 एल0 विरदी

(2) Buddhism - Bhagwandas

1999 – सत्यशोधक संवाद (मई) सम्पादक – बृजबिहारी

लेख (1) इक्कीसवीं सदी में दलित – प्रो0 एस.के0 थोरात

(2) मण्डल आयोग के 10 साल अति पिछड़ों का बुराहाल –चन्द्रभान प्रसाद

(3) अम्बेडकरवाद मार्क्सवाद की चुनौतिया – सी.बी. सिंह

1999 – दलित लिबरेशन टुडे (अप्रेल–मई) सम्पादक–वेदकुमार

लेख – (1) छुआछूत के खिलाफ एक ऐतिहासिक संघर्ष – आर0 कृष्ण कुमार

(2) दलितों को कमजोर करने की साजिश – अविनाश चन्द्र गोचर

(3) बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर, एक अर्थशास्त्री – अशोक भारती

भारत अश्वघोष (जून–जुलाई) सम्पादक – तुलसीराम

लेख – (1) धर्म परिवर्तन पर दलित विचारकों का दृष्टिकोण – डा0 अरविन्द श्रीवास्तव

(2) दलितों की एकता सामूहिक बौद्ध धर्मान्तरण से ही सम्भव है – अ.ला. उके

2002 – अम्बेडकर इन इण्डिया, (अगस्त) सम्पादक – दयानाथ निगम

लेख – (1) 21वीं सदी में दलित आंदोलन के समक्ष चुनौतियाँ – डा0 जय प्रकाश कदम

(2) ब0स0पा0 की गठबन्धन राजनीतियाँ – विनोद जाटव

(3) स्त्री स्वतंत्रता पर अम्बेडकर के विचार – आर0 पी0 राम

(4) स्वतंत्रता संग्राम में डा0 अम्बेडकर की भूमिका – डा0 रामनाथ (पूर्व कुलपति)

समाचार पत्र

1. नवभारत टाइम्स, 26 अगस्त 1990 (लेख) मुद्दा नौकरी नहीं, सम्मान है – सुरेन्द्र प्रताप सिंह
2. संडे आब्जर्वर, 16 सितम्बर 1990 (लेख) जातिविहीन समाज की तरफ ऐतिहासिक कदम – मस्तराम कपूर
3. संडे मेल, 14 अक्टूबर 1990, (लेख) आरक्षण – सुरेन्द्र मोहन
4. नवभारत टाईम्स, 16 सितम्बर 1990, (लेख) आरक्षण की सीमा नहीं
5. संडे मेल, 14 अक्टूबर 1990 (लेख) राजनीतिक स्वार्थों का शिकार बना बौद्ध धर्म
6. संडे आब्जर्वर, 19 – 25 अप्रैल, 1991 (लेख) दलित राजनीति – राजकुमार सिंह
7. हिन्दुस्तान, 10 मई 1992 (लेख) आरक्षण का आधार – सर्वानुमति, कितनी दूर – बृजेश राकेश
8. स्वतंत्र भारत, 14 अप्रैल 1996 (लेख) जातिविहीन हिन्दू समाज ही अपनी रक्षा करने की ताकत पायेगा – डा0 भीमराव अम्बेडकर

9. The Pioneer, 1st September 1999 (Essay) Social Status - Chandrabhan Prashad
10. The Pioneer, 3 May 2000 (Essay) The Verna, Offensive - Chandrabhan Prashad
11. The Pioneer, 2000 (Essay) The Search of Justice - K. S. Chauhan
12. अमर उजाला, 20 जनवरी 2001 (लेख) अम्बेडकर की विरासत के कुछ सच – राजकिशोर
13. दैनिक जागरण, 6 जून 2001 (लेख) सामाजिक न्याय की सफलता का उपाय – भरत झुंझुनवाला
14. The Pioneer, 18th Jan. 2001, (Essay) Caste aside - Chandrabhan Prashad
15. The Pioneer, 1st Feb. 2001 (Essay) In a State of neglect and Optathy - Chandrabhan Prashad
16. दैनिक जागरण, 9 अक्टूबर 2002, (लेख) दलित राजनीति की दुर्दशा – कुलदीप नैय्यर
(लेख) विकास में बाधक बना लोकतंत्र – भरत झुंझुनवाला
17. राष्ट्रीय सहारा, 16 मार्च, 5 अप्रैल 2002 (लेख) दूसरी गुलामी से बचने के लिए – चन्द्रभान प्रसाद
(लेख) दलितों में बेरहम तबका – चन्द्रभान प्रसाद
18. हिन्दुस्तान, 17 जुलाई, 6 दिसम्बर 2002 (लेख) अम्बेडकर और आज का दलित आन्दोलन – डा0 महेन्द्र प्रताप राना
(लेख) बासी भात में खुदा का साँझा – डा0 शिवराज सिंह बैचेन
19. दैनिक जागरण, 12 दिसम्बर 2002 (लेख), दलित हितों की विचित्र राजनीति – सुभाषिनी अली
20. The Bhopal Documents - 2002, (Publication) Govt. of Madhya Pradesh
Development of Scheduled castes & Scheduled Tribes (Publication) Govt. of Madhya Pradesh